साहित्यानुशीलन

लेखक

शिवदानसिंह चौहान

१९५५

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

वक्तव्य

'साहित्यानुशीलन' मे ३८ नये-पुराने निबन्धो का सग्रह है जो समय-समय पर अन्यान्य पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहे है। प्रस्तुत पुस्तक मे इन्हे दो भागो मे सकलित किया गया है। पहले भाग मे हिन्दी, काश्मीरी और चीनी साहित्य सम्बन्धी निबन्ध है। केवल दो निबन्ध ही किंचित भिन्न कोटि के है, विशेषकर 'प्रकृति-धाम काश्मीर' का साहित्य से सीधा या प्रच्छन्न कैसा भी सम्बन्ध नही है। ऐसा होते हुए भी प्राय सभी पाठको का उसमे रुचि होगी, क्योकि काश्मीर की सस्कृति के प्रति ही नही, वहा के प्राकृतिक सौन्दर्य और भूगोल के प्रति भी सहस्रो वर्ष पुरानी मनुष्य की जिज्ञासा ज्यों की त्यो बनी हुई है। बल्कि यातायात की नयी साधन-सुविधाओ और इस विशिष्ट प्रदेश में होने वाली सामयिक घटनाओ ने इस जिज्ञासा को अधिक तीव्र और काश्मीर-यात्रा को अधिक सुगम-सुलभ बना दिया है। अत इस सग्रह मे असगत दिखते हुए भी इस निबन्ध का अपना औचित्य है।

दूसरा समीक्षा-भाग है, जिसमे साहित्य की उन कृतियों की समीक्षाएँ है, जो आवश्यकतावश समय-समय पर लिखी जाती रही है।

इन निबन्धो और समीक्षाओ के बारे मे एक चेतावनी अपेक्षित है—कि किसी पूर्व-निश्चित योजना या क्रम के अनुसार ये सब नही लिखे गये। विषय-सूची से ही इतना तो स्पष्ट हो जायगा। प्रारम्भ से ही सास्कृतिक-राजनीतिक आन्दोलनो मे भाग लेते रहने के कारण मै अब तक सौभाग्य या दुर्भाग्य से वस्तुत एक खानाबदोश की-सी जिन्दगी बिताने को ही विवश रहा हूँ। ऐसे मे, किसी पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार एक समय मे, एक ही स्थान पर जम कर लिखने की कल्पना भी असम्भव रही है, जिससे विभिन्न परिस्थितियों मे हमारे साहित्य के सामने जो समस्याएँ उठती गयी या जिन पुस्तको की समीक्षा का आग्रह टालना सम्भव न हुआ, उन पर ही लिखने-लिखाने का समय निकाल पाया हू। लेखो के अन्त मे दिये गये रचना-काल से इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

वैसे तो आलोचनात्मक निबन्धो का कोई भी सग्रह इस अर्थ मे सपूर्ण नही हो सकता कि उसमे साहित्य की सभी प्रवृत्तियो, समस्याओ और श्रेष्ठ कृतियो का विवेचन-मूल्याकन हो, किन्तु फिर भी मै प्रस्तुत सग्रह की अपूर्णताओ के प्रति पूरी तरह सचेत हूँ। साहित्यकार और पाठक सभी की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि किसी भी ऐसे महत्त्वपूर्ण सग्रह मे कम-से-कम साहित्य की प्रमुख विचारधाराओं और

उन उल्लेखनीय कृतियो का विवेचन अवश्य रहे जो लोक-प्रिय हो गई है या जिन्हे लोक-प्रिय बनाना ज़रूरी है। इस दृष्टि से उन्हे इस सग्रह का समीक्षा-भाग विशेष रूप से अपूर्ण लगेगा, एकागी चाहे न लगे। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण लेखक और श्रेष्ठ कृतियॉ छूट गई है—किसी पक्षपात के कारण नही, बल्कि इस कारण कि बहुत कुछ चाहकर भी उन पर अलग से लिखने का अवकाश नही मिला। किन्तु फिर भी यह भाग उतना अपूर्ण नही, जितना पहली दृष्टि मे दीखता है। जितनी कृतियों की समीक्षाएँ यहाँ है, वे हर मेल और प्रवृत्ति की हैं। उन्हे पढकर पाठको को साहित्य के मूल्याकन की एक वैज्ञानिक किन्तु रसज्ञ दृष्टि और पद्धति का ज्ञान अवश्य हो जायगा और एक सीमा तक उनका साहित्य-बोध भी गहरा और व्यापक होगा, जिसका प्रयोग वे अन्य कृतियो के मूल्याकन मे स्वय कर सकेगे। लेखक को इतना ही अभीष्ट है।

१८६ आर, न्यू कॉलोनी
रोहतक (पू० पजाब)
२६ जनवरी, १९५५

शिवदानसिंह चौहान

विषय-सूची

अनुक्रम | पृष्ठ

१. साहित्य

२. मूल्यांकन

साहित्यानुशीलन

भाग १

साहित्य

१

साहित्य की परख

साहित्य या कला के मूल्यांकन के लिए एक वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र और पद्धति के निर्माण का प्रश्न केवल साहित्यालोचकों के लिए ही नहीं, वरन् प्रत्येक पाठक, दृष्टा या श्रोता के लिए भी प्रासंगिक और सारपूर्ण है। परन्तु वत्सराज भणौत ने अपने निबन्ध 'कला-समीक्षा और पूर्वग्रह'[1] में जो सापेक्षतामूलक स्थापना की है, उसे यदि सत्य और विश्वसनीय मान लें तो पाठक- दृष्टा या श्रोता को निर्विकल्प भाव से पूर्वग्रही (प्रेजुडिस्ड) होना चाहिए और उसे कला के समीक्षकों द्वारा निरूपित मान-मूल्यों से अवगत होने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः वत्सराज भणौत के अनुसार कला या साहित्य के सामान्य मान-मूल्य निर्धारित करने का कार्य आलोचक का भी नहीं है, प्रत्युत कलाकार, आलोचक, पाठक (दृष्टा या श्रोता) इन सभी को अनिवार्यतः पूर्वग्रही होना चाहिए। अतः यह ईप्सित नहीं होना चाहिए कि किसी कलाकृति में सन्निहित अनुभव की पूर्ण अनुभूति के लिए आलोचक अपनी समीक्षा द्वारा उस अनुभव की पुनर्सृष्टि करे और पाठक अपने व्यक्तिगत अनुभव की अपेक्षा में आलोचक द्वारा उद्घाटित कलाकृति के गूढ मन्तव्यों, सौन्दर्य-तत्त्वों और जीवन-सत्यों का चेतनाप्रेरक और स्वास्थ्यदायक अनुभव ग्रहण करे। मात्र सापेक्षतामूलक समालोचना-दृष्टि ऐसे ही एकाकी प्रवादों को जन्म देती है।

परन्तु 'पूर्वग्रह' साहित्य या कला के मूल्य का आधार नहीं बन सकता। साहित्य या कला मनुष्य की सस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार-भाग है। केवल इतना ही नहीं, युग-युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो मौलिक प्रगतिमूलक क्रिया प्रतिक्रियात्मक सघर्ष अनवरत् चलता आया है और चलता जायगा, और जिसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है, और मनुष्य का पूर्ण

१, देखिये 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' भाग २।

आत्म-विकास सम्भाव्य बना है—इस महान् संघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामंजस्य और वर्ग-वैषम्य का विरोध करके उसने नित-नूतन जीवनप्रद सन्तुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है—इस समस्त मानवीय कृतित्व और तज्जनित मानव-मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन और अवचेतन चेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव कला और साहित्य मे अपनी विशिष्ट मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिबिम्बित है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनो की भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-नव निर्माण प्रयोजनीय है, वैसे ही हर युग में उसके व्यापक मानव-मूल्यो का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।

फ्रॉयड के मनस्तत्व विश्लेषण-शास्त्र की दृष्टि से 'सस्कृति और साहित्य' की समस्या पर विचार करने वाले 'अज्ञेय' भी इस बात के समर्थक है कि मनुष्य की 'चेतना का सस्कार' करने के लिए एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए। यद्यपि मनुष्य के भौतिक जीवन की उन्नति और यन्त्र-साधनो के अपरिसीमित विकास से किंचित त्रस्त होकर वे एल्डूस हक्सले के 'नूतन रहस्यवाद' के रूप में 'चेतना का सस्कार' करना चाहते है, और 'सस्कृति की रक्षा' के लिए जिस 'आलोचक राष्ट्र का निर्माण' करना चाहते है, उसके निश्चित साध्य और साधन, उद्देश्य और कार्यक्रम का सिर-पैर अज्ञात है, परन्तु उनकी तर्क-प्रणाली और विचारधारा चाहे कितनी निरर्थक और सारहीन क्यो न हो, उनका 'चेतना के संस्कार' का आग्रह कोरा आवेगपूर्ण उच्छ्वास नही है। वह व्यक्ति और समाज के एक मूलभूत असामंजस्य की ओर सकेत करता है, जिसका निराकरण करने की विधि, सम्भव है, 'अज्ञेय' के अनुमान से कही अधिक व्यापक व्यक्ति-समाज की सयुक्त चेष्टा का आह्वान करेगी।

अतः आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ गया है। प्रश्न केवल 'सस्कृति की रक्षा' का ही नही है, बल्कि प्रश्न नयी सस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति और यन्त्र-साधनो के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व, आत्मा या व्यक्तित्व के प्रतिपक्षी के रूप में देखना—गत वर्षो के भयकर विध्वस और नैतिक अध पतन से चाहे उदारचेता विचारको और दार्शनिको के समस्त आशामय स्वप्न छिन्न-भिन्न क्यो न हो गये हो—मनुष्य के अब तक के कृतित्व, उसकी रक्त-स्वेद बहाकर अर्जित सफलताओ को नकारना है और सस्कृति के वास्तविक प्रश्न से विमुख होना है। क्योकि मनुष्य की भौतिक [वैज्ञानिक] उन्नति को मिटाकर सस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नही किया जा सकता। 'नूतन रहस्यवाद' अपनी अन्तिम परिणति मे 'अबुद्धिवाद' और 'अन्धविश्वास' का ही पर्याय बन जाता है, इतना तो साधारणतया अनुमेय है। वास्तव में सस्कृति का प्रश्न नये जनवादी समाज

के निर्माण का प्रश्न है जिसमें केवल आर्थिक शोषण और विज्ञान और यन्त्रसाधनों के मानव-संहारी प्रयोग [या दुरुपयोग] का बन्द करना ही चरम लक्ष्य नही है। अलङ्कारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक शोषण और साम्राज्यवाद को मिटाकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक सम्बन्ध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायगा, अर्थात् वह ऐसी संस्कृति होगी जो व्यक्ति के पूर्ण आत्म-विकास या आत्म-सिद्धि का सहज साधन-उपकरण बन सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनो के जीवन को समृद्ध बना सके। व्यक्ति की दृष्टि से नये जनवाद या समाजवाद का यही अन्तिम लक्ष्य है।[1] हम आज संक्रान्ति-काल में रहते हो या 'अज्ञेय' द्वारा निर्दिष्ट 'बढते हुए संघर्ष के युग' में, इस सूक्ष्म विभेद से, अन्तत, हमारी सांस्कृतिक समस्या में कोई मौलिक अन्तर नही पडता, क्योकि यह बढता हुआ संघर्ष, अहेतुक और निरुद्देश्य नहीं है। यदि इतना प्रत्यक्ष है तो यह भी स्पष्ट है कि आज का बढता हुआ संघर्ष किसी विशिष्ट संक्रान्ति-युग की परिकल्पना करके ही हो रहा है। इस कारण वर्तमान और निकटवर्ती भविष्य की सांस्कृतिक समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध है।

इस बात को और स्पष्ट करके यों कह सकते है कि आज के संघर्ष-युग से नये जनवाद या समाजवाद के निर्माण-युग तक के अन्तरावकाश की सास्कृतिक समस्याएँ एक सूत्र में बँधी हुई है। वर्तमान के सघर्ष में जनवादी शक्तियो को अपना समर्थन और सहयोग देने के अतिरिक्त प्रत्येक सृजनकर्त्ता और विशेषकर साहित्यकार और आलोचक के लिए यह काल उन मानव-मूल्यो के निरूपण और समन्वय का है जो एक व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का मूलाधार बन सके। व्यक्ति की चेतना के संस्कार, उसकी प्रतिभा के सर्वाङ्गीण विकास और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए एक ऐसे व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योकि नये शोषण-मुक्त आर्थिक सम्बन्धो का उद्देश्य मनुष्य की क्षुधा-काम की वृत्तियो को ऊपर से सन्तुष्ट करना ही नही होगा, बल्कि समाज को मानवीय और सास्कृतिक बनाकर व्यक्ति की आत्मा को परितोष और रचनात्मक प्रेरणा देना होगा। इस वैज्ञानिक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Scientific Social Aesthetic) की अवधारणा कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवन-सत्य द्वारा निरूपित मानव-मूल्यो से ही हो सकेगी। अतः कला और साहित्य को जन-सुलभ

---

१ मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' मे ऐसे ही समाज के लिए संघर्ष करने की माँग की है जिसमे "The full development of each will be a condition for the full and free development of all."

बनाने वाली शिक्षण-नीति का प्रश्न भी इससे सम्बद्ध है, यह भी प्रत्यक्ष है। कला-समीक्षा का कार्य-क्षेत्र अब 'नीर-क्षीर-विवेचन' तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है, कला और जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करना है, उसके सौन्दर्य-मूल्यो का निरूपण करना है तथा कला और साहित्य—इन विषयो की ऐसी शिक्षण-नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनमे व्यक्त मानव-मूल्य अनुभाव्य बन सकें जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र समाज के निर्माण-संघर्ष मे स्वयं को भी मुक्त कर सके अर्थात् स्वय अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी कर सके।

वर्तमान हिन्दी-आलोचना का दृष्टिकोण क्या इतना व्यापक है ?

प्रारम्भ में ही यह बता देना आवश्यक है कि हिन्दी-आलोचना नगण्य नहीं है और न उसमे उच्चकोटि के आलोचको का अभाव है। फिर भी अभी तक उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसकी तुलना गवैयो की ऐसी मण्डली से की जा सकती है जो स्वरसामजस्य की अवहेलना करके 'अपनी डफली, अपना राग' अलापने मे ही मस्त रहती हो। तात्पर्य यह है कि अभी तक कला-साहित्य के ऐसे सामान्य मान-मूल्य सर्व-स्वीकृत नही हो पाये है, जिनका प्रयोग मूल्याकन करते समय अधिकांश आलोचक करते हो। देखा जाय तो पूँजीवादी देशो में ऐसी स्थिति हर भाषा के साहित्य में मिलेगी, यद्यपि इधर अंग्रेजी, अमरीकी और फ्रासीसी साहित्य में गम्भीर विचारको की ओर से ऐसी व्यापक समन्विति की ओर सचेत चेष्टा का आरम्भ हो गया है। हिन्दी में भी वर्तमान अराजकता से ऊबकर बाबू गुलाबराय, 'अज्ञेय' और दो एक अन्य समालोचको ने कई बार विभिन्न प्रवृत्तियो के समन्वय की माँग की है और इस दिशा में थोड़ा-सा प्रयत्न भी किया है। परन्तु यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पडा है, क्योकि समन्वय भी किसी वैज्ञानिक जीवन-दर्शन के आधार पर ही किया जा सकता है। दुर्भाग्य से ऐसे वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की उपलब्धि इन महानुभावों को नहीं हो सकी है।

हिन्दी-आलोचना की जिन विभिन्न प्रवृत्तियो की ओर मैने अभी संकेत किया है, उनको हम चार दृष्टि-साम्यमूलक वर्गों या प्रवृत्तियो में बाँट सकते है। पहला वर्ग उन आचार्यों और अध्यापको का है जो पुराने ढर्रे की शास्त्रीय आलोचना की लकीर अभी तक पीटते जा रहे है। एक बडी सीमा तक आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा ही किया। निस्सन्देह उनकी गणना सदा युगविधायक आलोचको में की जायगी। उन्होने प्राचीन लक्षण-ग्रन्थो की परम्परा को पुनः खोज निकाला और उसके आधार पर साहित्य-सिद्धान्तो की सांगोपाग व्याख्या की। अपने आलोचना-सिद्धान्तो को आधुनिकता की पुट देने के लिए शुक्ल जी ने प्रवृत्ति-निरूपक मनोविज्ञान (Faculty Psychology)

का आश्रय लिया, परन्तु इसी से उनके आलोचना-सिद्धान्तो की संकुचित सीमाएँ भी निर्दिष्ट हो गईं। शुक्ल जी द्वारा की गई परिष्कृति के अनन्तर भी आधुनिक दृष्टि-प्राप्त आलोचको को यह स्वीकार नहीं हो रहा है कि आलोचना को केवल शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलङ्कार की पद्धतियो तक ही सीमित रखा जाय। इसका मुख्य कारण यह है कि शुक्ल जी एक अवैज्ञानिक, आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा मे साहित्य-सिद्धान्तो की मीमांसा कर गये है। आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology), मानव-शास्त्र (Anthropology) और द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन (Dialectical Materialism) के कला-सम्बन्धी अन्वेषणो-स्थापनाओं का उन्होने सार ग्रहण नही किया।

इसके विपरीत, प्रत्येक मानव-क्रिया, भाव-दशा और रुचि के मूल में एक-एक स्थायी प्रेरक प्रवृत्ति को बिठाकर उन्होने साहित्य की परिकल्पना को एक स्थिर (Static) विचारधारा में जकड़ दिया। वर्गीकरण, व्यक्त रूप-सौन्दर्य, रूढ़ि के निर्वाह और साम्प्रदायिक दर्शन के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा। यहाँ तक कि वे अपने साधारणीकरण के 'सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक अनुभव में अन्तर्भूत अथवा व्यक्त, विशिष्ट और सामान्य, सापेक्ष और निरपेक्ष, सत्य और सौन्दर्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति का आकलन करने का कोई व्यापक प्रतिमान स्थिर न कर सके। प्रवृत्ति और निवृत्ति केवल इन दो परस्पर-विरोधी मूल वृत्तियो की यन्त्रवत् कल्पना करके उन्होने सत्-असत्, सुन्दर-असुन्दर और धर्म-अधर्म के 'ढाँचों' मे मनुष्य के अनुभव और कर्म को रागात्मिका वृत्ति की मध्यस्थता से ढालने का मूलमन्त्र खोज निकाला, और इससे एक का लोक-मगलकारी तथा दूसरे का लोक-अमगलकारी रूप निश्चित कर दिया। 'साधारणी-करण' और 'लोक-मंगल', शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनो आदर्शों या लक्ष्यो की कल्पना अत्यन्त संकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ धारणाओ मे प्रकट सत्याभास ही उनके आधार है, क्योकि धार्मिक शब्दाडम्बर को त्यागकर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल साहित्य के प्रेषणीय गुण से है तो इस पर इतना जोर देना एक स्वयसिद्धि को ही सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है, और विशेष करके तब जब कि प्रेषणीयता के आधार पर एकागी मूल्याकन ही सम्भव है, अन्यथा द्विवेदी-काल का इतिवृत्तात्मक काव्य छायावाद के काव्य से श्रेष्ठ माना जाय और निराला की तुलना में सोहनलाल द्विवेदी को श्रेष्ठतर कवि घोषित किया जाय। साहित्य या कला, रचनाकार की भावनाओं का 'साधारणीकरण' ही नही करती, बल्कि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है और यदि वास्तविकता सश्लिष्ट और जटिल है—जैसी कि वह सर्वदा से है—तो उसका प्रतिबिम्ब भी सीधी, समानान्तर रेखाओ से अंकित नहीं किया जा सकता। जो अभिधा से प्रत्यक्ष (Obvious) और

बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकती। कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है और उसकी सार्थकता इसी मे निहित है कि वह मनुष्य मात्र की चेतना को अधिक सश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है जिससे वास्तविकता का मर्म उसमें निहित सम्भावनाएँ उत्तरोत्तर स्पष्ट होती जाती है और मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता जाता है। शुक्ल जी का 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त, इस दृष्टि से अत्यन्त सरल सिद्धान्त है, एकांगी और सत्य की छाया मात्र। इसी प्रकार यदि धर्म और अन्धविश्वास का आवरण हटाकर उनके 'लोक-मगल' के सिद्धान्तो की परीक्षा करे तो एक वैज्ञानिक समाज का 'लोक-मगल' शुक्ल जी की दृष्टि से अमंगल और अधर्म का पर्यायवाची न बन जायगा, इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है ? शब्दो की ध्वनि से हमारी आसक्ति नही है, और यदि 'लोक-मंगल' शब्द में अत्यन्त अबोध और पुनीत ध्वनि मिलती है तो इसका यह तात्पर्य नही कि शुक्ल जी द्वारा की गई उसकी व्याख्या एक त्रिकालवर्ती सत्य है। शुक्ल जी के स्थूल, भावुक और रूढ़िवादी सिद्धान्तो का अनुकरण करने वाले आचार्य और अध्यापक अब कला और साहित्य के मूलोद्गम, प्रयोजन और मूल्य इन सभी व्यापक प्रश्नो की अवहेलना करके केवल वर्गीकरण को ही आलोचक धर्म की इतिकर्तव्यता मान बैठे है।

उनकी तर्क-प्रणाली उन धर्मान्ध रूढ़िवादियों की कोटि की है जो किसी नये सत्य का विरोध करते समय कहते है 'हमारे यहाँ ऐसा नही है,' और यदि नया सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण सर्वमान्य हो गया है और उसका मानना आपद्धर्म बन गया है तो कहते है 'तभी तो हमारे यहाँ अमुक ने ऐसा कहा है'—पर दोनो अवस्थाओ में जिन्हे नया सत्य व्यावहारिक रूप से अमान्य ही होता है। 'लोक-मगल' जैसे शब्द ऐसी ही अनौचित परिस्थितियो में ढाल का काम देते है। इसमें किंचित आश्चर्य की बात नही कि स्वय शुक्ल जी ने इस हठवादी तर्क-प्रणाली को अपनाया था। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौसठ कलाओ मे साहित्य या काव्य की गणना नही कराई गई है। केवल इतनी-सी बात के कारण भारतीय-अभारतीय का अवैज्ञानिक भावनाजन्य भेद खड़ा करके उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित किया और साहित्य-समीक्षा से उसके बहिष्कार का आदेश दिया। और इतालवी दार्शनिक क्रोचे के सौन्दर्य सिद्धान्तो की मनोनुकूल विकृति करके उन्होंने आई. ए. रिचार्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तको मे से पूर्व-प्रकरण से हटाये वाक्यों द्वारा भारतीय लाक्षणिक ग्रन्थो की स्थापनाओ और वर्गीकरण का पिष्टपेषण करवाया। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रभाववाद, मूर्तिविधानवाद, पराावस्तुवाद आदि साहित्य-कला की आधुनिक प्रवृत्तियो को प्रवाद और वितडावाद कहकर उनकी निदा की थी, जो मूलतः ठीक होते हुए भी सर्वथा वैज्ञानिक नहीं है।

शुक्ल जी के अनुगामी, पाण्डित्य का इतना विशाल घटाटोप खड़ा करने मे अपने को असमर्थ पाकर और यह देखकर कि प्राचीन आचार्यो ने शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलंकार के भेदोपभेदो की सख्या पहले ही समाप्त करदी है, कभी शुक्ल जी के ही तर्कों की आवृत्ति करते है. कभी आधुनिक रचनाओ मे इन भेदोपभेदो के दृष्टान्त सूचित करके मूल्याकन के प्रश्न से छुट्टी पा लेते है, तो कभी साहित्य के आधुनिक रूप-विधानो—जैसे उपन्यास, कहानी और गीति-काव्य का क्षेत्र सपाट पाकर उन्हे भी कोष्ठबद्ध करने लगते है। अर्थात् उनका वर्गीकरण करने मे सलग्न हो जाते है। डा० श्रीकृष्णलाल की 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' नाम की पुस्तक इस प्रवृत्ति का साधारण उदाहरण है। उन्होने गीति-काव्य के पॉच भेद किये है—व्यंग्य-गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, वर्ग भावना से प्रेरित गीति और अध्यान्तरित-गीति, और फिर इनके भी उपभेद कर डाले है। इसी प्रकार उपन्यासो के भी एक दर्जन भेद आपको यहाँ मिलेगे। प्रत्येक नयी रचना अपनी शैलीगत विशेषता के कारण इन अध्यापको को एक नये भद का खाना खोलने के लिए विवश कर देती है। फिर भी, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि के तीन या तेरह भेद होते है—उनके इस 'होते है' के निश्चयात्मक स्वर में शिथलता नही आती। साहित्य के गम्भीर मर्मज्ञ पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और यदाकदा मनोविज्ञान से प्रेरणा लेने वाले डॉ० रामकुमार वर्मा तक इस मनोवृत्ति से छुटकारा नही पा सके है।

साहित्यालोचन की दूसरी विचारधारा आधुनिक मनोविज्ञान—वस्तुतः फ्रॉयड-एडलर-युग के मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित है। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी, इस प्रसङ्ग में केवल ये दो नाम ही उल्लेखनीय है। दोनो उपन्यासकार, कवि, और आलोचक है। इसमें सन्देह नही कि 'अज्ञेय' ने अपने निबन्धो में कला के मूल्यांकन का प्रश्न पूरी गम्भीरता के साथ उठाया है। और जो लोग मनोविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियो से अनभिज्ञ है, उन्हे इन निबन्धों में नये सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी मिलेगा। मूल्याकन करते समय कला-सृजन में व्यक्ति के अह और अवचेतन का और समाज की परिस्थिति या परिवृत्ति का क्या महत्त्व है, इन प्रश्नो का निर्देश करके उन्होने कला-साहित्य विषयक रूढ धारणाओ को नयी अन्तर्दृष्टि दी है। परन्तु इन तत्त्वो की उन्होने जो व्याख्या की है वह अत्यन्त एकांगी और यन्त्रवत् है। वैसे उनके समूचे दृष्टिकोण में एक आन्तरिक विसंगति है जो एक समन्वित दृष्टिकोण के अभाव की सूचक है।[1] एक ओर वे कलाकार और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को ऐसा 'विद्रोहसत्व' मानते है जो पुरानी लीक पर न चलकर अपनी नयी लीक बनाता है, अपने व्यक्तित्व की पूर्ण स्वीकृति पाने के लिए अपनी परम्परा स्वयं गढ़ता है;

---

१. देखिय 'अज्ञेय' का निबन्ध-सग्रह 'त्रिशकु'।

दूसरी ओर, रूढ़ि के अर्थ को परिवर्धित करके वे कलाकार से यह अपेक्षा भी रखते है कि वह रूढ़ि के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करने के लिए रेल के ऐञ्जिन की तरह अपने को परम्परा के आगे जोड़ दे । एक स्थान पर अंग्रेजी कवि और समालोचक टी० एस० ईलियट के निबन्ध (The Sacred Wood) मे से 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना नही, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है', इस वाक्य को उद्धृत् करके कलाकार से 'निर्व्यक्तिकता' की माँग करते है तो दूसरे स्थान पर एक 'वृहत्तर व्यक्तित्व' के निर्माण का प्रश्न भी उठाते है । उनके दृष्टिकोण में ऐसी विसगतियो की निरी भरमार है। और यह भी सन्दिग्ध है कि ईलियट, एडलर, फ्रॉयड, हक्सले, हर्बर्ट, रीड आदि के मतों को ज्यो का त्यों प्रतिपादित करते समय वे उनके परस्पर सम्बन्ध कों या उनके पूरे अर्थारोप को भी समझते है।

उदाहरण के लिए, कला की परिभाषा के रूप मे यह सूत्र बताकर कि, 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है' जब वे इस स्थापना को सिद्ध करने के लिए सास्कृतिक प्राग्जीवन मे कला को जन्म देने वाले प्रथम पुरुष की, जो किसी कारण कमजोर प्राणी है' और सामजिक कार्य मे भाग लेने में असमर्थ है, कल्पना करते है तो यह कल्पना आधुनिक मानवशास्त्र (Anthropology) की गवेषणाओ के प्रतिकूल यान्त्रिकता से आबद्ध और शिशुवत् लगती है । इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कला कुछ ऐसे बीमार, पंगु, विकलांग, और सम्भव है, विक्षिप्त व्यक्तियो की ही सृष्टि है जो अपने असामाजिक ठलुआ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए अपने कुतूहल, कौतुक-वृत्ति और हीन-भावना से प्रेरित होकर कुछ टेढ़ी मेढ़ी आकृतियाँ खीचते या शब्दो का इन्द्रजाल बुनते रहते है । यही कला-कृतियाँ बन जाती है। उनमें दूसरो को सौन्दर्य-बोध होने लगता है और इस प्रकार उन 'बेचारे कलाकारो' का व्यक्तित्व या उनकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

'अज्ञेय' की इस फ्रॉयडीय परिभाषा से अनेक विचित्र परिणाम निकलते है। कला यदि 'सामाजिक अनुपयोगिता' की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है तो निश्चय ही कला समाज पर बाहर से (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो द्वारा ही सही) आरोपित वस्तु है, स्वयं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओ से, सामाजिक जीवन की सूक्ष्मतर सौन्दर्यमयी जीवनानुभूति, मनुष्यमात्र की उत्तरोत्तर मुक्त और सस्कृत जीवन-निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वस्तु नही है। ऐसी स्थिति में कला या साहित्य की प्रवृत्तियो, विचार-धाराओ, मान-मूल्यो का जिक्र ही निरर्थक हो जाता है । फिर किस चमत्कारी तिलिस्म के घटित होने से कलाकार नामधारी विक्षिप्त जन्तु की कौतुक-कृतियो मे

पाठक या दृष्टा को सौन्दर्य (व्यवस्था, नियम, उपयोगिता, सहानुभूति, प्रेरणा) का बोध होने लगता है, यह एक गुप्त रहस्य है । निस्सदेह, 'अज्ञेय' की स्थापना हास्यास्पद है ।

इसी प्रकार ईलियट के इस उद्धरण मे—'कवि एक विशेष माध्यम को व्यक्त करता है, व्यक्तित्व को नही'—'माध्यम' का अर्थ 'कवि-मानस' नही लगाया जा सकता जैसा कि 'अज्ञेय' ने किया है, बल्कि हर्बर्ट रीड के अनुसार उसका आशय शब्द-ध्वनि सम्बन्धी स्नायुविक सुवेदनीयता से ही लिया जा सकता है, अन्यथा यह स्थापना निरर्थक है । इन सगत-असगत उक्तियो को छोडकर यदि 'अज्ञेय' के कला-मूल्य निरूपक जीवन-दर्शन की परीक्षा करें तो उसकी एकागिता और यन्त्रवत्ता और भी मुखर लगती है ।

वस्तुतः उनके निकट कला का मूल्य उसके चमत्कार मे है । चमत्कार उसका साध्य भी है । कला के मानव-मूल्य या उसकी सामाजिक उपयोगिता आदि प्रश्न केवल प्रासगिक महत्त्व रखते है । चमत्कार-सृजन हो जाने के पश्चात् समाज उससे जैसी प्रेरणा चाहे लेने को स्वतन्त्र है । [यदि नात्सियो को यह फॉर्मूला ज्ञात होता तो कलाकारों के चमत्कार-विधान से वे भी लाभ उठाते, उनकी कलाकृतियो की होली जलाने और जीवित कलाकारो को निर्वासित करने या प्राणदण्ड देने की क्या आवश्यकता थी ?] उसके पूर्व कला या कलाकार से प्रगतिशील अथवा नैतिक होने न होने का आग्रह करना अथवा उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे कला मे वास्तविकता का गत्यात्मक प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करे, अथवा केवल इतना सोचना भी कि कलाकार स्वभावत. ऐसा करता है, कला को अनवाछित बाध्यताओ और पूर्व-धारणाओ मे बाँधकर उससे 'ऐच्छिक प्रेरणा' पाने का दुराग्रह करना है । आलोचक का कर्त्तव्य केवल इतना है कि वह 'पैर की छाप' पढ़कर बताये कि कलाकार नामधारी जन्तु किस दिशा की ओर निकल गया । इस प्रकार 'अज्ञेय' के अनुसार 'आलोचना' न वैज्ञानिक क्रिया है, न सृजनात्मक । अपनी विसगतियो के कारण 'अज्ञेय' अन्ततोगत्वा, उसी मात्र सापेक्षतामूलक सौन्दर्यदृष्टि पर आकर ठहर जाते है, जिससे आगे बढ़कर, चाहे मनोविश्लेषण-शास्त्र के एकागी दृष्टिकोण से ही क्यो न हो, वे कला के मान-मूल्य निर्धारित करने का बीड़ा उठाते है और केवल 'पैर की छाप' पढ़कर बूझने वाले 'लाल बुझक्कड़' ही नही बने रहना चाहते ।

इस स्थिति मे पड़कर प्रगतिवाद का विरोध करके 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होना, कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध अभिजातवर्ग की कल्पना करना, और यदि कलाकार साधनहीन होने के कारण उपजीवी नही बन सकता तो 'जीने के लिए' उसे पत्र-जगत या राजनीति मे प्रविष्ट होकर आपद्धर्म की अवसर-

वादिता स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एक अश बेचने के लिए प्रोत्साहित करना, यह सब अज्ञेय के लिए स्वाभाविक हो जाता है। 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति' कलाकार को सामाजिक प्राणी के अधिकारो से वंचित रखती है, और वह केवल उपजीवी या अवसरवादी ही हो सकता है। एक कलाकार के रूप मे उसे जीने का अधिकार है, और यदि इस अधिकार का अपहरण किया जा चुका है या किया जा रहा है तो उसे प्राप्त करने के लिए लडना उसका कर्तव्य है, 'अज्ञेय' की विचारधारा इस कठोर सत्य की शिला से टक्कर नही लेना चाहती। वे पौराणिक 'त्रिशंकु' ही बने रहना चाहते है, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामजस्य का अनुमान नही कर पाते।

उनकी विचार-शैली यह है कि पहले वे किसी पाश्चात्य लेखक से ली गई उक्ति को एक सूत्र के रूप मे उपस्थित करते है, फिर उसकी मनगढ़न्त व्याख्या जोडते है। उनका यह अनुमान है कि उनके ये सूत्र पाठको को 'चौंका' करके सतर्क बना देते है। कदाचित् अपने विलक्षण और अभूतपूर्व चमत्कार के कारण! यह बात सच न हो, परन्तु उनका यह दिखावटी भय वस्तुत. सच है कि उनकी स्थापनाओ मे 'अतिव्याप्ति' दोष रहता है। यदि ऐसा नही है तो इस 'विनयशीलता के उपक्रम को क्या आत्मश्लाघा की ही प्रच्छन्न व्यंजना नही कहेगे ?

'अज्ञेय' और उनकी विचारधारा के आलोचक हिन्दी में 'विकृत अथवा कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' (Vulgar Psychology) का प्रतिपादन कर रहे है। 'विकृत या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' से मेरा तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है जो मनोविज्ञान की मान्यताओ को साहित्य पर ज्यो का त्यो घटित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि इससे साहित्य का मूल्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के दृष्टान्त रूप मे ही अवशेष रह जाता है और साहित्य या कला अपनी मानव-मूल्य निरूपिणी इयत्ता खो देती है। 'अज्ञेय' के अनुसार जिस 'मन' से साहित्य उद्भूत होता है उसकी धातु (Quality) की 'परख' करना आलोचक का प्रमुख कर्तव्य है। परन्तु यह कार्य एक मनोवैज्ञानिक का है, आलोचक का नही। आलोचक अधिक-से-अधिक कला की 'सृजनात्मक प्रक्रिया' (Creative Process) का अध्ययन-निर्धारण करता है, और यह कार्य कोरा मनोवैज्ञानिक नही है।

इलाचन्द्र जोशी इस 'विकृत या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' की पराकाष्ठा तक पहुँचने मे कटिबद्ध दीखते है। उनके सारे उपन्यासो मे, विशेषकर 'प्रेत और छाया' में इस प्रवृत्ति की अश्लील झाँकी देखने को मिलती है। इलाचन्द्र जोशी में 'अज्ञेय' के समान एक सुसस्कृत कला-मर्मज्ञ का आत्मसंयम और परिष्कार नही है। अतः वे प्रगतिवाद के विरुद्ध जिस उतावलेपन के साथ अपने 'अन्तर्प्रगतिवाद' (?) का प्रचार कर रहे है, वह साहित्य मे मन-विश्लेषको द्वारा सिद्ध 'अवचेतन' मन में स्थित काम

और सिहा सम्बन्धी पशु-प्रवृत्तियोकी नग्न और अनियन्त्रित अभिव्यजना के आग्रह के अतिरिक्त और कोई सौन्दर्य-मूल्य (!) नही रखता।

साहित्यालोचना की तीसरी विचारधारा प्रगतिवाद है। गत दस वर्षो से यह विचारधारा न केवल अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रही है, वरन् उसने हिन्दी के रचनात्मक साहित्य को भी नयी अभिव्यक्ति और विचार-वस्तु दी है। मुझे यह स्वीकार करने मे आपत्ति नही है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मूलत· मार्क्सवादी दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और मार्क्सवादी समाज-विज्ञान 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है। प्रगतिवाद से जिनका दृष्टि-साम्य नही है, ऐसे विचारक भी बहुधा इतना तो स्वीकार करते ही है कि प्रगतिवाद ने साहित्य मे एक नयी जागरूकता उत्पन्न की है और साहित्य और कला को जन-जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति का सचेत साधन बनने की प्रेरणा दी है।

प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य यदि कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन है तो साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य है, वह अधिक से अधिक एक फैशन है। अन्यथा जिस प्रकार राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सकट या सघर्ष-काल मे जनता की किसी जागरूक पार्टी या सरकार की ओर से अपील सम्बन्धी प्रचार-साहित्य लिखाया जाता है, जिसे 'Wartime Literature' के समान ही किसी विशेष परिस्थिति, घटना या सघर्ष से सम्बद्ध किये बिना सहज रूप से 'साहित्य' की सज्ञा देना असम्भव होता है उसी प्रकार प्रगतिवाद की विचारधारा भी उन्ही परिस्थितिजन्य अपीलो के समान है। ये अपीलें हमारे लिए साहित्य की प्राचीन परम्पराओ और प्रभावो का वैज्ञानिक मूल्यांकन नही करती कि हमे नयी अन्तर्दृष्टि मिले। परन्तु इन अपीलो और रचनाओ की सामयिक आवश्यकता और उनका महत्त्व स्वीकार करने के पश्चात् भी इस निर्णय से छुटकारा नही मिलता कि यदि प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य केवल परिस्थितिजन्य आन्दोलन है तो उसका साहित्यिक मूल्य नगण्य है और यहाँ पर यह विचारधारा विचारणीय नही हो सकती। विचारणीय वह तभी हो सकती है जब साहित्य के मूल्याकन मे उसकी स्थापनाएँ न्यूनाधिक मात्रा मे उपयोगी हो। अर्थात् जब प्रगतिवाद मे कोई सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण उपलक्षित भी हो और वह प्रयोग-सिद्ध भी हो सके।

प्रगतिवादी समीक्षको मे साहित्य के 'कला-पक्ष' और 'सामाजिक पक्ष' के सम्बन्ध में एक द्वैत-भावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न कर पाते थे कि किसी रचना मे इन दोनो तत्त्वो का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किसका आत्यतिक महत्त्व है। इस विकृत यात्रिकता का ही परिणाम था कि प्रगतिवादी आलोचना ने व्यवहारतः किसी रचना मे व्यक्त अमूर्त्त विचारों

को ही उस रचना के साहित्यिक मूल्य की कसौटी मान लिया। और स्वयं कवि पत ने भी—

"तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार।
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलकार ?"

प्रश्न करके इस द्वैत-भावना को अपनी एक कविता में उदात्त अभिव्यक्ति दे दी थी।

गत वर्षो मे जिन लोगो ने प्रगतिवाद की विचारधारा को कोरे राजनीतिक-प्रचार की सीमा मे बॉधकर साहित्य की कसौटी को अवसरवादी बनाने की चेष्टा की है, वह अनायास और अकारण ही नही। ये लोग वास्तव मे उस द्वैत-भावना से आक्रान्त है जिसका उल्लेख मै पहले कर चुका हूं, और चूंकि वे साहित्य के प्रश्नो पर गम्भीरतापूर्वक सोचने मे अक्षम है अत. सरल समाधानो की ओर बेतहाशा दौडते है। ऐसी स्थिति मे यह आश्चर्यजनक नही है कि इन कथित प्रगतिवादियो की आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मात्र सापेक्षतामूलक सामाजिक दृष्टि (Relativist Sociology) या 'विकृत और कुत्सित समाजशास्त्रीयता (Vulgar Sociology) की सीमा में ही सिमट-सिकुडकर रह गई है। यह प्रवृत्ति अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए (अर्थात् अपने उद्धार के लिए) सार-सचय की भावना (Eclecticism) का दामन पकडकर प्रभाववाद, रुचि-वैचित्र्यवाद, रसवाद, व्यजनावाद, यहाँ तक कि सकीर्ण राष्ट्रवाद (Chauvinism) जैसी हीन प्रवृत्ति तक का आधार खोजती फिरती है।

उदाहरण के लिए, डा० रामविलास शर्मा ने शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, यशपाल के उपन्यास 'देशद्रोही', नगेन्द्र के निबन्ध-सग्रह 'विचार और अनुभूति' आदि पर जो आलोचनाएँ लिखी है, उनमे व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामन्ती संस्कार-गत पूर्वग्रह के साथ कटूक्तियो, विद्रूपो और उपदेशो को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया है। उनकी 'तुलसीदास' और 'भारतेन्दुकालीन साहित्य' की आलोचनाएँ 'वे अपने काल मे प्रगतिशील थे' इस सापेक्षतामूलक तर्क-प्रणाली का उदाहरण है। अमृतराय ने अपने निबन्ध 'मार्क्सवादी आलोचना का आधार' में अपने दृष्टिकोण की विसगतियो और अधकचरेपन के कारण आश्रय की खोज मे साम-दाम-दण्ड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारो की असयत झड़ी भी लगाई है और अन्त में मार्क्सवाद की अज्ञानतावश कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने मे अपने को असमर्थ पाकर "विजयी विश्व तिरगा प्यारा ··· को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा ?" इस प्रकार की कटूक्तियो द्वारा सकीर्ण राष्ट्रवाद को ही साहित्य के मूल्य-निरूपण का चरम सिद्धान्त मान लिया है। इन लेखको और 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी

लेखको की आलोचनाओं में से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते है, क्योकि वे जब प्राचीन लेखको के सम्बन्ध मे लिखते है तब उनके मापदण्ड कुछ होते है, जब जीवित लेखको के सम्बन्ध में लिखते है तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मापदण्ड बदलते जाते है। इसके अतिरिक्त देश की तीव्रगति से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति के साथ भी इन मापदण्डो को बदलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि एक लेखक जो कल तक प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरन्त प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रवर्तक और प्रगतिशील था, 'इनकी' दृष्टि से एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत में ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।

कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण प्रगतिवाद का दृष्टिकोण नही है, इस सम्बन्ध मे मै स्वयं सन् १६४१ के एक निबन्ध 'प्रगतिवाद'[1] में अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ। इस स्थल पर पाठको की सुविधा के लिए उक्त निबन्ध मे से प्रासगिक उदाहरण देना सामयिक महत्त्व का होगा। साहित्य के मूल्याकन मे सामाजिक प्रभावों के विवेचन की अनिवार्यता क्यो है? इसका विवेचन करते हुए मैने लिखा था—

"अतः प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रो को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण करता है जिन्होने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियो पर पडे प्रभावो का भी मूल्याकन करता है। सामाजिक परिस्थितियो का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणो—व्यग, प्रतीक, उपमाएँ, रूपक और शैली आदि—की सामाजिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन करता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना मे समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा मे रखकर उसकी सौन्दर्य-शक्ति का भी मूल्याकन करता है। साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्बमात्र नही होती, जिस प्रकार आइने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि ऐसा सक्रिय प्रतिबिम्ब होती है जो समाज या मनुष्य के अहं (भाव-चेतना) का परिवर्तित परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार भी करती रहती है, अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण इस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियो की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयगम करना

---

१. देखिये लेखक का निबन्ध-सग्रह 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ५-६।

अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य या कला का सौन्दर्य-तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न यह प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद। मार्क्स ने भी इन दोनो दृष्टियो से एक साथ ही किसी रचना का विवेचन करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नही रहता कि अमुक रचना किस युग की उपज है, सामन्ती या पूँजीवादी—मार्क्स ने ग्रीक साहित्य पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि यह तो अपेक्षाकृत सरल कार्य है—बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी क्यो सौन्दर्य-बोध कराने मे सफल है, आज भी वह हमारे रागो को जगाने में, हमारे संवेदनो को झंकृत करने मे क्यो उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी ? प्रगतिवाद इन दोनो मौलिक प्रश्नो का उत्तर किसी रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के इतिहास का विवेचन करके देता है।"

साहित्यालोचन को प्रथम बार प्रगतिवाद ने एक वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है, जिससे हमे साहित्य को सामाजिक क्रिया का एक विशिष्ट पर अभिन्न अंग समझने में सुविधा हुई है। दूसरे 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है', या 'काव्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है', या 'साहित्य समाज का दर्पण है', या 'साहित्य जीवन की आलोचना है' आदि भारतीय तथा पाश्चात्य व्याख्याओ से कही अधिक व्यापक साहित्य की व्याख्या प्रगतिवाद ने की है। प्रगतिवादी व्याख्या के अनुसार कला या साहित्य वस्तु-सत्य (जिसमे व्यक्तिगत और समाजगत, भौतिक और मानसिक, अन्तर और बाह्य सत्य के दोनो अंग द्वन्द्वात्मक रूप से विभिन्न अनुपातो मे सम्मिलित रहते है) के किसी अंग को अनुभव के रूप में प्रतिबिम्बित करता है और यह प्रतिबिम्ब सक्रिय और गत्यात्मक होता है। साहित्य की प्रेषणीयता का प्रश्न तो आनुसंगिक है अर्थात् इस रूप मे विचारणीय है कि वस्तुजगत के किसी अंग का अनुभव कला में किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है कि वह प्रेषणीय बन जाता है। प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही इसकी अवधारणा करता है और यह सिद्ध करता है कि विशेष या सापेक्ष सत्य—जो व्यक्तिगत, समाजगत, वर्गगत या परम्परागत हो सकता है—और निरपेक्ष सत्य—जो सम्पूर्ण जीवन की चिरन्तनता का सत्य है—दोनो की द्वन्द्वजनित परस्परिता और अन्विति के द्वारा ही विशेष सामान्य बनता है और सामान्य एक नूतन सामंजस्य पाकर विशेष बनता है। इसी विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक

अन्विति से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनते है, जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का इतना आत्यन्तिक और स्थायी महत्त्व है। कला और साहित्य का यह महत्त्व नष्ट हो जाय यदि अपनी सीमा के अन्दर उसके विकास-क्रम की गति स्वतन्त्र न हो, अर्थात् साहित्य का अपना इतिहास न हो और वह केवल बाह्य परिस्थितियो (या कहे सामयिक रुचियो) के अनुसार ही प्रतिक्षण अपना रूप-रग बदलता रहे। जहाँ यह सत्य है कि बाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओ के माध्यम से जीवन के अगणित सम्बन्धो को ग्रहण करके ही व्यक्त होते है और इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परम्परा को बदलते है तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और सम्बद्धता को पुष्ट करके सामाजिक जीवन और व्यक्ति की चेतना को भी प्रभावित करते और बदलते है। कलावादी यदि पहले सत्य से इन्कार करते है तो कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दल सत्य के दूसरे पहलू से आँखें मीच लेता है। प्रगतिवाद दोनो के दृष्टिकोणो को एकपक्षीय और एकागी समझता है। प्रगतिवाद की ये कतिपय स्थापनाएँ महत्त्वपूर्ण है।

किसी समीक्षा-सिद्धान्त और पद्धति की सार्थकता मुख्यत· दो प्रश्नो के उत्तर पर निर्भर करती है। पहला प्रश्न यह कि क्या आलोचना आधुनिक साहित्य (जिसमे समकालीन साहित्य भी सम्मिलित है) का सही मूल्यांकन कर सकती है? अर्थात् क्या वह आधुनिक और समकालीन साहित्य मे जो सामयिक रुचि और फैशन (राजनीतिक अथवा अन्य) के अनुसार वास्तविकता का स्थूल और उथला परन्तु महत्त्वपूर्ण चित्रण है और वह जिसमें आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना गहरा और व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमे स्थायित्व के तत्त्व मौजूद है, इन दोनो को अलग करके बता सकती है और साहित्य कृति के विवेचन से उसमें उठायी समस्या का उथला और गहरा रूप सिद्ध कर सकती है? यह कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योकि वर्तमान मे हमारी दृष्टि बहुत सकुचित और सीमित रहती है—वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, राग-द्वेष अपनी अति-निकटता के कारण सारे दृष्टि-पथ पर छा जाते है और निर्णेता स्वय व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओ या भावनाओ से अपने को निर्लिप्त और निस्सग नही रख सकता; अतः जो उसे तत्काल महत्त्वपूर्ण लगता है वही स्थायी और सुन्दर भी लग सकता है। परन्तु इस कठिनाई के बावजूद समालोचक, पाठक या द्रष्टा केवल अपने जीवन-काल के साहित्य के ही उन समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक कारणो, प्रभावो और प्रेरणाओ से लगभग पूरी तरह अवगत हो सकता है जिन्होने उस साहित्य के सृजन में योग दिया है और वह उनका सही मूल्यांकन करके साहित्य की गतिविधि

को प्रेरणा और नयी दिशा देने में सहायक बन सकता है। अत कोई भी समीक्षा-सिद्धान्त आधुनिक साहित्य के मूल्याकन के प्रश्न की उपेक्षा नही कर सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आलोचना प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गये साहित्य) का सही मूल्याकन कर सकती है ? प्राचीन साहित्य के मूल्याकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना मे स्थायित्व के गुण है अथवा नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है। परन्तु इस रहस्य का उद्घाटन करना अथवा उन तथ्यो का व्याख्या करना अवश्य सार्थक प्रयत्न है, जिनके कारण कालिदास की रचनाएँ आज भी हमे सौन्दर्य-बोध कराने मे समर्थ है। 'आज भी हमें' से तात्पर्य आधुनिक काल की भाव-चेतना, सस्कार और परिस्थिति की अपेक्षा से है। इन तत्वो की व्याख्या का परिणाम निश्चय ही यह होगा कि आलोचक आधुनिक चेतना के अनुरूप कालिदास का सर्वांग पुनर्विवेचन करे। प्राचीन इसी प्रकार वर्तमान मे अपने को पुनर्जीवित करता चलता है। इसी कारण इस मूल्याकन मे कालिदास के समकालीन समाज और उनके साहित्य पर पड़े प्रभावो के साथ-साथ उनकी कृतियो द्वारा परवर्ती समाज और साहित्य पर पडे प्रभावो का विश्लेषण भी उतना ही आवश्यक है। तभी हम इन अगणित प्रभावो के सम्बन्ध-सूत्रो को एकत्र कर उनकी शृंखला को ऐतिहासिक-क्रम मे सजोकर कालिदास को आधुनिक वस्तु-सत्य की शृखला से जोड़कर उनको सम्पूर्ण रूप से अपने लिए बोधगम्य बना सकते है, अर्थात् उनकी कृति के पूरे मूल्य प्राप्त कर सकते है। अन्यथा कालिदास की महत्ता की स्वीकारोक्ति मौखिक ही बनी रहेगी। अत. कोई भी समीक्षा-सिद्धान्त प्राचीन साहित्य के मूल्याकन के प्रश्न की उपेक्षा नही कर सकता।

निस्सदेह मनोवैज्ञानिक विचारधारा या कुत्सित समाजशास्त्रीयता, दोनो ही इस दृष्टि से एकागी है। मनोवैज्ञानिक विचारधारा की समीक्षा की अन्तर्दृष्टि केवल आधुनिक और सामयिक साहित्य तक ही सीमित है, क्योकि अधिक-से-अधिक आधुनिक लेखको का ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, यद्यपि उसमे सामाजिक जीवन (बाह्य) के प्रभाव एक प्रकार से फिर भी छूट जाते है। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में उसकी गति नही के बराबर है, और यदि कभी इसका प्रयत्न किया गया है तो हास्यास्पद परिणाम निकले है। इसी प्रकार कुत्सित समाजशास्त्रीयता केवल प्राचीन लेखको का ही एक सीमा तक सही मूल्याकन कर पाती है, यद्यपि इसमे भी अपने दृष्टिकोण की यान्त्रिकता के कारण वह लेखको को इस वर्ग या उस वर्ग का लेखक सिद्ध करने की समस्या से ही अधिक जूझती है और अवसर के अनुकूल कतिपय पक्तियो के आधार पर ही उन्हे प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी सिद्ध करती रहती है।

आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने मे वह नितान्त असमर्थ है, क्योकि वह किसी रचना के सामयिक महत्त्व को ही उसके स्थायी सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आई है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक विचारधारा की रुचि उस उत्सुक अधेड स्त्री के समान है जो दरवाजे के सूराख मे से झाँककर किसी दम्पति के एकान्त व्यवहार को ही उनका सार्वजनिक और सामान्य व्यवहार घोषित करती फिरती है, और कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दृष्टिकोण उस जासूस का-सा है जो किसी व्यक्ति के पीछे छाया की तरह लगकर यह नोट करता जाय कि वह किससे मिला, किसके यहाँ खाना खाया, किससे रुपये माँगे और बाजार से क्या खरीदकर लाया और फिर इसके आधार पर उस व्यक्ति के चरित्र पर एक रिपोर्ट तैयार करदे और फिर उसे इस तरह या उस तरह व्यवहार करने का आदेश दे। लेखको के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के बारे मे दोनो विचारधाराओ की जिज्ञासा एक ही धरातल की है, यद्यपि उनकी मात्रा और दिशाओ में भेद है।

प्रगतिवाद यदि साहित्य का नया दृष्टिकोण है तो इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि समीक्षक साहित्यकार को कला-वस्तु या कला-रूप सम्बन्धी निर्देश दे। कलाकार स्वभावत. प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था. सामजस्य और मुक्तिकामी निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होती है। कलाकृति मनुष्य के अनुभव और चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार अधिक समन्वित मानव-मूल्यो का निर्माण करती है। अपने सस्कृति-विधायक रूप मे कला या साहित्य स्वभावत. प्रगतिशील होता है। अत. एक कलाकार या उसकी कृति को 'प्रगतिवादी' होना जरूरी नही है, अर्थात् यह जरूरी नही है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रखकर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बनादे। ऐसा करना 'प्रेत और छाया' की प्रगतिवादी प्रतिकृति तैयार करना होगा।

चौथी आलोचना-पद्धति को हम व्यजनावादी या प्रभाववादी कह सकते है। यह केवल एक पद्धति है, विचारधारा नहीं, अतः साहित्य-समीक्षा के व्यापक सिद्धान्तो का निरूपण करना इस पद्धति की कार्य-सीमा से बाहर की वस्तु है। इस पद्धति में आलोचक-विशेष की रुचि के अनुसार प्रायः पूर्वोक्त तीनो विचारधाराओ के मिले-जुले सिद्धान्त प्रयोग मे आते है। यह पद्धति आलोचना को विज्ञान की सीमा से हटाकर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप देने का प्रयत्न करती है और इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार की आलोचनाएँ बहुधा सुपाठ्य और चमत्कारपूर्ण होती है। उनमें भाषा का सौष्ठव, अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और कोमलता भी रहती है और यत्र तत्र साहित्य और कला के सम्बन्ध मे 'विलक्षण रूप से मार्मिक सुझाव और निष्कर्ष भी

रहते है। परन्तु यह सब अन्य विचारधाराओं के असम्बद्ध प्रभावों के रूप में ही यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। मूल्यांकन के कोई मौलिक प्रतिमान इस पद्धति के आलोचक—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र या शान्तिप्रिय द्विवेदी—ने निर्दिष्ट नही किये। वे यदा-कदा सार-सचय की भावना से (Eclectically) विभिन्न विचारधाराओ के समन्वय की ओर उन्मुख हुए है, परन्तु किसी व्यापक साहित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्होने नही किया है।

हिन्दी-आलोचना की विभिन्न विचारधाराओ और पद्धतियो के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि वे सभी किसी न किसी रूप मे एकांगी हैं। अपनी सकुचित दृष्टि को लेकर प्राचीन समीक्षा-शास्त्र ही एक सीमा तक सम्पूर्ण कहा जा सकता है, परन्तु साहित्य के मूल्याकन का व्यापक प्रश्न उससे अछूता ही रह जाता है। हमारे लिए इस दृष्टि से कुत्सित मनोवैज्ञानिकता या कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की यांत्रिकता से मुक्त मनोविज्ञान और प्रगतिवाद के दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण है। मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत दृष्टि से साहित्य के मूल्यो का निरूपण करने की चेष्टा की है। और प्रगतिवाद, जिसे यद्यपि निसर्गतः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोणो का समन्वित दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए था, अनेक कारणो से अभी तक साहित्य के सविधायक पक्ष पर जोर देकर उसके केवल सामाजिक मूल्यो का ही निर्धारण कर पाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण साहित्य की प्रतीकवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो प्रगतिवाद के नाम पर कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रकृतिवादी धारा का। समालोचक इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दे रहे कि वस्तुतः दोनो धाराएँ एक दूसरे की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न हुई हैं और इसी कारण एक दूसरे की पूरक भी हैं। वे वस्तु-सत्य की एकागी अभिव्यक्ति ही करती हैं। और जिस प्रकार अधिक व्यापक चेतना प्राप्त रचनाकार प्रकृतवाद की स्थूल फोटोग्राफिक, यान्त्रिक भौतिकवाद की कठोर कार्य-कारण पद्धति त्यागकर आधुनिक ज्ञान के आधार पर जीवन को एक तरग-प्रवाह (Process) के रूप मे ग्रहण करके साहित्य में मनुष्य के सामाजिक जीवन के संघर्षमय अनुभव के साथ-साथ उसके व्यक्तिगत (मनोवैज्ञानिक) संघर्ष की अनुभूतियो का सामजस्य 'यथार्थवाद' की शैली के रूप में करने की चेष्टा कर रहे है, अर्थात् मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न कर रहे है, उसी प्रकार क्लासिज्म और रोमाण्टिसिज्म या प्रतीकवाद और प्रकृतिवाद के समीक्षा-सिद्धान्तो की तरह ही प्रगतिवाद को केवल मूल्याकन का एकागी दृष्टिकोण बनकर ही नही रह जाना चाहिए बल्कि अपने प्रारम्भिक दावे के अनुसार इन दोनो दृष्टिकोणों का समन्वित रूप उपस्थित करना चाहिए, अन्यथा वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का ही मूल्याकन करने मे समर्थ हो सकेगा, और दूसरी प्रकार के उच्चकोटि

के और महत्त्वपूर्ण साहित्य की अवहेलना करता जायगा। परन्तु इनका समन्वय इस रूप मे असम्भव होगा कि दोनो के सार-भाग का एक समुच्चय तैयार कर दिया जाय, जैसा कि कई लेखकों ने यदाकदा सुझाया है। समुच्चय समन्विति नही है। समन्विति किसी दार्शनिक विचार—सयोजक-सूत्र में गुंथकर ही सम्भव है। प्रगतिवाद की विशेषता यही है कि उसने साहित्यालोचन को एक व्यापक और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है।

हर प्रकार की आलोचनात्मक क्रिया मूलतः दार्शनिक होती है, क्योकि वह वस्तुओ के परस्पर सम्बन्ध-सूत्रो का उद्घाटन और निरूपण करती है। साहित्यालोचक भी किसी कलाकृति और सम्पूर्ण मानव-जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करता है और इस सम्बन्ध का स्वरूप ही उस कलाकृति के मूल्य का स्वभाव, रूप, गुण और अनुपात निश्चित करता है।

आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध इस स्थूल बात से भी प्रकट है कि पाश्चात्य दार्शनिक अफलातून से लेकर अरस्तू, सत टामस, स्पिनोजा, काट, हीगल, शोपनहॉवर, मार्क्स, ह्यूम, मिल, नीत्शे, क्रोचे, लेनिन, जॉन डीवी आदि प्राचीन और आधुनिक दार्शनिको की कला-साहित्य विषयक स्थापनाएँ साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तो का प्रायः आधार बनती आई है। केवल इधर स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिसिज्म) धारा के युग मे आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध एक प्रकार से टूट-सा गया था, परन्तु इस सम्बन्ध को पुनः स्थापित करने की अनिवार्यता प्रतीत हुई है। कारण स्पष्ट है। आलोचक एक निर्णेता है, उसका निर्णय उस समय तक एकागी और त्रुटिपूर्ण रहेगा जब तक कि वह निर्णय उन सभी निर्णयो से प्रसगति नहीं रखता जो जीवन की अन्य क्रियाओ द्वारा निर्दिष्ट हुए है, अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवन की अपेक्षा में प्रसगत नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति और समाज के लिए कला और साहित्य का क्या प्रयोजन, उपयोग और मूल्य है—एक विशिष्ट, स्थायी और महत्त्वपूर्ण मानव-क्रिया के रूप मे—इसके प्रतिमानो का निर्धारण किया जाय, जिससे प्राचीन और आधुनिक साहित्य के ऐतिहासिक और विशेष रचनागत मूल्यो का आकलन हो सके। तभी साहित्य-समीक्षा एक विज्ञान—स्वतन्त्र विज्ञान—बन सकेगी। परन्तु यह तभी सम्भव है—इस तथ्य की पुनरावृत्ति आवश्यक है—जब साहित्य के मूल्यो का निर्णय अन्य सभी वैज्ञानिक निर्णयो से प्रसंगत तथा सम्बद्ध हो। अर्थात् जब एक विज्ञान के रूप में आलोचना अपने सजातीय अन्य विज्ञानो की उन गवेषणाओ और तथ्य-निरूपिणी सामान्य स्थापनाओ से परिचित हो जो कम-से-कम संस्कृति, साहित्य और कला के प्रश्नो से सम्बन्ध रखती है। तभी अपनी नयी द्वन्द्वात्मक विचार-पद्धति के अनुसार वह उनके निष्कर्षों की अपेक्षा में अपने निष्कर्षों की निष्पत्ति कर सकती है। ये सजातीय विज्ञान, आधुनिक मनोविज्ञान, सास्कृतिक

मानव-शास्त्र, समाज-शास्त्र और इतिहास है।

एक साधारण चेतावनी देकर इस निबन्ध को समाप्त करना आवश्यक है। किसी एक विचारक के विचारो को हिन्दी-पाठको के सामने पटककर यह दुराग्रह करना कि साहित्य 'यह है' या 'वह है'; उसका लक्ष्य. प्रयोजन, सविधायक कर्म या सौन्दर्य-मूल्य 'यह है' या 'वह है' वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नही हो सकता, और न सार-सचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणो का बलात् सयोग ही समन्वय कहा जा सकता है। इस चेतावनी की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दी मे इन दोनो प्रवृत्तियो का जोर है। इससे किसी लेखक की अहकार-तुष्टि भले हो जाय, साहित्य को अपेक्षाकृत हानि ही अधिक होती है। समन्वय अवश्य होना चाहिए और मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमे एक समन्वित दृष्टिकोण के रूप मे विकास करने की सम्भावनाएँ भी मोजूद है—परन्तु यह तभी सम्भव है जब प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-सिद्धान्तो द्वारा निरूपित तथ्यो को कोई वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की पद्धति एक सूत्र मे बाँधे—अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का विकास किया जा सकेगा और साहित्य के मूल्यांकन की वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित की जा सकेगी।

—अगस्त १९४६

२

हिन्दी-साहित्य की परम्परा में जीवन-सत्य

साहित्य का समाज से, अर्थात् समाज के जीवन से, गहरा सम्बन्ध है, कम से-कम इतनी बात तो सामान्य रूप से मानी जाती है। विवाद तभी उठ खडा होता है जब इस सम्बन्ध की सुनिश्चित रूप-रेखाये निर्धारित की जाती है। साहित्य समाज का दर्पण है, या साहित्य जीवन की आलोचना है, या जीवन की वास्तविकता का कलात्मक प्रतिबिम्ब है, इन विवाद-ग्रस्त परिभाषाओ पर विचार न करके, हमारे लिए इतना स्वीकार कर लेना ही यथेष्ट होगा कि चाहे जिस प्रकार का साहित्य हो—चाहे किसी जीवन-वृत्त को लेकर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य हो, या नभ के तारो को लक्ष्य करके किसी गीति में अपने हृदय का अवसाद व्यक्त किया गया हो, या किसी हडताल का वर्णन करके न्याय की भावना को उभारा गया हो, या बच्चो के लिए परियो की कहानी हो और दिन भर के काम से थके-माँदे दफ़्तर के बाबू के लिए 'माया' की कहानी या कोई जासूसी उपन्यास हो, या अतृप्त वासनाओ से कुंठित पर सवेदनशील नवयुवक के लिए 'शेखर : एक जीवनी' जैसा उपन्यास हो, या वर्तमान जीवन मे परिवर्तन की आकांक्षा रखने वाले चेतना-प्राप्त व्यक्ति के लिए प्रेमचन्द का 'गोदान' हो, उसमे जीवन के ही विविध अगो की सुकृत अथवा विकृत रूप मे अभिव्यक्ति मिलती है। यदि इतना स्पष्ट है तो हमे यह स्वीकार करने मे कठिनाई न होगी कि साहित्य की परम्पराएँ भी जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति करती है।

परन्तु साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि साहित्य की परम्पराएँ बनती कैसे है ? सम्भव है यह बात आपको मनोरजक लगे कि जब मै विद्यार्थी था और मैंने पहली बार हिन्दी साहित्य का इतिहास पढा तो मै यह सोचकर हैरान रह गया कि साहित्य की हर परम्परा में कई पीढियो के सैकडों कवि थोडा-बहुत करके एक ही विषय पर पचास-सौ बरस तक एक-सी कविताएँ करते रहे। यह बात अवश्य थी कि किसी कवि मे अधिक प्रतिभा थी, किसी मे कम, जिससे उनके काव्य के धरातल मे बडा अन्तर है, और यह भी सच है कि किसी एक परम्मरा के सभी कवियो ने हमेशा एक ही छन्द सामान्य रूप से नही अपनाया तथा उनका शब्द-विन्यास भी भिन्न है और रूपक-उपमाएँ भी निराली और कही-कही मौलिक है। यद्यपि इस दृष्टि से भी उनमे गहरा साम्य मिलता है और इसी से रूपक, उपमा और प्रतीको की परम्पराएँ भी बनी है, परन्तु इन बाह्य साम्यताओ और विभिन्नताओं के अतिरिक्त साहित्य की इन परम्पराओ

में एक दूसरे प्रकार का साम्य मिलता है जिसके कारण ही कोई रचना किसी परम्परा की कही जाती है। यह साम्य है उसकी आत्मा का, जिसको आधुनिक भाषा मे काव्य की भाव-विचार-वस्तु, या कवि का विश्व-बोध कहेगे। उस समय मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठा करता था कि यदि व्यक्तिवादी आलोचको की बात सही मानी जाय कि 'कला कला के लिए' है और सामयिक सामाजिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नही है, तो फिर वीरगाथाएँ लिखने वाले, भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की रचना करने वाले अगणित कवियो के सामने ऐसी कौन सी बाध्यता थी जो उन्होने अपने काल की काव्य-परम्परा के अनुसार ही काव्य-रचना की, और ऐसे कवि इने-गिने ही पैदा हुए जिन्होने इन परम्पराओ से बाहर निकलकर कुछ लिखा हो? हमारे सामने ही छायावादी परम्परा का अन्त और प्रगतिवादी परम्परा का सूत्रपात हो रहा है, और इन दोनो काव्य-युगो की रचनाओ में अगणित कवियो में वैसा ही दृष्टि-साम्य मिलता है। आखिर ऐसा क्यो होता है?

हमारी पहली स्थापना से ही इस प्रश्न का भी उत्तर निकलता है। साहित्य की परम्पराएँ केवल इस कारण बनती है कि साहित्य मे किसी न किसी रूप मे जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है, और चूँकि मनुष्य का जीवन अर्थात् उसका रहन-सहन, उसके रस्म-रिवाज, उसके आचार-विचार, उसके न्याय और धर्म सम्बन्धी विचार और उसकी नैतिकता और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थाएँ रोज़-रोज़ नही बदला करती, इस कारण इस चतुर्दिक वातावरण से प्रभावित मनुष्य के दृष्टिकोण की साहित्य में जो अभिव्यक्ति होती है वह भी तब तक थोड़ा-बहुत करके अपने को दुहराती चलती है जब तक कि जीवन मे कोई मौलिक परिवर्तन न हो गया हो या जब तक रूढ़ियो में जकड़े हुए समाज का विकास इस सीमा तक अवरुद्ध न हो गया हो कि लोग सामान्य रूप से मौलिक परिवर्तन की आकाक्षा करने लगे हो। इस प्रकार साहित्य की प्रत्येक परम्परा समाज के एक दीर्घकालीन अपेक्षाकृत स्थिर जीवन के सत्य को व्यक्त करती है। अतः किसी काल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने के लिए उस काल की साहित्य-परम्परा से परिचित होना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य की परम्पराओ मे हिन्दी-भाषी जनता के जीवन और उसकी विभिन्न भावनाओ की अभिव्यक्ति इतनी सुस्पष्ट और गहरी हुई है कि पाठक के आगे उसके जीवन के विकास-क्रम का इतिहास अपने आप चित्रित हो जाता है।

हिन्दी काव्य में वीर-गाथाओ की परम्परा साहित्य की सबसे प्राचीन परम्परा है और लगभग तीन-चार सौ वर्षो तक कवियो ने इसी परम्परा के अन्तर्गत प्रबन्ध-काव्य या वीर-गीत लिखे। इन ग्रन्थो को 'रासो' कहते है। इस काल की थोड़ी ही रचनाएँ प्राप्त है। परन्तु उसकी मुख्य-मुख्य रचनाओ, जैसे दलपतिविजय के 'खुमान

रासो', चन्दवरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' या जगनिक के 'आल्हा खंड' आदि का अनुशीलन करें तो ज्ञात होगा कि इन वीर-गीतो और प्रबन्ध-काव्यो मे उस समय के राजाओ के पराक्रम, उनके विजय-युद्धो और शत्रु-कन्या-हरण का विस्तृत चित्रण हुआ है। यद्यपि इन रचनाओं में आजकल के उपन्यासो की तरह सामाजिक जीवन के हर स्तर और वर्ग का विशद चित्रण नहीं हुआ है—और ऐसा सम्भव भी नही था क्योकि राज-दरबारो के चारण-भाटो से यही अपेक्षा की जाती थी कि वे राजाओ के पराक्रम और वीरता का गुणगान करेंगे और युद्ध के अवसर पर उन्हे उत्साह दिलायेगे—परन्तु इससे यह बात स्पष्ट है कि उस समय देश मे छोटे-बडे अनेक राजा थे, जो एक दूसरे से लड़ते रहते थे, और इस लडाई के दौरान मे यदि मौका पाते थे तो एक दूसरे की लड़की या बहन का हरण करके विवाह कर लेते थे, अथवा केवल इतना जानना ही कि अमुक राजा के यहाँ एक सुन्दर लडकी है, युद्ध का बिगुल बजाने के लिए पर्याप्त कारण होता था। निश्चय ही उन दिनो दरबारो के जीवन मे निश्चिन्तता का वातावरण नहीं हो सकता। ऐसे समय में एक क्षत्रिय की नैतिकता क्या हो सकती है, 'आल्हा-खड' के निम्न पद से स्पष्ट व्यक्त होती है—

"बारह बरिस लै कूकर जिऐ, औ तेरह लै जिऐ सियार।
बरिस अठारह छत्री जिऐ, आगे जीवन के धिक्कार।।"

परन्तु इन वीर-गाथाओ की परम्परा देश में मुमलमानो की सत्ता स्थापित होते ही एक प्रकार से समाप्त हो गई। लोगो की जीवन-धारा बदल चुकी थी, उस पर नये प्रभाव पड़े थे, नयी और अधिक बौद्धिक समस्याएँ उठ खडी हुई थीं, नयी चेतना जगी थी और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में वस्तु-स्थिति से सामजस्य पाने के लिए परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। जीवन के व्यापक प्रश्नो पर सोचने के लिए जनता पहली बार बाध्य हुई थी, तब उसके ही बीच से कवि उत्पन्न हुए और उन्होने नये जीवन-मूल्य निर्धारित किये, नयी नैतिकता का निर्माण किया। इन विशेष परि-स्थितियो में हिन्दी-साहित्य मे एक बहुत बडी और महान् साहित्य-परम्परा का सूत्र पात हुआ, जिसे हम भक्तिकाल के नाम से जानते है।

भक्तिकालीन काव्य-परम्परा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चार शाखाओ में बाँटा है—ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी (सूफी) शाखा, रामभक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा। व्यापक सामाजिक दृष्टि से इनमे ज्ञानाश्रयी शाखा की परम्परा का महत्त्व सबसे अधिक है, अर्थात् उसमे जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति न केवल सबसे अधिक और स्पष्ट रूप में हुई है, वरन् अधिक उदार और सकल-मानवीय एकता के आदर्श की उसमें उदात्त प्रवृत्ति भी मिलती है। कबीर इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि है। यद्यपि कबीर से पहले अनेक सिद्धो और जोगियो की बानियो मे हिन्दू-मुस्लिम एकता का सदेश

दिया गया था और हिन्दू धर्म की जाति-वर्ण-भेद पर निर्भर आचरण-नियमबद्धता के विरुद्ध मनुष्यमात्र का बराबरी की घोषणा की गई थी, परन्तु कबीर पहले महाकवि और संत हैं जिन्होने अपनी अटपटी वाणी मे इस सदेश को विलक्षण गरिमा प्रदान करके जन-जन की वाणी बना दिया। ज्ञानाश्रयी परम्परा के भक्त कवि कबीर, रैदास और नानक की रचनाओ से यह स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दू और मुसलमानो में आपस मे उतना वैर-भाव नही था, जितना अपनी ही जातियो के दलित और उपेक्षित वर्गों के प्रति उनमे असहिष्णुता का भाव था। इसी कारण ये कवि कर्मकाण्डी पण्डितो और शेख-मुल्लो को निरन्तर खरी-खोटी सुना करके जनता मे एकता और समानता के भाव का प्रचार करते रहे और हिन्दू-मुसलमानो के लिए उपासना का ऐसा स्वरूप निर्दिष्ट करते रहे जो दोनो को मान्य हो सके।

प्रेममार्गी शाखा की परम्परा कदाचित् ज्ञानमार्गी शाखा की प्रतिक्रिया के रूप में शुरू हुई या सूफी मत के प्रभाव के फैलने के कारण। जो भी कारण हो प्रेममार्गी कवियो ने, जिनमें कुतबन और जायसी प्रमुख है, भगवत्-प्रेम का वर्णन लौकिक प्रेम के रूपको के द्वारा किया हैं। इन वर्णनो मे भी उस समय के जीवन की ही अभिव्यक्ति है। यद्यपि कवियो ने अन्योक्ति का प्रयोग किया है, परन्तु उन राजकुमारो और राजकुमारियो का मर्मस्पर्शी वर्णन जो प्रेम, विरह और मिलन के चक्र में फँसकर अपना पूरा जीवन बिता देते थे, यह सिद्ध करता है कि उस समय देश में अपेक्षाकृत अधिक शान्ति थी, गृह-युद्ध तो था ही नही और राजकुमारो को युद्ध-कला नहीं प्रेम-कला सीखने की अधिक जरूरत थी। दूसरी ओर ये रचनाएँ इस बात का भी परिणाम है कि उस समय भक्ति-भावना जोर पकड़ रही थी और लोग धर्म और भगवद्भक्ति को अधिक मानवीय प्रेम-गाथाओ के रूप मे सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकते थे। कबीर की बौद्धिकता की धारा उनके लिए अधिक प्रखर थी।

ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी काव्य-परम्पराओ की विशेषता यह है कि वे साम्प्रदायिक नहीं थी, एक प्रकार से साम्प्रदायिक बधनो को तोडकर मानवमात्र की एकता की घोषणा करती थीं और उदार और व्यापक नैतिकता का प्रचार करती थीं। उनमें जिस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है उसका स्पष्ट उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करना और धार्मिक कट्टरता को मिटाना था। परन्तु इसके पश्चात् राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की जिन साहित्य-परम्पराओ का सूत्रपात क्रमशः तुलसी और सूर ने किया वे व्यापक अर्थों में साम्प्रदायिक थी, अर्थात् उनमें पहली बार हिन्दुओ ने अपनी एकता के स्वरूप को पहचाना। परन्तु तुलसी, सूर या मीरा ने अपनी रचनाओ में मुसलमानो के विरुद्ध नही लिखा, अतः हिन्दुओ की यह चेतना मुस्लिम विरोधी नहीं थी, बल्कि अपने साम्प्रदायिक आदर्शों के आधार पर अपनी एकता पहचानकर

संगठित होने की आवश्यकता से उत्पन्न हुई थी। उस समय देश में मुग़ल शासन ने सामन्ती व्यवस्था को नये ढग से सगठित किया था। ऐसी स्थिति मे तुलसी की 'रामायण' और सूर का 'सूर-सागर' आदि रचनाएँ केवल भक्ति-भावना की सगुणोपासक प्रवृत्ति की ही अभिव्यक्ति नही करतीं, बल्कि उससे भी कही अधिक वे उन मानव-मूल्यों की सृष्टि करती हैं जिनके कारण मनुष्य का जीवन जीने योग्य बनता है। रामायण मे व्यक्त भाई-भाई का स्नेह, पति-पत्नी का प्रेम, वीरता, त्याग, भक्त-वत्सलता आदि के उदाहरण उन मानव-मूल्यो की सृष्टि करते है जिनके लिए कबीर और दूसरे सत कवियो ने आन्दोलन किया था। सूर-सागर मे व्यक्त वात्सल्य और गोपियो के निश्छल प्रेम के वर्णन जीवन को सरस और मानवीय बनाने की प्रेरणा देते है। अत. भक्ति की इन दो परम्पराओ ने जीवन-सत्य की जितनी गहरी और सर्वांगीण अभिव्यक्ति की, वह अभूतपूर्व थी। सकीर्ण साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से देखकर इन रचनाओ के साहित्यिक मूल्यो की बहुधा उपेक्षा की गई है। उनके साहित्यिक मूल्य, जिनके कारण वे अमर रचनाएँ है, उनकी व्यापक मानवीय सहानुभूति के अन्दर निहित हैं। इस व्यापक मानवीय सहानुभूति को तुलसी-सूर ने अपने ग्रन्थो में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति करके व्यक्त किया है। यही उनकी महत्ता है।

भक्ति-परम्परा के पश्चात् हिन्दी मे एक ऐसी काव्य-परम्परा का सूत्रपात हुआ जो सामन्ती व्यवस्था के ह्रासकालीन विलासी राजाओ के दरबार में पनपी और वहीं तक सीमित भी रही। दरबारो का वातावरण इस बीच बहुत दूषित हो गया था। राजा विलासप्रिय थे और आमोद-प्रमोद के साधन जुटाने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। अतः वीर-गीतो या भक्ति-गीतो से उनका मनोरंजन नहीं हो पाता था। वे अनूठी और चमत्कारपूर्ण उक्तियो और नायक-नायिकाओ के सूक्ष्म भेदो का वर्णन करने वाली कविताओ को प्रोत्साहन दे रहे थे। फल यह हुआ कि एक ओर आचार्य केशवदास और फिर उनके पश्चात् सैकडो कवियो ने सस्कृत के लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर रीति ग्रन्थो की रचना की तो दूसरी ओर अगणित कवियो ने राजाओ का मनोरजन करने के लिए शृङ्गार रस की अविरल धारा बहाई। अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल उन्होने श्लील और अश्लील का विचार छोडकर शृङ्गार का मुक्त वर्णन किया है। बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर और घनानन्द आदि इस काव्य-परम्परा के प्रमुख कवि है। रीति-परम्परा के काव्य मे विलासी जीवन की सूक्ष्म शृङ्गारिक रुचि की अभिव्यक्ति मिलती है, इससे अधिक जीवन के अन्य व्यापारो का चित्रण उसमें नही हुआ है।

रीति-परम्परा का अन्त होते-होते हिन्दी का आधुनिक युग शुरू हो जाता है। भारतेन्दु की पीढी के साहित्य में हम जीवन की आधुनिक समस्याओ की अभिव्यक्ति

पाते है, समाज-सुधार की भावना ही उसकी प्रेरणा का केन्द्र है। परन्तु वास्तव में जो महत्त्वपूर्ण साहित्य-परम्परा रीति-काव्य के बाद हिन्दी मे विकसित हुई वह छायावादी काव्य की परम्परा है। छायावादी काव्य मे हम आधुनिक जीवन की विषमताओ के प्रति व्यक्ति के गहरे असन्तोष और मुक्ति-कामना की अभिव्यक्ति पाते है। वर्तमान जीवन का सारा अवसाद, निराशा, सकीर्णता, अनिश्चितता, समाज के सामन्ती बन्धनो की क्रूरता और व्यक्ति के आत्मविकास की सुविधाओ की स्वल्पता के विरुद्ध यह असतोष कभी-कभी इतनी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ है कि कवि ने मुक्ति का अर्थ जीवन से पलायन करना ही माना है। परन्तु यत्र-तत्र इस असामाजिक दृष्टिकोण के बावजूद प्रसाद, निराला, पत, महादेवी, बच्चन की छायावादी काव्य-परम्परा ने आधुनिक जीवन के वस्तु-सत्य की जैसी गहरी और मार्मिक अभिव्यक्ति की है, वैसी प्रगतिशील साहित्य की अभिनवतम परम्परा अभी तक नही कर पाई है, यद्यपि प्रगतिशील साहित्य शोषित वर्गों के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से, केवल व्यक्ति ही नही वरन् पूरे समाज के जीवन के सत्य का चित्रण करने का हौसला लेकर उठा है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी-साहित्य की बड़ी-बड़ी परम्पराओ ने जीवन-सत्य की सर्वदा अभिव्यक्ति की है, यह दूसरी बात है कि वह सत्य कभी मनुष्यमात्र के व्यापक जीवन की एकता का हो या राज-दरबारो के सकुचित वातावरण का, या व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विसगतियो का या भावी जीवन के लिए सघर्षरत शोषित मानवता का।

—जनवरी १९४७

३

हिन्दी-कविता में पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी

पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी संसार की हर भाषा की कविता में मिलते है, और अक्सर स्वतन्त्र रूप से वर्णन के विषय भी बने हैं। यह सब प्रकृति के ऐसे अङ्ग हैं जिनसे मनुष्य का साहचर्य बहुत पुराना है। प्रकृति के जड और चेतन दोनो अङ्गो से मनुष्य का सघर्ष आदिकाल से चला आ रहा है। इस सघर्ष के दौरान मे मनुष्य ने प्रकृति के अनेक निगूढ़ रहस्यो को खोलकर, उसके नियमो को जानकर, उसके अनेक अङ्गो को विजित कर प्रकृति पर अपना क़ाबू ही नही बढाया है बल्कि उसको अपने सामाजिक जीवन को उन्नत, समृद्ध और सश्लिष्ट बनाने मे सहायक या साधन भी बनाया है। मनुष्य के पेचीदा और व्यापक सामाजिक जीवन की जरूरतें भी लम्बी-चौडी होती है। शुरू-शुरू में जब समाज की ज़रूरते थोडी थी, उस समय भी मनुष्य ने जहाँ एक ओर अपने रहने-बसने के लिए जङ्गल काटे, मैदान साफ कर खेत बोये, वहाँ दूसरी ओर पशुओ को कब्ज़े में कर पालतू भी बनाया, ताकि वे मनुष्य के श्रम का कुछ भार उठा सकें। यह काम प्रकृति के साथ मनुष्य के चिरन्तन संघर्ष के अन्तर्गत ही आता है। जब तक प्रकृति के छोटे-मोटे रहस्य भी उसके लिए अज्ञेय थे और अपने चारो ओर के वातावरण पर उसका अधिकार कमज़ोर था, तब तक वह पेड, पौधे, फूल, पशु, पक्षी की गतिविधि से भी भय खाता था और उनके प्रति श्रद्धालु था। इसी कारण प्रारम्भिक कविता में वृक्षो, वनो, पर्वतों और समुद्रो को उर्वरता और उत्पादन के देवताओ का निवास-स्थान, अनेक पशु-पक्षियो को उनका वाहन दिखाया गया है। इन देवताओ को रुष्ट न करने के लिए उनके निवास-स्थानो और वाहनो के प्रति भी श्रद्धा और भय का भाव दिखाया गया है। लेकिन ज्यो-ज्यो सामाजिक जीवन का विकास होता गया और मनुष्य का सामाजिक ज्ञान बढ़ता गया त्यो-त्यो प्रकृति के इन अङ्गो के प्रति श्रद्धामूलक भावना भी कम होती गई और उसके स्थान पर सामाजिक जीवन को तरोताज़ा, समृद्ध और खुशहाल बनाने में सहायता देने वाले प्रकृति के इन अङ्गो के प्रति मनुष्य मे एक दूसरे ही भाव का उदय हुआ। वह उन्हे अब अपने सहचर और साथी के रूप में ग्रहण करने लगा और उनके साथ अपना मानवी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता गया। इसी कारण मनुष्य को उसमें सौन्दर्य के दर्शन होते आये हैं; क्योकि सौन्दर्य की भावना का जन्म मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष से पैदा हुए समाज-सम्बन्धो और सामाजिक क्रियाशीलता की चेतना से होता है,

और मनुष्य ने इस संघर्ष में अनेक पेड, पौधे, फूल, पशु, पक्षियो की सहायता लेकर उन्हे अपने समाज-सम्बन्धो का अङ्ग बना लिया है, और अब मनुष्य के चौबीस घण्टे के जीवन का वातावरण इनके बिना सोचा भी नही जा सकता। गाँवों में तो मनुष्य का वातावरण इनसे भी भरा रहता है। लेकिन बडे-बडे औद्योगिक नगरों में भी—चाहे कृत्रिम रूप से ही सही—मनुष्य ने उन्हे एकत्र किया है. उपयोग के लिए या अपनी श्रम-क्लान्ति मिटाने और मनोरञ्जन के लिए। नगर के अजायबघर या बोटैनिकल गार्डन सिर्फ इस बात का ही प्रदर्शन नही करते कि मनुष्य ने प्रकृति के किन-किन अङ्गो और प्राणियो को काबू मे कर लिया है या उसकी ऊपरी अव्यवस्था को मिटाकर वह उसे व्यवस्था भी दे सकता है, बल्कि वे इस बात को भी सूचित करते है कि उनके प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण है। वे उसके सामाजिक जीवन मे सहायक रहे है और नगर की चहारदीवारी के बाहर आज भी सहायक है। प्रकृति के इन अङ्गो के साथ मनुष्य का साहचर्य जितना पुराना है उतना ही उनके प्रति उसका रागात्मक भाव भी पुराना है। और सामाजिक सम्बन्धो के परिवर्तन के साथ-साथ चाहे यह भाव बदलता गया हो, जिससे ससार की कविता मे उनके प्रति विविध भावो की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन यह एक सत्य है कि मनुष्य के वातावरण के वे एक आवश्यक अङ्ग है और कोई भी कविता उनकी अवहेलना नही कर सकती।

यहाँ एक बात विचारणीय है। किसी भाषा की कविता किसी उस देश मे ही होती है जहाँ पर उस भाषा के बोलने वाले रहते है, और उस देश की भौगोलिक स्थिति के कारण जो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी वहाँ पाये जाते है, उन्ही का वर्णन वहाँ की कविता में मिलता है। इस तरह अलग-अलग देशो में कुछ विशेष पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल वहाँ की विशेषता बन जाते है, क्योकि उनके निवासियो का उनके साथ नित्यप्रति का साहचर्य रहता है। भारत वनस्पति और पशु-पक्षियो का आलय है, इसलिए यहाँ की कविता में अनेक पेड-पौधो और पशु-पक्षियो का वर्णन मिलता है। फारसी की कविता को यदि अपनी बुलबुल पर नाज है और अग्रेजी को अपनी नाइटिङ्गेल, ककू और लार्क पर तो हिन्दी कविता को शुक, सारिका और कोकिला का भी कम गौरव नही है।

हिन्दी भाषा आदि-भाषा नही है। वह सस्कृत-प्रभावित शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रंश से पैदा हुई ह, और सस्कृत यहाँ के आर्यों की भाषा उस समय से रही है जब समाज का विकास अपने प्रारम्भिक काल में था। अत सस्कृत की अनेक परम्पराएँ हिन्दी की प्रारम्भिक और मध्यकालीन कविता मे ज्यो-की-त्यो ग्रहण की गई, और कुछ का प्रभाव तो आधुनिक कविता मे भी मौजूद है।

संस्कृत के कवियो ने प्रकृति का विविध रूप से वर्णन किया है। सस्कृत के

अनेक कवि प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। वनो और उपवनो मे रहकर वे प्रकृति की छटा देखकर तल्लीन होते थे, इसलिए उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन किया है उसमे सूक्ष्म निरीक्षण है। इस वर्णन में उन्होंने अपने अनुभव से देखे अनेक पशु, पक्षियो और फूलो का वर्णन किया है। लेकिन जब भारतीय सामन्ती समाज स्थायित्व पा गया और नियम और कानूनो से समाज की हर गतिविधि को बाँधा गया तो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी जिनका वर्णन पहले के कवि स्वतन्त्र रूप से कर चुके थे, उनको उन्होंने नाम गिना-गिनाकर शृङ्गार के उद्दीपन की श्रेणी मे रख दिया और बाकी अलङ्कार मात्र बना दिये। इससे वर्णन की परम्पराएँ बन गई। जब हिन्दी-कविता का जन्म हुआ तब उसमे भी रीति-ग्रन्थो की शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल ही पेड-पौधो, पशु-पक्षियो का प्रयोग होने लगा। अपने अनुभव से जानकर वर्णन करना हिन्दी के कवियो ने जरूरी न समझा। दृश्यो का स्वतन्त्र चित्रण होना तो बिलकुल ही बन्द हो गया। यहाँ तक कि हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यो मे भी वातावरण का चित्रण करने की जहाँ जरूरत पडी है वहाँ नाम गिनाकर ही काम चलाया गया है। अन्यथा सयोग या वियोग शृङ्गार के रूप में उनका प्रयोग हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' मे कई स्थलो पर प्रकृति का वस्तु-वर्णन बडा भावपूर्ण हुआ है, लेकिन उन्होंने भी परम्पराओ का पालन करते हुए पेड, पशु, पक्षियो के नाम गिनाये है और उनसे उद्दीपन का काम लिया है। उन्होंने 'पद्मावत' मे इतने फल-फूलो, पेड़-पौधो और पशु-पक्षियो का उल्लेख किया है कि उनका गिनना काफ़ी मुश्किल काम है। तुलसीदास जी ने भी परम्परा का पालन किया है, लेकिन वे प्रकृति-चित्रण को एक आध्यात्मिक या नैतिक पुट दे देते थे। इसके अतिरिक्त जहाँ उन्होंने वातावरण का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने पशु-पक्षियो, पेड़-पौधो के अन्दर भी इस गुण की अवस्थिति की है कि वह राम या उनके भक्तो के कार्य-व्यापारो के प्रति सहानुभूति रखते थे। जब राम बन को जाने लगे तो अयोध्या के हाथी, घोडे, हिरन, पशु, पपीहा, मोर, कोयल, तोता, मैना, सारस, चकोर आदि जीव, लताएँ और पेड़ वियोग में विकल होकर चित्र की भाँति खड़े रह गये। पम्पा सरोवर का वर्णन और किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णनो में उन्होंने उपमा द्वारा साधर्म्य स्थापित करते हुए कुछ नैतिक और धार्मिक विचारो का ही पिष्टपेषण किया है, प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन नहीं। इसी तरह उन्होंने सुन्दरता के प्रतीक उपमानो का भी मुक्त रूप से प्रयोग किया है।

लेकिन पहले की हिन्दी की मुक्तक रचनाओ में तो वर्णन-परम्परा के साथ ऐसा खिलवाड़ किया गया कि रीतिकाल के जिस कवि को देखिये वही सयोग या वियोग-शृङ्गार के उद्दीपन के लिए पेड-पौधो, फूल, पशु-पक्षियों को हर्ष या विषाद की भूमि । देकर उनसे कवायद करा रहा है, या नायक-नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में उपमान बनाकर

उनकी झड़ी लगा रहा है। आधुनिक हिन्दी-कविता में यह प्रवृत्ति एक-आध अंश मे अभी तक चली जा रही है। महादेवी जी के काव्य में इन चीजों का वर्णन अधिकतर विप्रलभ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही होता है। पन्त जी या दो-एक और कवियो मे ही प्रकृति-निरीक्षण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति के जो अङ्ग सामाजिक जीवन के उपयोगी भाग थे वे अब तक की हिन्दी-कविता में अलङ्कार बनकर या उसके भावो के उद्दीपनमात्र बनकर आये। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, जिसके कारण वे हमारे सहचर या सहयोगी है, कविता में लेशमात्र ही स्वीकार किया गया।

पहले कहा जा चुका है कि पेड़, फूल, पशु, पक्षियो के बारे में सस्कृत की कविता से ली गई परम्पराएँ ही हिन्दी की कविता मे ग्रहण की गईं। यह परम्पराएँ क्या है और इनका आधार क्या है ? कुछ का आधार पौराणिक है, कुछ का अध-विश्वास और कुछ का साधर्म्य। पौराणिक कवि-प्रसिद्धियो के अनुसार, भिन्न-भिन्न पशु भिन्न-भिन्न देवताओ के वाहन के रूप में स्वीकार किये गये है। जैसे अश्व राम और उनके भाइयो का, उच्चै.श्रवा नाम का घोड़ा सूर्य का, ऐरावत हाथी इन्द्र का, नान्दी शिव का, महिष यमराज का, श्वान भैरव का, मकर वरुण का, गरुड विष्णु का, मोर कार्तिकेय का और मूषक गणेश का वाहन है। रामायण, सूरसागर, महाभारत जैसे पौराणिक विषयो को लेकर चलने वाले काव्य-ग्रन्थो में देवताओ के इन पशु-पक्षी वाहनो का उल्लेख प्रसगानुसार होता आया है और उनके पौराणिक महत्त्व के अनुकूल ही उनके प्रति श्रद्धा भी दिखाई गई है। वृक्षो के बारे में कालिदास के 'मेघदूत' और राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' मे अनेक कवि-प्रसिद्धियो का उल्लेख है जैसे कि सुन्दरियो के पदाघात से अशोक, आलिगन से कुर्वक, मृदुहास से चम्पक, नृत्य से कर्णकार आदि कुसुमित हो जाते है। लेकिन हिन्दी की कविता ने इस परम्परा को ग्रहण नही किया, क्योकि जिन परिस्थितियो में हिन्दी की कविता का जन्म हुआ उनमें स नवीय प्रेम-गाथाओं के लिए अवकाश न था। चातक, चकोर और चक्रवाक् पक्षियो के बारे मे भी कवि-प्रसिद्धियाँ है। चातक केवल स्वाति बूँद ही पीता है। चाहे जितनी घनघोर वर्षा हो या नदी-तालाब भरे हो वह प्यासा ही बना रहता है और स्वाति बूँद के बिना पी-पी की रट लगाकर अपने प्राण गँवा देता है। चकोर को चाँदनी प्रिय है। वह उसी का पान करता है, और जब चन्द्रमा नही रहता तब वह व्याकुल तड़पता रहता है। चक्रवाक् पक्षी का जोड़ा दिनभर तो साथ रहता है लेकिन रात को अलग हो जाता है। वियोग-शृङ्गार के वर्णन में इन पक्षियो की उपमा देना हिन्दी कवियो की परम्परा रही है, और वे उद्दीपन के रूप मे भी लाये गये है। जायसी, तुलसी, सूर से लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तक के काव्यो में इन पक्षियो का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

फूलों के बारे मे भी कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ है। जैसे कुमुद दिन में विकसित नहीं होता, अर्थात् उसे चाँदनी ही प्रिय है; या कमल दिन में ही खिलता है, यानी उसे रात्रि प्रिय नही है और सूर्य के आगमन से उसका हृदय खिल उठता है। नायक-नायिका के हर्ष-विषाद के वर्णन में कुमुद और कमल के इन गुणो की उपमाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलती है।

अलकारो के रूप में तो पुष्पो की खास तौर पर खूब खींचातानी हुई है। नारी शरीर के विभिन्न अगो के उपमेय ढूँढ़ने मे कवियो और आचार्यों ने बड़े सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। यह उपमेय नारी-शरीर के अपेक्षित गुणो से साधर्म्य रखने वाले फल-फूल है। जायसी, सूर और तुलसी में तो इनका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ ही है लेकिन रीतिकालीन कविता मे उनकी झडी लगाई गई है। जहाँ स्त्री के रग की जरूरत पडी वहाँ चम्पा और केतकी, मुखमडल के लिए कमल, नेत्रो के लिए नील कमल, खजन और चकोर; अधरो के लिए बन्धूक पुष्प; दाँतो के लिए कुन्दकली; बाँहो के लिए मृणाल नाल; हाथो के लिए पद्म; वक्षो के लिए कमल, चक्रवाक्; उरु के लिए कदली-स्तम्भ; चरणों के लिए कमल आदि उपमाएँ पेश कर दी। इनमे से बहुत से उपमान पुरुषो के सौन्दर्य-वर्णन में भी आते है। हिन्दी-कविता मे कमल के फूल का सबसे अधिक महत्त्व है। शरीर के हर अग की उपमा उससे दी गई है; ऐसे स्थल भी मिलते है जहाँ एक ही पक्ति मे उससे चार-चार उपमानो की कवायद कराई गई है जैसे 'नवकज-लोचन कज-मुख कर-कंज पद-कजारुणम्'।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यो मे पेड़-पौधो, पशु-पक्षियो और फूलो का एक और परम्परा के अन्तर्गत वर्णन हुआ है, और वह परम्परा है उनके शुभ-अशुभ लक्षणो की। किसी उत्सव का वातावरण दिखाने के लिए अशोक, आम्र, मौलश्री, बेल, कदली, चन्दन आदि वृक्षो; कमल, चम्पक, शेफाली, मालती आदि फूलो; गौ, गज, अश्व, मृग आदि पशुओ, हस, मोर, भारद्वाज, नीलकठ, कोकिल, खजन, शुक, भुजंग, कबूतर, पिड़की आदि पक्षियो की उपस्थिति दिखाई जाती है। किसी दुर्घटना की पूर्व सूचना देने या उसके बाद का वातावरण दिखाने के लिए नीम, बबूल, बेर, इमली आदि अपशकुन-सूचक पेडो का नाम लिया जाता है, पशुओ मे बिल्ली, कुत्ता, लोमडी, गीदड़, नेवला, भैंसा, बन्दर, साही, स्यार और पक्षियो में उल्लू, चील, गिद्ध, बाज आदि आते है।

अब तक हमने पेड़-पौधो, फूल, पशु-पक्षियो के वर्णन की परम्पराओं का जिक्र ही ज्यादा किया है। क्योकि मेरा उद्देश्य यह बताना था कि हिन्दी की कविता मे उनका वर्णन किस रूप मे हुआ है और उनका क्या महत्त्व है। महत्त्व होने से ही कवि-प्रसिद्धियाँ और परम्पराएँ बनती है, इसलिए उन्हे समझ लेना जरूरी था।

आजकल की छायावादी या प्रगतिवादी कविता ने इन परम्पराओं को या तो

छोड ही दिया है या हेर-फेर करके अपनाया है। छायावादी कवियो ने बहुत हद तक उद्दीपन के रूप मे ही प्रकृति के इन अगो का वर्णन किया है, लेकिन उसमे नायक या नायिका का स्थान कवि ने स्वय ले लिया है। दूसरे, चूँकि छायावादी कविता समाज के प्रति व्यक्ति के मुक्तिकामी असन्तोष की कविता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोषणा करती है, इसलिए उसमे प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण भी हुआ है जिसमे प्रकृति को ही आलम्बन माना गया है।

आधुनिक कविता मे पाश्चात्य समाज के सम्पर्क मे आने से कई नये पुष्पो और वृक्षो का वर्णन होने लगा है, लेकिन अपरिचित होने के कारण कविता मे उनका कोई महत्त्व नहीं हो पाया है। यह विचारणीय है कि हमारे अधिकाश कवि नगरो में रहते हैं, और उनका ग्राम-जीवन से ऐसा-वैसा ही सम्बन्ध है। इसलिए उनकी कविता में पशुओ का वर्णन नही के बराबर है और वृक्षो का उल्लेख भी कम होता जा रहा है। पुष्पो में भी उन्ही का उल्लेख ज्यादा रहता है जो नगर में यत्न से लगाये बगीचो और पार्कों में मिलते है। पन्त जी ने 'ग्राम्या' में गाँवो मे मिलने वाले बहुत से पेड-पौधो और पक्षियो का वर्णन किया है। लेकिन ऐसे वर्णन बहुत कम है। तो भी छायावादी और प्रगतिशील कविता की सहज प्रवृत्ति प्रकृति का निरीक्षण करने की ओर है, यद्यपि इस निरीक्षण मे शहरीपन ही ज्यादा है। इसलिए जब तक हमारे कवि विशाल प्रकृति को एक झरोखे से देखने की आदत छोडकर उसे उसके बडे आँगन में घुसकर नही देखेंगे तब तक वे उसके उन अगो, उन पेड-पौधो और पशु-पक्षियो का ऐसा व्यापक वर्णन नही कर सकते जिसमें हमारे सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाने वाले इन सहचरो का उनके नये उपयोगो की दृष्टि से सम्पूर्ण सौन्दर्य प्रकट हो सके और वे हमारे राग-तन्तुओ को छूकर हमे तल्लीन कर सके।

—नवम्बर १९४१

४

हिन्दी का नया आख्यान साहित्य और मनोविश्लेषण

साहित्य और कला जीवन-वास्तव को मूर्त्त और वैविध्यपूर्ण ढँग से प्रतिबिम्बित करती है। जीवन वास्तव के अन्तर्गत व्यक्ति का सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन आ जाता है। कला का यह सामान्य धर्म रहा है । आदिकाल से श्रेष्ठ कलाकार वस्तून्मुखी रहे है, या कहें कि वस्तून्मुखी कलाकार की महानता प्राप्त कर सके है। उन्होने समाज-वास्तव के साथ ही साथ अंगागिरूप में मनुष्य के मनोवैज्ञानिक सत्य को भी प्रतिबिम्बित किया है । आख्यान साहित्य में विशेष रूप से श्रेष्ठ कलाकारो ने अपने युग और समाज की इतिहास निर्दिष्ट केन्द्रीय समस्याओं का कलात्मक उद्घाटन किया है और साथ ही उन समस्याओं से जूझने वाले पात्रो की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं का भी गहरा और मार्मिक चित्रण किया है। जीवन-वास्तव के ये दोनों पक्ष है। मानव-जीवन के इस संपूर्ण अन्तर और बाह्य सत्य को प्रतिबिम्बित करके ही कोई रचना कलाकृति बनती है और मानव-जीवन में निहित संभावनाओ को उद्घाटित कर पाती है। सार्थक और सर्वजन-सवेद्य होती है। कला की इस यथार्थवादी परम्परा का सम्यक विकास करके ही डिकन्स हार्डी, बाल्ज़क, तॉलसताय, तुर्गनेव, रवीन्द्रनाथ, शरत्, गोर्की आदि कलाकारो की श्रेणी में आ सके है।

किन्तु फ्रायड ने कला की इस ऐतिहासिक यथार्थवादी परम्परा को उलटकर एक मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य सिद्धान्त की स्थापना की। उसके अनुसार कला एक विक्षिप्त और विक्षुब्ध मानस की उपज है । कलाकार एक अभिशप्त व्यक्ति है जो प्रवृत्ति से ही अन्तर्मुखी होता है । वह समाज में अपना सामंजस्य पाने में असमर्थ रहता है, इसलिए यथार्थ से पलायन करके वह अपने कल्पनालोक में शरण लेता है। वह यश, प्रभुता, धन और स्त्रियों का प्रेम पाना चाहता है, किन्तु उसके पास साधन नहीं होते । साधारण विक्षिप्त तो इन काम्य वस्तुओ के दिवा-स्वप्न देखकर ही परितुष्ट हो रहता है, पर कलाकार का अन्तःकोष इतना विपन्न और रिक्त नही होता । वह अपने दिवा-स्वप्नो को मूर्त्त अभिव्यक्ति देना जानता है। वह उनका उदात्तीकरण कर लेता है जिसके पीछे व्यक्ति-स्वर छिप जाता है और ये दिवास्वप्न सब के लिए सुखदायी बन जाते है। फ्रायड के अनुसार कल्पना-जगत से पुनः यथार्थजगत की ओर लौटने का पथ ही कला है । कला जीवन-वास्तव को नहीं, बलिक व्यक्ति के दिवा-स्वप्नों को ही प्रतिबिम्बित करती है। कलाकार मे कुछ ऐसी रहस्यशक्ति होती है जो व्यक्ति मानस

की इन प्रतिक्रियाओं को आकर्षक रूप प्रदान कर देती है कि वे चाहे कितनी असामाजिक और अनैतिक क्यो न हो, उनमे सौन्दर्य का गुण पैदा हो जाता है और उसके रसास्वादन से व्यक्तियो के अह के बीच की दीवारे ढह जाती है । सब के अह एक सामूहिक अहं के रूप मे सहृत हो जाते है, मानसिक तनाव ढीले पड जाते है और पाठको या दृष्टाओ को एक उच्चकोटि का सुख प्राप्त होता है। लेखक को अपनी जगह यश, प्रभुता, धन और स्त्री-प्रेम का लाभ हो जाता है । यह तो हुआ कला-सर्जन की प्रक्रिया का फ्रायडीय विश्लेषण।

किन्तु इस से अधिक महत्त्वपूर्ण फ्रायड का मनोविश्लेषण का सिद्धान्त है। वह व्यक्ति की चेतना के तीन स्तर स्वीकार करता है। पहला स्तर 'इड' (Id) का है जो हमारे व्यक्तित्व का निगूढ और अज्ञात जैवी क्षेत्र है । यह नकारात्मक, अराजक, उच्छृ खल आवेगो का खौलता कुण्ड है । नियम, तर्क और विचार से शून्य, काल-देश की मर्यादाओ से अनभिज्ञ, अपरिवर्तनीय, सत्यासत्य और पाप-पुण्य की नैतिक धारणाओं से उदासीन, यह स्तर केवल आदिम शक्ति का चिरतन स्रोत है। केवल 'सुख-सिद्धान्त' ही इसका निर्देशक है। दूसरा स्तर 'अहं' का है जो सुख-सिद्धान्त को त्यागकर 'यथार्थ' सिद्धात को अपनाता है । अर्थात् वह सामाजिक है। विचार, स्मृति और अनुभव की मध्यस्थता से वह सगठन, नियम, संयम आदि का परिपालन करता है और सत्य-असत्य का भेद करने मे समर्थ है । तीसरा स्तर 'सुपर-ईगो' (Super-Ego) का है। सुपर-ईगो, आत्म-निरीक्षण, अन्तःकरण, नैतिक धारणाओ, सामाजिक आदर्शवाद एव जीवन की उच्चतर अभिलाषाएँ लेकर पूर्णता की ओर उन्मुख व्यक्ति की चेष्टाओ का प्रतीक है । किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की चेतना सुपर-ईगो के आत्मत्यागी, समाजोन्मुखी धरातल तक ऊँची नहीं उठ पाती, क्योंकि चेतना का ऐसा उदात्त सस्कार तभी संभव है जब व्यक्ति पूर्ण रूप से अपने सामाजिक जीवन में सामंजस्य पा जाये। प्रायः होता यह है कि बाल्यकाल की क्षुधा-काम की अन्ध-वृत्तियाँ सामाजिक वर्जनाओं से कुण्ठित होकर व्यक्ति की चेतना के विकास को किसी मध्य-स्तर पर ही जड़ीभूत कर देती है, जिस से 'ओडीपस कॉम्प्लेक्स' अर्थात् पिता के प्रति शत्रुभाव; स्वरति अर्थात् अपने शरीर के प्रति मोह या हीन भावना जैसी अनेक मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है। फ्रायड का मनोविश्लेषण-शास्त्र व्यक्ति की मानसिक विकृतियो के अध्ययन और निराकरण की एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली है। इसकी वैज्ञानिकता के बारे में विद्वानो में गम्भीर मतभेद है। जीवन की वास्तविकता केवल इतनी ही नहीं है। मानसिक दृष्टि से स्वस्थ और पूर्णतः विकसित व्यक्ति भी आज के वर्ग-समाज में पूर्ण सामंजस्य पाने और अपनी क्षमताओं का विकास करने में असमर्थ है । वस्तुतः इस असामंजस्य की जड़ें अधिक गहरी है, और

उनका मनोवैज्ञानिक निदान ही पर्याप्त नहीं है।

इस व्यापक तथ्य की अवहेलना करके अनेक उपन्यासकारों ने फ्रायडीय मनोविश्लेषण को ही ध्रुव-सत्य मान लिया है। वे अपनी रचनाओं में वास्तविकता को प्रतिबिम्बित न करके व्यक्तिमानस की वासनाजनित कुण्ठाओं को ही रूपायित करते हैं। एक प्रकार से ये रचनाएँ फ्रायडीय मनोविज्ञान के कथा-रूप में दृष्टान्त उपस्थित करती हैं। उनमें ऐसे अभिशप्त पात्रों का चित्रण किया जाता है जो आत्मनिष्ठ, असामाजिक और अनैतिक हैं। इस प्रवृत्ति को तार्किक औचित्य प्रदान करने के लिए कहा जाता है कि कला के क्रमिक विकास की दृष्टि से नये उपन्यासों में वृत्त और चरित्र-चित्रण के स्थान पर लेखक का दृष्टिकोण ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि जीवन की जटिलता बढ़ गई है और विज्ञान की ईजादों और युद्धों की विभीषिकाओं ने जीवन के प्रति मनुष्य में अनास्था और अनिश्चितता की भावना भर दी है। नये आख्यानों में मानव-उद्योग और नियति का संघर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, क्योंकि व्यक्ति का मानस ही एक परिस्थिति बन गया है जहाँ वासनाओं और विचारों का संघर्ष अविराम जारी है। व्यक्तिमानस का यह अन्तर्द्वन्द्व ही नये उपन्यासों की विषय-वस्तु है। इसे चित्रित करने में ही कला की सार्थकता है। इसलिए नये उपन्यासों में प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (टाइप्स) के स्थान पर विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं का ही चित्रण होता है। पुराने ढंग के उपन्यासों में यदि समाज-विश्लेषण होता है तो आधुनिक उपन्यासों में व्यक्ति का मनोविश्लेषण होता है। यह नये-पुराने का भेद वस्तुतः कृत्रिम है और यह सारा तर्क फ्रायड के कल्पना-जन्य दिवास्वप्नों को प्रतिबिम्बित करने वाले कला-सिद्धान्त का ही रूपान्तर मात्र है। इसलिए स्पष्ट है कि यदि जीवन-वास्तव को रूपायित करने का प्रश्न ही न रहे तो लेखक अनिवार्यत रूप और टेकनीक के माध्यम से स्वयं अपने ही जीवन-वृत्त को लेकर मनोविश्लेषण में प्रवृत्त होंगे और अपने अनुरूप पात्रों के प्रति मोहासक्त होकर उनके अहंकारी, दायित्व-हीन, अनैतिक और स्वेच्छाचारी आचरण को उनकी अभिशप्त आत्मा का परिणाम सिद्ध करके उन्हें अतिरिक्त महिमा से मण्डित करेंगे। हिन्दी के नये आख्यान साहित्य में जहाँ मनोविश्लेषण है, वहाँ यह प्रवृत्ति भी है और आत्म-चरितात्मक उपन्यासों की संख्या बढ़ती जा रही है।

इस दृष्टि से लिखे गये उपन्यासों के बारे में एक बात और विचारणीय है। वह यह कि उनकी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति हमारे अपने राष्ट्रीय जीवन के ह्रास-विकास की वास्तविक परिस्थितियों से उतनी प्रभावित नहीं है, जितनी कि वह एक विशेष पाश्चात्य धारा का अनुकरण है। विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषिकाओं ने हमारे सामाजिक जीवन को झकझोरा और बदला अवश्य है, लेकिन राष्ट्रीय

चेतना और राष्ट्रीय आन्दोलन की व्यापकता के कारण लोग संबलहीन होने की भावना से कभी आक्रान्त नहीं हो पाये। प्रत्युत यहाँ के बुद्धिजीवी अधिकांशतः जर्जर सामन्ती समाज-सम्बन्धो और अंग्रेजी साम्राज्य की गुलामी से मुक्ति पाने के लिए आमूल परिवर्तन के आकांक्षी रहे है, और अपने देश के सर्वतोमुखी पुनर्निर्माण मे भाग लेने के लिए युद्ध के विरोधी और समता, शान्ति और जनवाद के समर्थक रहे है। हमारे राष्ट्रीय जीवन की विशिष्ट परिस्थितियो में व्यष्टि और समष्टि का अन्त-र्विरोध हमारे उदारचेता मनीषियो को कृत्रिम और कल्पित ही लगा है। दोनों के सामंजस्य और समन्वय मे ही रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द ने युग-सत्य के दर्शन किये। मनुष्य मे उनकी अटूट आस्था और न्याय, समता, शान्ति पर आधारित जीवनादर्शों और उज्ज्वल भविष्य मे उनके अदम्य विश्वास का यही कारण है। लेकिन पाश्चात्य सभ्यता, जिसका तात्पर्य वस्तुत. यूरोप के साम्राज्यवादी-पूंजीवादी देशो की सभ्यता है, इस युग मे ह्रासोन्मुखी और विघटनशील है। वहाँ के मध्यवर्गीय विचारको और लेखको के हृदय में पहले महायुद्ध के बाद से ही एक मरणान्तक भय व्याप्त रहा है—क्या अन्त आ गया? पाश्चात्य सभ्यता (साम्राज्यवादी उपजीवी सभ्यता) का विघटन हो रहा है, एशियाई आदिम और बर्बर सभ्यताएँ (अपने राष्ट्रीय आन्दोलनो की सफलताओ के कारण, जिनमें रूस की समाजवादी क्रान्ति, भारत का असहयोग आन्दोलन और चीन का राष्ट्रीय युद्ध भी सम्मिलित है) सिर उठा रही है और उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के विरुद्ध अभियान कर दिया है—तो क्या इस उथल-पुथल, क्रान्ति और अराजकता मे अब पाश्चात्य सभ्यता का कुछ भी शेष नही रहेगा? हेनरी जेम्स इस अराजकता को सार्वभौम मानकर विश्वासघात की भावना—यहूदा कॉम्प्लैक्स—से पीडित था। हर्मन हेस, पॉल वलेरी, ऑसवल्ड स्पेंगलर और टी एस ईलियट पाश्चात्य जीवन में छायी अनिश्चितता और आध्यात्मिक शून्यता की भावना से आक्रान्त हो गये। उन्होने अपनी कृतियो द्वारा जनतन्त्र को कोसना और एक शासन-कर्त्ता वंशानुगत अभिजातवर्ग की आवश्यकता का प्रचार करना शुरू किया—एक प्रकार से फाशिज्म का समर्थन किया। हमारी दृष्टि से उनकी यह कुंठा, अनास्था, निराशा, मृत्यु-कामना, पर-पीडन और अहंवाद की मानवद्रोही भावनाएँ और प्रवृ-त्तियाँ, जो काफ्का, कीर्कगार्ड, अल्डूस हक्सले और इन लेखको की कृतियों मे मिलती है, जिनको व्यक्त करने के लिए आधुनिक पाश्चात्य साहित्य ने मनोविश्लेषण की पद्धति को स्वीकार करके व्यक्ति-मानस के असंबद्ध, उलझे, जटिल और दुरूह चेतना-प्रवाह को शब्दो मे चित्रित करना चाहा है—यह सब जहाँ इन पाश्चात्य विचारकों के मानवद्रोह की सूचना देती है, वहाँ हमारे राष्ट्रीय उत्थान और हमारी प्रगतिशील आकांक्षाओ की विरोधी भी है। इसलिए जब हम किसी भारतीय लेखक

को आधुनिक पश्चात्य साहित्य की इन मानवद्रोही प्रवृत्तियो से प्रेरणा लेकर मनो-विश्लेषण के नाम पर, विज्ञान की ईजादो और युद्ध की विभीषिकाओ की दुहाई देकर, मनुष्य की अधर्मताओ, कुत्साओ और कुठाओ का चित्रण करते देखते है—मानो यही हमारे राष्ट्रीय जीवन का एकान्त सत्य हो—तो हमें शंका होती है कि इस लेखक के हृदय मे देशभक्ति और मानव-प्रेम का अंकुर यदि सर्वथा मुरझा नही गया है, तो कम-से-कम उसके आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद ने उसे गुमराह जरूर कर दिया है। उन देशी और विदेशी महान् लेखको की परम्परा से विच्छेद करके, जो जीवन-वास्तव को चित्रित करते समय मानव-मगल की कामना से सामाजिक अन्याय, अनीति और अत्याचार को नंगा करते थे, वह मनोविश्लेषण का आश्रय लेकर, अल्बर्ट डुरर के नग्न चित्र की तरह (जिसके नीचे उसने लिखा था—"वहाँ जहाँ मेरी उँगली इशारा कर रही है, उस पीले धब्बे की जगह, पीडा होती है") नाम-धाम बदलकर, अपना आत्मचरित्र लिखने लगा है, अपने को नगा करके दिखाने लगा है, कि देखो सामाजिक प्राणी बनने से यहाँ पीड़ा होती है !

'शेखर : एक जीवनी' इस परम्परा का पहला उपन्यास है। अज्ञेय ने शेखर को जन्मजात विद्रोही के रूप मे चित्रित किया है। वह आरम्भ से ही संस्थाओ के प्रति, स्वयं अपने व्यक्तित्व के प्रति विद्रोही है। वह 'एेतादृश्य' मात्र का विरोधी है। उसकी विद्रोह-भावना को उदात्त जीवन-दर्शन का आधार देने की चेष्टा की गई है। इस विद्रोह को निर्माण का पर्याय बताया गया है। किन्तु यदि मनोविश्लेषण शास्त्र का दृष्टि से देखें तो शेखर एक ऐसा अभिशप्त व्यक्ति है जिसकी चेतना 'इड' (Id) और 'अहं' के स्तरो के बीच मे ही कही जडीभूत हो गई है। 'सुपर ईगो' (Super-Ego) का मानवीय विवेक तो उसे छू भी नहीं गया। इसीलिए अपने आचरण मे वह इतना अनुदात्त, कृतघ्न, स्वार्थी, नृशस और परपीड़क है। उसके जीवन में अनेक लडकियाँ आती है, लेकिन समाज की नैतिक मर्यादाओ के कारण उसे अपनी काम वृत्तियों का दमन करना पड़ता है। उसका आहत अहकार इससे और भी उद्धत और असहिष्णु बनता जाता है। और जब उसकी मौसेरी बहन शशि, उसके प्रति अपनी आसक्ति के कारण, पति द्वारा परित्यक्त होकर उसकी शरण मे आती है तो शेखर उसे अपनी सहानुभूति नहीं देता। वह शशि को अपनी अहतृप्ति का साधन बनाता है। शशि अपना सब कुछ समर्पण करके भी शेखर से उपेक्षा और पीड़ा ही पाती है, फिर भी लेखक अपनी तटस्थता छोड़कर शेखर के नृशस व्यवहार को ही औचित्य और सहानु-भूति देता गया है। वस्तुतः यही शेखर 'अज्ञेय' के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' में भुवन के नाम से सामने आता है। भुवन क्रान्तिकारी और विद्रोही नही है। वह एक वैज्ञा-निक है, किन्तु वह भी शेखर की ही तरह असामान्य प्रतिभा का अनुत्तरदायी और

आत्मनिष्ठ नायक है । उसके सम्पर्क मे आने वाले सभी उसे देवता मानकर अपनी श्रद्धा का नैवेद्य चढाते है। वह जैसे पाने का ही अधिकारी है, बदले में देने का उत्तर-दायित्व न उसे मान्य है और न कोई उससे इसकी आशा रखता है। रेखा और गौरा उसके प्रति समर्पित होती है और भुवन अपनी वासना-तृप्ति के लिए पहले रेखा, फिर उसे त्यागकर गौरा के प्रति समर्पित होता है । अपनी प्रेमिकाओ के प्रेम की स्वीकृति या तिरस्कृति के बीच भुवन ज्यो का त्यो बना रहता है, अन्तरात्मा का उसमें विकास नहीं हुआ कि वह उसे कभी धिक्कारे। इस प्रकार हम देखते है कि इन उपन्यासो में पात्र एक विशेष साँचे मे ढले-ढलाये ही सामने आते है। आदि से अन्त तक वे इस साँचे का अतिक्रमण नही कर पाते । घटनाएँ और परिस्थितियाँ उनसे चारित्रिक विकास में सहायक नही होतीं। वस्तुतः उनकी संयोजना इस साँचे के भीतर पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओ का प्रकृत चित्रण करने की सुविधा प्रदान करने के लिए ही की गई है। किन्तु जहाँ साँचो का प्रयोग हो वहाँ रचना में क्या सामाजिक सत्य और क्या मनोवैज्ञानिक सत्य, दोनों में से कोई भी प्रवेश नहीं पा सकता।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो में भी कुण्ठाग्रस्त पात्रो के रुग्ण मानस को औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न है। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यासों मे पाठको को ऐसे ही पात्रो का चित्रण मिलता है । जोशी जी के पात्र हीन-भावना, मातृरति, स्वरति आदि मानसिक विकृतियो के शिकार होते हैं । इस अवस्था में वे नैतिक मर्यादाओ का उल्लघन करके पूर्ण स्वच्छन्दता से, अपने पाशविक और हिंस्र रूप में समस्त मानवीय सम्बन्धो को ठुकराते हुए, केवल अपनी स्वार्थसिद्धि और भद्र और अभद्र नारियों के साथ काम-तृप्ति करते फिरते है । उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ पिता के यह कहने पर कि वह उनका अवैध पुत्र है, विक्षिप्त हो उठता है। अपनी माँ के दुराचरण की बात जानकर वह समस्त स्त्री जाति के सतीत्व पर ही सन्देह नही करने लगता, बल्कि अपने सम्पर्क मे आनेवाली प्रत्येक स्त्री का सतीत्व भी हरण करता है । इसमें उसे एक पाशविक आनन्द आता है । किन्तु अन्त मे उसे ज्यो ही पता चलता है कि पिता ने झूठ बोला था, और उसकी माँ तो साध्वी थी, त्योंही वह आत्मग्लानि से भरकर एक वेश्या से विवाह कर लेता है, और सद्गृहस्थ बन जाता है । ऐसे मनोवैज्ञानिक तिलिस्म उनके अन्य उपन्यासों में भी मिलते हैं।

हिन्दी के अन्य उपन्यासकारो में अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की तरह इतने सीधे ढंग से मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। किन्तु वैसे फ्रायडवादी न होते हुए भी फ्रायड के सिद्धान्तो से न्यूनाधिक प्रभाव तो अनेक लेखकों ने ग्रहण किया है।

कुछ लेखकों के मन में फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र ने यह धारणा बैठा दी है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, क्षुद्र और अवसरवादी है। यह ऊँचे-ऊँचे आदर्शों और नैतिक मूल्यो का आडम्बर केवल इस क्षुद्रता और स्वार्थपरता को छिपाने के लिए है। वस्तुत सभी वर्गों के प्राणी इन आदर्शों की आड में अपने वर्गगत नही बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थों की ही सिद्धि चाहते है। उनकी कृतियो मे वर्तमान समाज की खोखली नैतिकता का पर्दाफाश तो होता है, किन्तु साथ ही मनुष्य का सत्य, उसकी उच्चतर मानवीय विकास-सम्भावनाओ का सत्य भी छिप जाता है, और पढकर मन में एक अनास्था, विरक्ति और कुण्ठा की भावना पैदा होती है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढे रास्ते' और 'आखिरी दाँव' में, उपेन्द्रनाथ अश्क के नवीनतम उपन्यास 'गर्म राख' में और एक सीमा तक डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' में मनुष्य प्रायः इसी रूप मे चित्रित हुआ है।

अन्त में नये आख्यानो में मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति की मूल्य क्तने की यदि हम चेष्टा करें तो इस परिणाम पर पहुँचेगे कि इससे चरित्र-चित्रण में यान्त्रिकता और एकांगिता आ गई है। वस्तुत यथातथ्यवाद का ही यह मनोवैज्ञानिक रूप है। यशपाल और जैनेन्द्र जैसे समर्थ कलाकार आज भी अपने-अपने ढग से जीवन-वास्तव को समग्र रूप मे प्रतिबिम्बित करने में सचेष्ट है। उनकी कृतियो मे समाज-सत्य और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक-सत्य को अगागिरूप मे ग्रहण किया जाता है। किन्तु मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति समाज-सत्य का तिरस्कार करके केवल साँचो में ढले-ढलाये व्यक्ति-पात्रो का ही चित्रण करती है, जिससे मनोवैज्ञानिक सत्य भी एकागी और विकृत हो जाता है, और ये रचनाये सर्वजन-सवेद्य कलाकृति की ऊँचाई नही छू पाती। म नव-जीवन की पुनीतता और सभावनाओ की उपेक्षा करके कला अपने कर्म से च्युत ही हो सकती है।

—जुलाई १९५३

५

एकांकी नाटक

इसमे सन्देह नहीं कि आधुनिक एकाकी नाटक अपनी विषय-वस्तु, रूप-विधान और शैली के कारण कला का एक स्वतन्त्र रूप बन गया है । लक्षण-ग्रन्थों में दिये गये विविध नाटक-भेदो में से किसी के अन्तर्गत आधुनिक एकाकी को रखना सम्भव नहीं है, इसलिए कुछ लोगो की यह धारणा है कि आज के यन्त्रयुग की तीव्र गतिशीलता और अवकाशहीन व्यस्तता के परिणामस्वरूप ही एकांकियो का जन्म हुआ है । मुक्तक, गीति, कहानी, एकाकी, रेखाचित्र, गद्यकाव्य—साहित्य के इन लघु रूपो का इतना सीधा सम्बन्ध आज के द्रुतगामी जीवन से जोडना या इन्हे आधुनिक समाज का प्रतिनिधि रूप-विधान सिद्ध करना आशिक रूप से ही सत्य कहा जा सकता है । क्योकि, यदि देखा जाय तो वास्तव में उपन्यास ही इस युग का प्रतिनिधि महाकाव्य है, जिसमें आज का जटिल द्वन्द्वपूर्ण सामाजिक जीवन समग्र रूप से प्रतिबिम्बित होता है । देश और काल की परिस्थितियो से, विषय-वस्तु की ही तरह, कला के रूप-विधान भी प्रभावित होते है, परन्तु ये प्रभाव एकपक्षीय नहीं होते, न केवल मात्र परिस्थिति-जन्य ही होते है । कहने का तात्पर्य यह है कि समाज और साहित्य के इतिहास की परम्पराओ से भी हर नया विकास प्रभावित रहता है । आज के एकाकी नाटक का रूप तो आधुनिक है, लेकिन यह कहना गलत होगा कि वह सर्वथा नया है और प्राचीन नाट्य-परम्परा से उसके सूत्र नही जोडे जा सकते।

प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में रूपक और उपरूपको के जो भेद गिनाये गये है उनमे से भाण, व्यायोग, अंक, वीथी और प्रहसन—ये पॉच एकांकी रूपक-प्रकार है । इन एकांकी रूपको की तुलना अंग्रेजी के कर्टेन रेजर (Curtain Raiser) या आफ़्टर पीसेज (After Pieces) से नही की जा सकती, क्योंकि कर्टेन रेजर या आफ़्टर पीसेज १८वीं-१९वी शताब्दी के इंगलिस्तान में मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने से पहले या बाद मे दर्शको का समय काटने के लिए दिखाए जाते थे । उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न होता था और वे अधिकतर भाण और प्रहसन से मिलते-जुलते थे । इसलिए प्राचीन एकांकियो की यदि किसी से तुलना की जा सकती है तो प्राचीन ग्रीस और प्राचीन इटली के लघु-प्रहसनों से, जो स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए थे । हिन्दी के आधुनिक एकाकी नाटकों का सम्बन्ध हम सस्कृत के प्राचीन रूपको से जोड़ सकते है । यद्यपि आधुनिक एकांकी विषय-वस्तु और कला की दृष्टि से

प्राचीन एकांकी रूपकों से बहुत आगे विकास कर आया है, फिर भी इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी मे नाटको की परम्परा का सूत्रपात करने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जो एकांकी लिखे उनमें से 'विषस्य विषमौषधम्' भाण रूपक है और 'धनंजय विजय' व्यायोग की कोटि में आता है और 'अन्धेर नगरी' तथा 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन है और 'भारत दुर्दशा' एक रूपक है। इनके पश्चात् श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि अनेक लेखको ने एकाकी लिखे, जिन्हे रूपको मे ही परिगणित किया जाता है। आधुनिक एकांकी से इन रूपको का शैली-भेद अवश्य है, परन्तु उन्हे हम रूपक कहकर, आधुनिक एकाकियो को उनकी परम्परा और उनके वर्ग से अलग नही कर सकते। क्योकि भारतेन्दुकालीन एकाकियो की विषय-वस्तु अपने सामयिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन से ली गई थी, यह तथ्य उन्हे आधुनिक जीवन की परम्परा का प्रतिनिधि बना देता है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन एकाकी आधुनिक एकाकियो के प्रारम्भिक रूप हैं। उनमे कला का वह विकसित रूप नही मिलता जो हमारे नये एकाकी-लेखको की कला मे विकसित हो रहा है।

हिन्दी के आधुनिक एकाकियो में हमें कला-सम्बन्धी जिस मौलिक नवीनता के दर्शन होते है वह एक बडी सीमा तक पाश्चात्य नाटककारो की कला से प्रभावित है। और यह स्वाभाविक भी था कि इब्सन और बर्नार्ड शॉ जैसे इस युग के विश्ववद्य कलाकारो का क्रान्तिकारी प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पडता। उनके नाटको ने हिन्दी के अधिकाश नाटककारो और एकाकी-लेखको को अपनी प्रतिभा का विकास करने मे योग दिया है। हमारे नाटककारो की विषय-वस्तु चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक हो अथवा वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत या सामाजिक सघर्षो से सम्बन्ध रखती हो, उसे नाटकीय रूप देने मे वह जिस कलात्मक क्षमता का परिचय देते है, उसका सस्कार एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटको के प्रभाव से हुआ है।

एकांकी नाटक साहित्य का एक रूप-विधान है। यह कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि एकाकी नाटक का ढाँचा और उसकी प्रकृति अर्थात् उसके मूल-तत्त्व साधारण नाटक से भिन्न है। उपन्यास और कहानी में जो अन्तर है, बहुत-कुछ वैसा ही अन्तर एक नाटक और एकाकी मे होता है। जिस तरह एक कहानी को और लम्बा करके उपन्यास नही बनाया जा सकता, उसी तरह एकाकी को भी बढाकर तीन अको का पूरा नाटक नही बनाया जा सकता, क्योकि यह भिन्नता केवल उनके दीर्घ और लघु आकारो पर ही आधारित नही है।

एकाकी नाटक केवल एक ही प्रधान नाटकीय घटना को उपस्थित करता है

और उसका उद्देश्य एक ही अमिश्रित प्रभाव उत्पन्न करना होता है। दुःखान्त और सुखान्त नाटको की शैलियो से लेकर भाण और प्रहसन तक की शैलियाँ इस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए प्रयोग मे लाई जाती है। परन्तु एकांकी नाटक की सफलता के लिए वस्तु का सगठन इतने कलात्मक लाघव से करने की आवश्यकता होती है कि उसमें कथा और चरित्र के विकास के लिए गौण परिस्थितियो की योजना, वर्णन-बहुलता, विषयान्तरता आदि का कोई स्थान नहीं होता। आवश्यकता इस बात की होती है कि पर्दा उठते ही दर्शक का ध्यान खीच लिया जाय और अन्त तक उसे केन्द्रित रखा जाय। इसी कारण एकाकी नाटक मे कथा-वस्तु की योजना का संयोजन और सवादो की सीधी चुभन और मितव्ययता की ओर विशेष ध्यान देना होता है।

डा० रामकुमार वर्मा ने 'पृथ्वीराज की आँखें' नामक एकांकी सग्रह में एकाकी की व्याख्या इस प्रकार की है—

"एकांकी नाटको में अन्य प्रकार के नाटको से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का सचय करते हुए चरमसीमा (क्लाईमेक्स) तक पहुँचती है। उसमे कोई अप्रधान प्रसग नही रहता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता की भाँति फैलने की विश्रृखलता नही।"

नाटक की कथावस्तु, अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओ के घात-प्रतिघात से जिस प्रकार विषम परिस्थितियो की अवतारणा करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है, उससे एकाकी नाटक की कथा-वस्तु से विकास की भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—

" · किन्तु एकाकी नाटक में साधारण नाटक से भिन्नता होती है। उसके कथानक का रूप तब हमारे सामने आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उसके प्रारम्भिक वाक्य मे ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओ की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करता है। कथानक क्षिप्र गति से आगे बढता है, और एक-एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घंटे के संघर्ष में और वर्षो की घटनाएँ एक आँसू या एक मुस्कान में उभर आती है; वे चाहे सुखान्त हो या दुःखान्त।" (हिन्दी एकांकी; पृ० १२४)

अधिकतर विद्वानो का मत है कि प्राचीन यूनानी नाटको मे स्थल, काल और कार्य की एकता पर जो जोर दिया जाता था उस नियम का निर्वाह साधारण नाटक में चाहे न हो, लेकिन एकांकी में अवश्य होना चाहिए। इस नियम को संकलनत्रय (Three Unities) कहते है। स्थल की एकता (Unity of Place) अर्थात्

घटनाएँ एक ही स्थान से सम्बन्ध रखती हों, काल की एकता (Unity of Time) अर्थात् नाटक की घटनाएँ एक ही समय की हो और कार्य की एकता (Unity of Action) अर्थात् कृत्य में एकसूत्रता और एकाग्रता हो। इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है और यह केवल बहस का विषय नहीं है। एक सफल एकांकी की रचना में अनेक तत्त्वो का समावेश होता है, जिनका कलात्मक परिपाक लेखक की कल्पना में होना आवश्यक है। प्रतिभाशाली लेखक विषय-वस्तु की आन्तरिक आवश्यकता के अनुकूल किसी तत्त्व को अधिक उभार सकता है और किसी की अवहेलना भी कर सकता है, जैसा कि हिन्दी के अनेक सफल एकांकियो से प्रमाणित है।

एकांकी नाटक की कला पर विचार करते समय हमें उसके दो आवश्यक तत्त्वो पर ध्यान रखना चाहिए। पहला है नाटकीय संघर्ष, और दूसरा है चरित्र-चित्रण।

संघर्ष ही नाटक की आत्मा है। यह सघर्ष अन्तर और वाह्य—दोनो प्रकार का हो सकता है और जिस प्रकार समाज में उसी प्रकार नाटक में शतशत रूपों में व्यक्त हो सकता है। वाह्य संघर्ष दो या अनेक व्यक्तियो के बीच या व्यक्ति और समाज के बीच, या व्यक्ति और 'दैव' या 'नियति' के बीच हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष पात्र की चेतना में अपने ही स्वभाव के विरुद्ध होता है, अथवा जब वाह्य परिस्थितियाँ हृदय के भावो में एक टक्कर पैदा कर देती है, जब कर्तव्य और प्रेम में से एक को चुनना अनिवार्य हो जाता है या जब नाटक के पात्र की नैतिक भावना उसकी महत्वाकाक्षा की पूर्ति के मार्ग में अवरोध बनती है तब ये नाटकीय परिस्थितियाँ पात्रो के मन में आन्तरिक सघर्ष को जन्म देती है।

नाटकीय सघर्ष वास्तव में हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की असगतियो और अन्तर्विरोधों को ही कलात्मक ढग से प्रतिबिम्बित करता है। समाज और व्यश्ति या व्यक्ति और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो के वैषम्य से जो असंगति और अन्तर्विरोध पैदा होता है नाटक में उसे अधिक मार्मिक तथा प्रभावकारी ढंग से उपस्थित किया जाता है। यह संघर्ष सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन की जितनी ही व्यापक या मूलभूत समस्याओ से उत्पन्न होगा नाटक की विषय वस्तु उतनी ही अधिक सार्वजनीन, सार्थक और महत्त्वपूर्ण होगी।

कहा जाता है कि 'कोई भी नाटक चरित्र-चित्रण के धरातल से ऊँचा नहीं उठ सकता।' उदाहरण के लिए 'प्रहसन' या 'भाण' देखकर हम एक क्षण के लिए आनन्दित हो सकते है, लेकिन उसका प्रभाव स्थायी नहीं रहता—जैसे कोई चमत्कार-पूर्ण उक्ति सुनकर निमिष-मात्र के लिए मुग्ध हो जायँ। कारण स्पष्ट है कि उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और गहरा नही होता, बल्कि उनमे सत्य को विकृत करके उपस्थित किया जाता है। किसी भी वर्ग की नाटकीय रचना मे चरित्र-

चित्रण का आत्यन्तिक महत्त्व है। नाटक के विभिन्न पात्रों का चरित्र एक-दूसरे से भिन्न होना जरूरी है; यह भिन्नता उन पात्रों के एक-दूसरे के प्रति के आचरण-व्यवहार और रगमंच पर जो घटित हो रहा हो उसके प्रति उनकी भाव-प्रतिक्रियाओं, मुद्राओं, सम्भाषण के ढंग और कार्यों से प्रकट की जाती है। यह आवश्यक है कि पात्रो की मानसिक प्रतिक्रियाएँ और उनके कार्यो में अनुकूल परस्परिता और गहराई हो अर्थात् वह जीवन वास्तव का प्रतिनिधित्व करते हो। जिस तरह वास्तविक मनुष्य के चरित्र में एकसूत्रता होती है और अकारण ही वह अकस्मात् अपने स्वभाव के विपरीत कार्य नही करता, उसी प्रकार नाटकीय पात्रो के चरित्र का विकास या परिवर्तन भी सकारण और परिस्थितिवश ही हो सकता है। उन कारणो और विशेष परिस्थितियो का चित्रण नाटक में आवश्यक है, अन्यथा दर्शक को पात्र कृत्रिम और असामाजिक प्राणी लगेंगे। नाटकीय पात्र वास्तविक मानव-प्राणी होने चाहिएँ और उनके कृत्य भी मानवीय हो, ताकि दर्शक उनके हर्ष-विमर्ष, सुख-दुःख में अपनी पूरी सहानुभूति से दिलचस्पी ले सकें।

कथोपकथन (सवाद) चरित्र के निर्माण और विकास में योग देता है। कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाक्वैदग्ध्ययुक्त, चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने वाला तथा एकाकी के सूत्र को आगे बढाने वाला होना चाहिए। एकांकी का कथोपकथन स्वाभाविक होना चाहिए। स्वाभाविक का अर्थ यह नही है कि वाद-विवाद की तरह कार्य-कारण पद्धति का अनुसरण करे, अर्थात् क से ख और ख से ग और ग से घ की मजिलो को एक सीधी रेखा में पार करता हुआ आगे बढे। स्वाभाविकता का अर्थ है कि उससे वास्तविक जीवन का भ्रम होने लगे, वास्तविक जीवन के वातावरण की सृष्टि हो जाय और कथोपकथन पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित कर दे। स्वाभाविकता की व्याख्या करते हुए एक अग्रेज विचारक ने कहा है कि एकांकी का कथोपकथन क से ग से च से ज से ख से ग से ह से च से ट से य से प आदि—इस प्रकार पीछे मुड़कर पलटता हुआ, छलॉंग मारकर आगे बढता हुआ, मुख्य विचारो को दुहराता हुआ और उन पर ठहरकर उनकी व्याख्या करता हुआ, और कभी-कभी ऐसे विचारो को भी सवाद में घसीट लेता हुआ हो, जो यद्यपि कथावस्तु के लिए प्रत्यक्षतः सगत नही है, लेकिन जो वातावरण, चरित्र और यथार्थ जीवन की सृष्टि करने में योग देते है। स्वाभाविकता का अर्थ वास्तविक जीवन के वार्तालाप को ज्यो-का-त्यो रंगमंच पर उपस्थित करना नही है। कला वास्तविक जीवन का फोटो-चित्र नही होती। कला वास्तविक जीवन से प्राप्त सामग्री में से चुनाव करती है। जो आवश्यक है उसे ग्रहण करती है, जो अनावश्यक है, उसे अस्वीकार कर देती है, और फिर उसे नये ढंग से सगठित करके वास्तविक जीवन के

सार्थक और सम्भाव्य चित्र का निर्माण करती है, जो वास्तविक जीवन से अधिक वास्तविक, सुन्दर और प्रयोजनशील हो जाता है, और मनुष्य की चेतना और वृत्तियो को अधिक मानवीय और सामाजिक बनाता है।

नाटक मे चरमसीमा का महत्त्व आत्यन्तिक होता है। चरम सीमा नाटकीय घटना के विकास की उस स्थिति को कहते है जब जटिल घटनाओ का घात-प्रतिघात दर्शक में भावों का तीव्र उत्तेक कर दे और जब दर्शक का कौतूहल और औत्सुक्य अपने अन्तिम बिन्दु तक पहुँच गया हो। चरम सीमा पर पहुँचते ही वाह्य या आन्तरिक सघर्ष का उद्घाटन और समाधान एक आकस्मिक आघात की तरह होता है और सारे संघर्ष को जैसे आलोकित कर देता है। चरम सीमा पर पहुँचकर नाटक समाप्त हो जाता है, क्योकि उसका उद्देश्य पूरा हो चुकता है।

हिन्दी मे एकाकियो की जिस परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था वह अपने विकास की कई मंजिलो को पार कर आई है, और हिन्दी के आधुनिक नाटको मे अब हमें निश्चय ही कला का विकसित रूप दिखाई देता है। भारतेन्दुकालीन नाटको का सक्षेप मे हम उल्लेख कर चुके है। इन नाटको की कला पर सस्कृत के नाटको का विशेष प्रभाव था यद्यपि बगाली नाटको के माध्यम से पाश्चात्य शैली का प्रभाव भी इस पर पडने लगा था।

उस काल के नाटको के विषय सामाजिक जीवन से लिये गये थे। इस प्रकार वे हमारे राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक चेतना को प्रतिबिम्बित करते है, और हिन्दी के आधुनिक एकाकी के प्राथमिक रूप कहे जा सकते है।

हिन्दी एकाकियो का यह प्रथम काल सन् १८७३ से लेकर, जब भारतेन्दु न 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा, सन् १९२९ तक मानना चाहिए जब प्रसाद जी ने अपने 'एक घूँट' एकाकी की रचना की। वास्तव में 'एक घूँट' में ही आकर एकाकी नाटक को आधुनिक शैली का भरपूर निखार होता है, जिसके कारण डा० नगेन्द्र तथा अनेक दूसरे समालोचक उसे हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते है। इसमें सन्देह नही कि 'एक घूँट' के बाद एकाकी-लेखन की परम्परा बहुत तेजी से आगे बढ़ी और पिछले बीस-बाईस वर्षो में अनेक प्रतिभाशाली एकाकीकार हमारे साहित्य में पैदा हुए।

प्रसाद जी के बाद यो तो सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, प० गोविन्द वल्लभ पन्त आदि अनेक लेखको ने एकाकी लिखे, लेकिन शैली और कला की शिथिलता के कारण वे साहित्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना पाए। इस बीच पाश्चात्य नाटककारो, विशेषकर बर्नार्ड शॉ से प्रभावित भुवनेश्वर और एकाकी की टेकनीक के मर्मज्ञ डा० रामकुमार वर्मा आदि एकांकीकार

उत्कृष्ट कला का विकास कर रहे थे। बाद को उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर आदि अनेक एकांकी लेखक इस क्षेत्र में आये और उन्होंने हिन्दी एकाकी को एक नया परिष्कार और उत्कर्ष दिया है।

अगस्त १९५२

६

रेखाचित्र

आधुनिक यन्त्र-युग ने मनुष्य और समाज के जीवन मे आमूल परिवर्तन कर दिये है। सामन्ती-काल की वह सहज मन्थरता जीवन मे नही रही, उसमे द्रुतगति आ गई है। आज कलकत्ते, बम्बई, रामेश्वर या जगन्नाथपुरी की यात्रा के लिए बैलगाड़ियो पर चढकर जाना हास्यास्पद लगता है। आज की विरहिणी अफ्रीका या यूरोप में बैठे अपने प्रियतम की 'प्रेमपाती' पाने के लिए बरसो तक मार्ग पर आँखे बिछाये आँसू नही बहाया करती और न पश्चिम दिशा से प्रत्येक आगन्तुक से विह्वल होकर पूछती है कि वह उसके प्रियतम का सन्देश लाया है या नही। कबूतर या पवन जैसे द्रुतगामी किन्तु अविश्वस्त सन्देश-वाहको का स्थान तार और टेलिफोन ने ले लिया है जो उनकी अपेक्षा कही जल्दी सन्देश ला और पहुँचा देते है। वाणी ने रेडियो और टेलीफोन द्वारा, पैरो ने हवाई जहाज द्वारा, दृष्टि ने दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा देश (Space) पर विजय प्राप्त करली है; मशीन और विद्युत् ने काल (Time) पर विजय प्राप्त कर उत्पादन मे सहस्रगुणी वृद्धि कर दी है। पाठक मनुष्य के इस सामाजिक कला और शिल्प-विज्ञान (Social technology) के विकास से भली भाँति परिचित है, क्योकि जीवन मे पग-पग पर उसका उपयोग करने के लिए वे विवश है। अतः इस औद्योगीकरण का प्रभाव मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धो पर पड़ना अनिवार्य था, जिसके फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन के सामने नित्य नयी समस्याएँ उठी और नयी परिस्थितियो के अन्दर उनके नये हल पेश होते रहे। भावाभिव्यंजन के रूप-विधानो और सिद्धान्त तथा आदर्श-मूलक विचारो में भी परिवर्तन हुए। सामन्ती काल मे भी श्रम-विभाजन की विविधता और सामाजिक जीवन की सश्लिष्टता इतनी बढ़ चुकी थी कि प्रागैतिहासिक अथवा अत्यन्त प्राचीन काल की तरह केवल काव्य ही विज्ञान, गणित, ज्योतिष, दर्शन, नीति और मनुष्य के सामाजिक अनुभव, सौन्दर्यानुभूति और व्यक्तिगत भाव-प्रक्रियाओ की अभिव्यक्ति का माध्यम न रह गया था; गणित, विज्ञान और दर्शन से अलग होकर ललित-साहित्य स्वतन्त्र रूप से विकसित होने लगा था, यद्यपि उसके अंग-उपांग जैसे काव्य, नाटक, कथाएँ आदि उस जीवन की मन्थरता से सामञ्जस्य रखते आये। जब समाज बदला और जीवन की रफ़्तार तेज हो चली तो उसने उससे सामञ्जस्य स्थापित करने वाले भावाभिव्यक्ति के अभिनव रूपो को जन्म दिया। ये अभिनव कलात्मक रूप-विधान

(Forms) नयी सामाजिक वास्तविकता की वस्तु (Content) की कलात्मक अथवा रचनात्मक ग्रहणशीलता का द्योतन करते हैं। जिस प्रकार आधुनिक समाज के अत्यन्त संश्लिष्ट संगठन की अभिव्यक्ति करने वाली सवाक्-चित्र और उपन्यास-कलाएँ विकसित हुईं, उसी प्रकार उसकी द्रुतगामिता की अभिव्यक्ति करने वाली आधुनिक कहानी, रेखाचित्र और रिपोर्ताज की कलाओं का विकास हुआ। कहानी की सर्वप्रियता, स्टेशन पर और बाजार में कहानी-पत्रिकाओं का इतना प्रचार, अन्य बातों के साथ-साथ आधुनिक जीवन की द्रुतगामिता का भी प्रमाण देता है। कहानी से सभी पाठक परिचित हैं, अतः कहानी के विषय में कुछ न लिखकर यहाँ मैं केवल 'रेखाचित्र' पर ही अपने विचार प्रकट करूँगा।

ऊपर से देखने पर रेखाचित्र और रिपोर्ताज दोनों में समरूपता दिखाई देती है, परन्तु दोनों के विधान भिन्न हैं; और आज जब हिन्दी में भी रेखाचित्र और रिपोर्ताज लिखे जाना शुरू हो गये हैं तो दोनों का भेद समझना, आधुनिक गतिशील वास्तविकता के चित्रण की क्षमता को जान लेना और उनके विकास की आवश्यकता से परिचित होना और भी आवश्यक हो जाता है। हिन्दी में रेखाचित्र तो यदा-कदा प्रकाशित भी हुए हैं, जैसे श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की पुस्तक 'रेखाचित्र', हंस का 'रेखाचित्रांक' या सत्यवती मल्लिक, यशपाल, 'अज्ञेय' आदि के फुटकर प्रकाशित रेखाचित्र। रिपोर्ताज का हिन्दी में अभी अभाव-सा है। रामवृक्ष बेनीपुरी की किसान-आन्दोलन सम्बन्धी कुछ कहानियाँ, दिसम्बर १९३८ के 'रूपाभ' में प्रकाशित इन पंक्तियों के लेखक का 'लक्ष्मीपुरा' रिपोर्ताज की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त यदि कहीं कुछ और भी प्रकाशित हुए हैं तो लेखक को उनकी सूचना नहीं है। इस प्रकार रेखाचित्र और रिपोर्ताज दोनों ही हिन्दी-साहित्य के लिए नई चीजें हैं, नये अंग हैं। काव्य में भी रेखाचित्र अंकित करने की प्रवृत्ति प्रमुख हो उठी है, और श्री निराला, पन्त, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल और शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि ने सुन्दर, कलात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। लेकिन यहाँ हमारा उद्देश्य गद्य-साहित्य के रेखाचित्र की जाँच है, क्योंकि हमें रिपोर्ताज और रेखाचित्र दोनों के सापेक्ष एवं अन्योन्य महत्त्व को समझना है।

साहित्य में रेखाचित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने पारिपार्श्विक जीवन की वास्तविकता के किसी अंग को—पशु-पक्षी, वृक्ष, इमारत, खण्डहर, स्त्री, पुरुष, स्थान, गाँव, मुहल्ला, नगर आदि किसी भी जड़ अथवा चेतन वस्तु को—एक चित्रकार के समान अंकित करता है, वास्तविकता के उस अंग को कल्पनासात कर उसके मर्म को संक्षेपण और पुनर्संगठन द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण, संगठित और समतल से उभार

करके अपनी भाव-प्रक्रिया से उसके प्रभावो को अतिरञ्जित कर देता है। चित्रकार के चित्र मे जिस प्रकार वास्तविकता की सक्षेपित अतिरजित अभिव्यक्ति केवल देखने का आनन्द ही नही प्रदान करती, वरन् भाव भी जागरित करती है, वास्तविकता पर हमारी पकड मजबूत करती है, हमे उसे ग्रहण करने मे सहायक होती है, उसी प्रकार रेखाचित्र पढकर किसी वस्तु का चित्र ही हमारे सामने नही खिच जाता, बल्कि अभिव्यक्ति और चित्रण के पीछे अनासक्तिभाव का उपक्रम किये छिपी लेखक की सहानुभूति से भी अप्रत्यक्षरूप से पाठक प्रभावित होता है, वास्तविकता के उस टुकड़े को उसके विराट् सदर्भ से हटाकर जैसे खुर्दबीन से देखकर वह उसे पूरी तौर पर जान लेता है और उसके सम्पूर्ण-स्वरूप (whole) से उसके आन्तरिक सम्बन्धो को पहचान लेता है। लेखक के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण तटस्थता का उपक्रम-सा करता इस सूक्ष्म सहानुभूति में विद्यमान रहता है। इस प्रकार रेखाचित्र मे किसी वस्तु, मनुष्य या स्थान के बाह्य रूप से उसकी आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता, सम्पन्नता-विषमता को पकड़ने की चेष्टा होती है, उसमे अनुभूति और अनुभाव का चित्रण ही मुख्य है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के रेखाचित्र में यह विशेषता होगी कि उसके व्यक्तित्व ने (जिन परिस्थितियो ने उसके व्यक्तित्व को गढ़ा, उनका भी चित्र की पृष्ठभूमि बनाने के लिए निर्देश हो सकता है) जो विशेष मुद्राएँ, चेष्टाएँ, शारीरिक अवयवो की बनावट मे जो विकृतियाँ ऊपर को उभार दी है, उनके आभास को चित्र में ज्यो-का-त्यो पकड़ा जाय, ताकि लेखक की अनुभूति के साथ उसके व्यक्तित्व की रेखाएँ और भी सघन होकर दिखाई पडने लगे। रेखाचित्र साहित्य मे चित्रकला के अनुरूप है। उसमें वर्ण्य-वस्तु का सगठन प्रधानतः कविता और चित्रकला की तरह देश (space) मे होता है। और जिस प्रकार चित्रकला मे अनेक आधुनिक प्रवृत्तियाँ—रोमैण्टिसिज्म, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यञ्जनावाद, रूपविधानवाद, त्रिपार्श्ववाद, परावस्तुवाद, यथार्थवाद आदि प्रचलित है, उसी प्रकार लेखक की विचारधारा के अनुसार रेखाचित्र के चित्र भी विविध प्रवृत्तियो के द्योतक हो सकते है। रेखाचित्र के चित्र वर्ण्य वस्तु का स्थिर चित्र भी खीच सकते है और गत्यात्मक भी। स्थिर चित्र में वर्ण्य-वस्तु की स्थिर रूप में यथार्थवादी अभिव्यक्ति करके भी उसके गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व और परस्पर-विरोधी प्रभावो का ज्यो-का-त्यो चित्र ही उपस्थित किया जा सकता है, लेकिन गत्यात्मक चित्र खीचने के लिए उसमें नयी चेतना की अभिव्यक्ति रहेगी, वर्ण्य-वस्तु को एक विशिष्ट वस्तुपरक दृष्टिकोण मे आँकने का आग्रह होगा, अर्थात् नई चेतना की भाव-ग्राहकता चित्र का प्रमुख गुण होगी। तो भी हर दशा में रेखाचित्र एक चित्र है, अतः साहित्य में उसका उपयोग अनुभूति को तीव्र और प्रखर बनाना है।

पाठक कह सकते हैं कि अनुभूति को तीव्र और प्रखर बनाना तो एक प्रकार से प्रत्येक कला का गुण है, यहाँ तक कि साहित्य के सभी अंग यही कार्य करते हैं। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, ये सभी अपने-अपने ढंग से अनुभूति को प्रखर और तीव्र बनाते हैं। फिर रेखाचित्र मे विशेषता क्या है ? उसकी विशेषता इसी मे निहित है कि वह विशेष ढग से आधुनिक वास्तविकता का चित्रण करता है, अर्थात् वास्तविकता के किसी अंग को अलग (isolate) करके वह सक्षेपण और अतिरजन द्वारा उसकी बाह्य और आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता की रेखाओ को उभार देता है ताकि पाठक उसे सन्निकट से देखी वस्तु की तरह शीघ्र अपने अनुभव और चेतना मे ग्रहण करले। हम पहले कह चुके हैं कि आधुनिक समाज ने जीवन को इतना द्रुतगामी बना दिया है कि आज की वास्तविकता को अपने अनुभव के दायरे में ग्रहण करना असम्भव सा हो गया है, अतः रेखाचित्र इस द्रुतगामी वास्तविकता के किसी एक अंग को सक्षेपण अतिरजन द्वारा हमारी पकड़ में ले आता है। इससे यह स्पष्ट है कि रेखाचित्र आधुनिक जीवन की द्रुतगामी वास्तविकता से ही उत्पन्न हुआ है, उसके अगो को टुकड़े-टुकड़े कर ग्राह्य बनाने या पकड मे लाने के लिए वह इस जीवन की द्रुतगामिता का ऐतिहासिक चित्रण नही करता। कहानी या उपन्यास का दायरा इतना सीमित नही है, इसी कारण उनमें किसी वस्तु की वैयक्तिक विशेषताएँ इतनी उभरी रेखाओ द्वारा, इतने सक्षेप मे प्रस्तुत नही की जा सकतीं, उनमें लगातार परिवर्तित होने वाले बाह्य वातावरण या आन्तरिक भाव-प्रक्रियाओ के प्रभाव प्रमुख हो उठते हैं जो काल (time) के अन्दर ही अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। यह ठीक है कि उपन्यास और कहानी में ऐसे स्थल आते हैं जहाँ मोटी, उभरी रेखाओ द्वारा किसी परिस्थिति, स्थान या पात्र का चित्रण कलाकार करता है; लेकिन वह स्वतन्त्र चित्रण नहीं होता, आगे चलकर बाह्य वातावरण के प्रभावो को ग्रहण करने के लिए ही इन मोटी और उभरी रेखाओ का प्रयोग किया जाता है। किन्तु कला के अन्दर रेखाचित्र की एक स्वतन्त्र सत्ता है, उसे पढने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा के अगले मोड या प्रवाहो को जानने की आवश्यकता नही रह जाती। वह उस पूरी तस्वीर को पढकर सन्तुष्ट हो जाता है। और चूँकि रेखाचित्र एक चित्र है इस कारण उसका वर्ण्य-विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है और वास्तविक भी। वर्ण्य-विषय को आज देखकर लेखक उसका रेखाचित्र एक-दो-चार वर्ष बाद भी अङ्कित करे तो भी उसकी ताजगी ज्यो-की-त्यो बनी रहेगी, क्योकि उसमे काल (time) का तत्त्व गौण होकर ही रहता है। चित्रकला के समान ही वह देश-प्रधान है। इसी कारण आधुनिक समाज के द्रुतगामी जीवन की आवश्यकताओ से उत्पन्न होकर भी वह ललित साहित्य का विशिष्ट अंग होने का गौरव पा सकता है। उसमें सौन्दर्यानुभूति के सापेक्षत· अधिक स्थायी

तत्त्व दिखाई देते है, समसामयिकता के कम । लेकिन उसका यह गुण आज के वर्ग-समाज मे कला या साहित्य के अन्य रूपो के समान उसके दुरुपयोग का कारण भी बन सकता है । प्रगतिशील लेखक रेखाचित्र मे भी यथार्थवाद की शैली को ही अपनाता है, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म रूप-चित्रो (images) द्वारा ही वह अपने चित्रो को सबसे अधिक मूर्त्त और प्रभविष्णु बना सकता है ।

—मार्च १६४१

७

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज हिन्दी मे नही के बराबर है । यह साहित्य का ऐसा रूप-विधान (form) है जिसका महत्त्व आज की सामाजिक परिस्थिति को जाने बिना नही समझा जा सकता, क्योकि उसका जन्म इन्ही परिस्थितियो से हुआ है । यूरोप, विशेष-कर सोवियत यूनियन से रिपोर्ताज का प्रारम्भ हुआ, और अमेरिकन लेखको ने इसको सबसे ज्यादा अपनाया । यूरोप मे पिछले महायुद्ध के बाद से जो बडी-बडी घटनाएँ घटी उनके रिपोर्ताज प्रस्तुत करने की कोशिश लेखको ने की । जैसे, रूस की समाजवादी क्रान्ति का रिपोर्ताज जॉन रीड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'टेन डेज़ दैट शुक द वर्ल्ड' मे किया । और जोजेफ फ्रीमन के शब्दो मे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पिछले दिनो यूरोप और अमेरिका मे समाज की नीव हिला देने वाला जो साहित्य लिखा गया है उसमे से अधिकाश रिपोर्ताज है ।

आज का समाज इतना द्रुतगामी है, उसका रूप इतनी तीव्रता से बनता, बिगडता और बदलता जाता है कि आज की समस्याएँ कल पुरानी हो जाती है, कल की समस्याएँ परसो । उसके साथ पग मिलाकर चलने के लिए इतनी सतत सतर्कता की आवश्यकता है कि ज़रा चूके और पिछड गये । आज आर्थिक संकट से विश्व में त्राहि-त्राहि मचती है । कल क्रान्तियाँ होती है । फिर परसो नात्सी पार्टी सत्ता धारण करती है, और फिर आज इस देश पर तो कल दूसरे देश पर आक्रमणो का क्रूर अध्याय खुल जाता है और सारा विश्व महायुद्ध की आग मे कूद पडता है । ये इक्की-दुक्की फुटकर घटनाएँ नही है कि उन्हे बिना जाने काम चल जाय । वे आज के समाज की वृहद् वास्तविकता के अन्दर एक सूत्र में बँधी है । और वे जो समस्याएँ उठाती है उनके हल पर सारी मनुष्य जाति की सभ्यता और संस्कृति का भविष्य निर्भर करता है । इन घटनाओ का व्यक्तियो, परिवारो, समूहो और वर्गो के दैनिक जीवन पर भी प्रभाव पडता है । इन प्रभावों को प्रतिदिन विश्व के करोडो व्यक्तियो तक पहुँचाने का कार्य-भार यदि लिखित शब्द अथवा वाणी पर आ पड़ा है तो यह स्वाभाविक है । रेडियो, सिनेमा और प्रेस जैसे यान्त्रिक-आविष्कारो ने इस कार्य को सरल कर दिया है और वास्तविकता के साथ पग मिलाकर चलने की क्षमता मनुष्य को प्रदान की है । ललित-साहित्य सामाजिक प्रभाव और स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक तीव्र अस्त्र है । लेकिन वह आज की समस्या का आज ही हल पेश करने में

असमर्थ है। इसका प्रभाव युगो तक चलता है। दैनिक जीवन की विशिष्ट समस्याओ तक उसकी पहुँच नही होती। इसलिए आधुनिक जीवन की इस नयी द्रुतगामी वास्तविकता मे हस्तक्षेप करने के लिए मनुष्य को नये साहित्यिक रूप-विधानो को जन्म देना पडा है। रिपोर्टाज उनमे से सबसे प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप-विधान है।

ये घटनाएँ किस प्रकार व्यक्ति और समाज के जीवन पर असर डालती है, यह जानने के लिए हम अपने दैनिक जीवन से एक उदाहरण लें।

यह कलकत्ता शहर है, इसमे करीब बीस-तीस हजार मेहतर, पाँच हजार बिजली के मजदूर, तीन लाख जूट की मिलो मे काम करने वाले, पांच हजार पानी-कल के मजदूर और तीन हजार ड्राइवर है। बाकी व्यापारी, सेठ, साहूकार, राजकर्मचारी, डाक्टर, वकील, क्लर्क, लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और घरो मे काम करने वाले नौकर है। यूरोप मे युद्ध छिडता है। चीजो का भाव गराँ हो जाता है। मजदूरो के काम के घण्टे बढ जाते है। अब उनका काम नही चलता, पेट नही भरता, और वे वेतन मे वृद्धि की माँग करते है। उनके लिए एक-दो रुपये की बढती जीवन-मरण का प्रश्न है। अतः सभी मजदूर अपने यहाँ के अधिकारियों के पास अपनी माँगे लिखकर भेजते है। शहर के आम लोग अखबार में पढकर जान लेते है कि मजदूरो में कुछ हलचल पैदा हो रही है। लेकिन वे अपना कार्य किये जाते है। सैर को भी जाते है। 'मैट्रो' मे सिनेमा भी देखते हैं। निश्चिन्त है। उनके आमोद-प्रमोद मे कोई बाधा नही पडती। इधर कॉरपोरेशन मजदूरो की माँगो को ठुकरा देता है। मजदूर काम करना चाहते है। काम से दिल चुराने का बहाना उनके सामने नही है। इतनी महँगी के दिनो मे अपने स्वल्प वेतन से अपना या अपने परिवार का पेट वे नही पाल सकते। इसलिए, उनके सामने अब कोई चारा नही रह जाता। और मेहतर, बिजली-घर और पानी-कल के मजदूर और ड्राइवर हडताल का नोटिस देते है। शहर के लोग यह नोटिस पढकर कुछ चिन्तित तो होते हैं, लेकिन अभी खतरा उनसे दूर है। एक दिन जब वे सोकर उठते है तो अखबार मे पढते है कि आज से मेहतरो ने हडताल कर दी। उनकी चिन्ता बढ़ जाती है। शाम होते-न-होते उनके घरो के चारो ओर सडक और गलियो की नालियाँ भर जाती है और सड़को पर घरो मे से फेंका कूडा-करकट जहाँ-तहाँ छितरा होता है। दूसरे दिन चारो ओर से दुर्गन्ध उठने लगती है। शाम को जब लोग अपने घरो की बत्ती जलाते है तो देखते है कि बिजली फल हो गई है। सारे शहर मे ब्लैकआउट-सा हो गया है। सुबह को पता लगता है कि मेहतरों की हमदर्दी मे और अपनी भी माँगो के लिए बिजलीघर के मजदूरो ने हड़ताल कर दी है। उसी दिन शाम तक पानी-कल के मजदूरों ने भी हड़ताल कर

दी और नल से पानी आना बन्द हो गया । सारे शहर में त्राहि-त्राहि मच गई। बाहर-भीतर गन्दगी-ही-गन्दगी । न कही रोशनी, न कही पानी की बूँद । सारा कारोबार, ट्रामे, मोटर बसें, टैक्सियाँ—ठप । कॉलरा और ऐसी ही बीमारियाँ बस्तियों की बस्तियो को मौत की गोद मे सुलाने लगती है । कुछ लोग मजदूरो को कोसते है तो कुछ कॉरपोरेशन को । वे किसी जवाँमर्द, सूट बूट-धारी अंग्रेज के नेतृत्व में एक स्वयसेवक दल तैयार कर कूडा ढोने और सडके साफ करने के काम मे जुट जाते है । मजदूरो की सभाओ पर ईंटें बरसाते है, गालियाँ बकते है—वे जो स्वयसेवक है, शान्ति के दूत है, अहिसा-वादी है ! दूसरी ओर जो कॉरपोरेशन को कोसते है, कॉरपोरेशन-भवन के सामने जाकर नारे लगाते है । मेयर से माँग करते है कि मजदूरो की माँगें मजूर की जायँ, क्योकि दोष कॉरपोरेशन का है, और उसकी हठ-धर्मी या शोषक वृत्ति के लिए वे हैजा, गन्दगी, अन्धकार और प्यास के शिकार नहीं बनना चाहते। इस बीच में अखबारो के दफ़्तरो की चहल-पहल देखते ही बनती है। टेलिफोन से कान हटाते ही तडाक से घण्टी फिर बज उठती है। नये-नये वक्तव्यो की दोनो ओर से बौछार हो रही है । सवाददाता बेतहाशा पसीने मे भीगे दौड़ते आते है। खबरे देकर धडाम से दरवाज़ा बन्द कर घटना-स्थल की ओर झपट जाते है। अखबार छपकर तैयार हो रहा है। बेचने वालो का झुण्ड दरवाज़े पर खड़ा है। कापियाँ पाते ही वह झुण्ड तितर-बितर होकर शहर के गली-कूचो में तीर की तरह चारो ओर से घुस पडता है। सैकडो हाथ उठते जाते है और अखबार पर लोग इस तरह टूट पड़ते है मानों वह प्यासो के लिए पानी का सोता हो । वे आँखे फाड-फाड कर देखते है कि हडताल के बारे मे कोई समझौता हुआ या नहीं । और समझौते के कहीं आसार न देखकर उनके दिल बैठ जाते है । हैजा, गन्दगी, अन्धकार और प्यास, सूखे कण्ठो की आर्त्त दशा उनकी आँखो के सामने फिर नाचने लगती है। अखबार इस हडताल के बारे में लोक-मत तैयार करते है। अगर वे मजदूरो का पक्ष लेते है तो शहर के अन्य लोग भी कॉरपोरेशन पर दबाव डालते है। यदि वे विरोध करते है तो केवल शहर के लोग ही मजदूरो पर ईंट-पत्थर नही चलाते, पुलिस तो गोलियाँ भी बरसाती है। इस प्रकार ये दैनिक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध रखती है कि एक-एक घटना दर्जनो नये प्रश्न उपस्थित कर देती है। इन प्रश्नो का हल हमें इतनी तीव्र गति से करना पडता है कि उन पर स्थिर-चित्त होकर सोचने का अवसर ही नही मिलता । ऐसी परिस्थिति मे कला और साहित्य की युग-युगीन प्रेरणाएँ निरर्थक जान पडने लगती है। लेकिन कला और साहित्य जो मनुष्य के सामूहिक अनुभव की अभिव्यञ्जना करते है, वे इस अनुभव को अङ्कित न करें और जीवन से तटस्थ हो जायँ, ऐसा नहीं हो सकता। और आज की

परिस्थितियो में तो यह और भी असम्भव है। हम जिस सक्रान्ति-काल से गुजर रहे हैं उसमें तो साहित्य और कला के ऊपर सामाजिक चेतना को जागरित करने का उत्तरदायित्व और भी बढ गया है। और हमें हमारा इतिहास का अनुभव बताता है कि क्रान्ति और परिवर्तन के युगो मे साहित्य और कला ने लघु रूपो का ही विकास किया है। फ्रास की पूँजीवादी क्रान्ति से परिचित पाठक जानते है कि उन दिनो पैम्फ्लेटो के जरिये क्रान्ति का सन्देश घर-घर पहुँचाया जाता था। रूसो, वॉल्तेयर और बाद में विक्तर ह्यू गो आदि ने पैम्फ्लेट-बाजी को ही एक श्रेष्ठ कला बना दिया था। आज जब विश्व युद्ध और शान्ति की समस्याओ में फँसा है, कला के लघु रूप ही हमारे जीवन की समस्याओ से हमें अवगत करा सकते है, विचार दे सकते है, और उनके अर्थ समझा सकते है।

रिपोर्ताज के अन्दर लेखक को वर्ण्य घटना या वस्तु का चित्रण करने के लिए उस पर तीन दिशाओ से आ मण करना होता है। अर्थात् उसकी रिपोर्ट मे तीन तत्त्वो का समावेश रहता है। किसी घटना का इतिहास और उसका परिवेश (environment) तो रहता ही है, एक तीसरा तत्त्व भी रहता है जो रिपोर्ताज को कला का क्रान्तिकारी रूप-विधान बना देता है। यह तीसरा तत्त्व है उस घटना मे भाग लेने वाली शक्तियो के भीतरी इरादो, उनके कार्य-क्रमो, उनकी गतिविधि, रीति-नीति और उनके सघर्ष के परिणाम पर निर्भर भविष्य की दिशाओ का स्पष्टीकरण।

और लेखक को यह सब अपने थोडे से समय में—क्योकि कल या इस सप्ताह के समाचार-पत्रो में ही उसे प्रकाशित होना है—कला के माध्यम से करना होता है। अर्थात्, वास्तविकता का चित्रण संक्षेपण द्वारा भी हो और वह चित्रण एक सजीव अनुभव के रूप मे परिणत भी हो जाय, ताकि अपने पाठको को घटनाओ को दिखाने और उनकी अनुभूति कराने की उसमे शक्ति हो। कोई घटना कानपुर में हुई या बम्बई में, पहली मई को हुई, छब्बीस जनवरी या सात अक्तूबर को; मिल-मालिको की ज्यादती से हुई या सरकार की दमन-नीति की प्रतिक्रिया के रूप में, इनका जिक्र तो उसमें रहेगा ही, क्योकि रिपोर्ताज एक रिपोर्ट है। लेकिन इसके साथ उसमें घटना अपने परिवेश की सम्पूर्ण चित्रात्मकता के साथ, भावो और सवेदना के ज्वार-भाटे की तरगो से एक सजीव अनुभव भी बन जाती है, और पाठक को सवाक् चित्रपट की भाँति, किन्तु यथार्थ और विश्वस्त रूप से, उनका अनुभव प्रदान करती है।

और यह एक कष्ट-साध्य कर्म है। वैसे भी लोगो की यह धारणा रही है कि कलात्मक रचना के सृजन में काफी समय लगना ही चाहिए, क्योकि यह कार्य दु:साध्य होता है। बात यद्यपि सही है, परन्तु सामन्तवाद या पूँजीवाद के प्रारम्भ-काल में ही यह बात सम्भव थी कि कलाकार या लेखक को अपनी रचना तैयार करने के लिए

काफी समय मिल जाता था। पूँजीवाद का पतन-काल या क्रान्ति का युग, कलाकार या साहित्यकार को अपनी रचना को गढने-सँवारने का अवसर नही देता। पूँजीवाद के पतन-काल मे कला व्यावसायिक वस्तु बन जाती है और कलाकार को जीवित रहने के लिए बाजार की माँग के अनुकूल कला ग्रार साहित्य की सृष्टि करनी पडती है। इसके साथ-साथ यह देखने के लिए कि बाजार मे उसकी कृतियो की माँग बनी रहे, उसे कला की टेकनीक मे लगातार नये-नये प्रयोग करने पडते है, ताकि वह समय से पिछड न जाय। यह लेखक या कलाकार की विवशता होती है जो उसकी आत्मा को कुचलकर उसे असामाजिक मनुष्य बना देती है। इसके विपरीत क्रान्ति का संगठन करने वाली कला से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सघर्ष से उत्पन्न नई-नई समस्याओ का फौरन उत्तर दे, और उसके किसी पहलू, हार या जीत, का अनुभव नष्ट न होने दे, क्योकि ये अनुभव बडे महत्त्व के होते है, जिनके बल पर ही नया समाज पैदा किया जा सकता है। अत· क्रान्तिकारी कला मनुष्य के अनुभव को समृद्ध और मनुष्य को समर्थ बनाती है। लेकिन नित्य के अनुभवो की कलात्मक अभिव्यक्ति करने का जब प्रश्न हो तो फिर कलाकार को रचना गढने-सँवारने का अवसर कैसे मिले? इसलिए यद्यपि पूँजीवाद का पतन-काल और क्रान्ति का युग, अर्थात् इन दोनो का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियाँ कलाकार को अपनी रचना मे सशोधन-परिवर्द्धन का कोई अवसर नही प्रदान करतीं, तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि पूँजीवादी कला ह्रासोन्मुखी होकर केवल वाग्वैचित्र्य के दायरे में ही सीमित हो रहती है जब कि क्रान्तिकारी कला कलाकार से सौन्दर्य-दृष्टि, भावनात्मक चेतनता, अनुभव और शैली के सामञ्जस्य की अपेक्षा कर कलाकार की क्षमता पर एक जबर्दस्त भार डाल देती है। लेकिन क्रान्ति-युगो का इतिहास हमे बताता है कि जिस प्रकार जनता ने सघर्ष की विषमताओ को झेलकर अपने महान् पराक्रम, त्याग और सहन-शक्ति के उदाहरण पेश किये है उसी प्रकार उन युगो मे उत्पन्न जनभावनाओ के ज्वार को एक कलात्मक अभिव्यक्ति देकर जीवन्त और महान् कला के निर्माण मे कलाकार भी समर्थ हुए है, यद्यपि समय और साधनो का उनके पास सर्वथा अभाव रहा है।

आज के क्रान्ति-युग में रिपोर्टाज एक ऐसा रूप-विधान है जिसके द्वारा वर्तमान जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता का अनुभव पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। रिपोर्टाज मे कहानी और उपन्यास के भी कई गुण रहते है। लेकिन उसके अन्दर तैयार किये गये परिवेश, चरित्र और घटना में यथार्थता और सत्यता अधिक मात्रा में रहती है। उपन्यासो और कहानियों के अनुभवी लेखक कह सकते है कि उनको वे इतनी गतिशील वास्तविकता की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बना सकते। उनके अन्दर तो वे उसकी तह में अधिक-से-अधिक शक्तियो के विराट् संयोजन, सघटन और संघर्ष

को ही चित्रित कर सकते है। किन्तु ज्वार की ऊपरी सामयिक लहरो को अङ्कित नही कर सकते। ।रपोर्ताज की विशेषता यही है कि वह उन्हे ही अङ्कित कर सकता है; क्योकि वह लेखक से एक नये प्रकार के अनुभव की अपेक्षा करता है अर्थात् वह लेखक को घटना-स्थल पर मौजूद रहकर उसे जानने-समझने को बाध्य करता है और इस तरह लेखक का समाज के प्रति क्रान्तिकारी सघर्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर देता है; और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि रिपोर्ताज क्रान्तिकारी सघर्ष का ही माध्यम बन सकता है, प्रतिक्रियावादी साहित्य का नही। हडताल को ही ले। उसमें पूँजीपति की दिलचस्पी क्या है, उसका स्वार्थ कहाँ है ? हडताल तोडने के लिए (Black legs) की भरती करने में, पुलिस से दमन कराने में, मजदूरो में फूट डालने मे। और इन जन-विरोधी कार्यो का समर्थन करने वाला रिपोर्ताज किस प्रकार पाठको की सहानुभूति अपनी ओर खीच सकता है ? पूँजीपतियो की हिसा, क्रूरता और शोषण से जनता कैसे रागात्मक सहानुभूति पैदा कर सकती है ? इसीलिए पूँजीवाद या उसके समथक 'कलाकार' रिपोर्ताज की कला का विकास नही कर पाते। वे उसे क्रान्तिकारियो के हाथ में एक तीव्र अस्त्र बनते देख भयभीत भी होते है और उसकी निन्दा भी करते है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि अभी तक भारत में रिपोर्ताज का जन्म नहीं हुआ और अब जो इक्के-दुक्के रिपोर्ताज लिखे गये है, वे उन्ही के द्वारा जो अपने विचारो और कार्यों से साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-पूँजीवाद के विरोधी रहे है, तथा जिन्हे वर्तमान समाज के सघर्षों का थोडा-बहुत प्रत्यक्ष अनुभव है। भारत की क्रान्तिकारी परिस्थिति में ज्यो-ज्यो जोर आता जायगा, त्यो-त्यो रिपोर्ताज भी विकास करता जायगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे तरुण लेखक साहित्य के अन्य रूप-विधानो के साथ-साथ रिपोर्ताज की कला को भी अधिक-से-अधिक अपनायें, क्योकि वह उनमे और सघर्षरत जनता मे सीधा सम्बन्ध स्थापित करके पूँजीवादी समाज की उस असंगति के बन्धन तोड देगा जिसमें कलाकार और जनता के जीवन का व्यवधान निरन्तर बढता जाता है और कला और साहित्य मे रहस्यवाद और निराशावाद को जन्म देता है।

—मार्च १९४१

८

कबीर : युग-चित्रण

कबीर भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण (रिनेसां) के युग-प्रवर्त्तक संत और महाकवि हैं। उनका सुदीर्घ जीवन-काल पूरी पन्द्रहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक उन्नीस वर्षों को घेर लेता है। इस समय तक उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में यत्र-तत्र मुसलमान सामंतों ने अनेक राज्य स्थापित कर लिये थे। दिल्ली की गद्दी पर लगभग दो सौ वर्षों से मुसलमान सुलतानों का राज्य रहा था। एक प्रकार से मुसलमान तब तक इस देश के ही निवासी बन चुके थे।

इस घटना का केवल भारतीय राजनीति पर ही नहीं, बल्कि समूचे भारतीय जीवन पर—भारतीय समाज, कला, संस्कृति और विचार-पद्धति पर व्यापक, युगांतरकारी प्रभाव पड़ा।

देश के कोने-कोने में फैले हिन्दू और मुसलमान शासक जाति और धर्म का विचार न करके अपने-अपने राज्यों के सीमा-विस्तार के लिए परस्पर लड़ते रहते थे, या दिल्ली के सुलतान अपने साम्राज्य को सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने या अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए निरन्तर युद्धों में ही जूझते रहते, या कि कुछ मुसलमान शासक अपने धर्मांध उल्माओं के आदेश पर हिन्दुओं पर विशेष रूप से अत्याचार करते, उन पर जजिया कर लगाते या हिन्दुओं के मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ते थे—ये घटनाएँ तो आए दिन होती ही रहती थीं। यह सारी अंत कलह और अराजकता तो मध्य-युग के अंत की द्योतक उथल-पुथल थी। लेकिन उस युग के काव्य और कला में इस राजनीतिक अव्यवस्था का चित्रण ज्यों-का-त्यों सीधे ढंग से ढूँढना व्यर्थ होगा, क्योंकि उस युग की सबसे बड़ी वास्तविकता यह ऊपरी राजनीतिक उथल-पुथल नहीं है, और न मुसलमानों का हिन्दुओं को पराजित करके अपना राज्य स्थापित करना ही ऐसी बड़ी घटना थी कि कविता और कला की प्रवृत्तियों में कोई मौलिक युगांतर पैदा कर देती। ऐसे बाह्य आक्रमण भारत पर बार-बार होते आए थे और आक्रमणकारी किरात, हूण, यवन, खस और शक आदि जातियाँ यहाँ आकर बसती भी गई थीं, लेकिन उन्होंने यहाँ के धर्म-मत और जाति-वर्ण पर आधारित समाज-व्यवस्था को कभी इस तरह नहीं झकझोरा था और न समाज में उन प्रगतिशील शक्तियों को ही शक्ति और प्रेरणा दी थी जो उठकर रूढ़ियों से टकरातीं और दलित और वंचित लोगों को आत्मगौरव प्रदान करके सांस्कृतिक नवजागरण के मार्ग पर

अग्रसर करती। वे स्वयं अपनी विशेषता खोकर भारतीय समाज मे घुल-मिल गईं। परन्तु इस बार ऐसा नही हुआ था। इस्लाम स्वयं एक सुसगठित सप्रदाय था। उसके आने से और यहाँ की अनेक दलित जातियो के मुसलमान बन जाने से दो धर्मो और सस्कृतियो का सगम तो हुआ, लेकिन यह सगम ऐसा था जिसमे दोनो धाराएँ जीवन के हर क्षेत्र में और हर स्तर पर एक-दूसरे से प्रभावित होकर भी अपना वैशिष्ट्य और स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखती आई थी। इस्लाम के एकेश्वरवाद, सामाजिक न्याय और धार्मिक समानता के सिद्धान्तो ने यहाँ की दलित, जाति-भ्रष्ट, शूद्र जातियो में सहज ही एक नई आशा का सचार किया और एक विराट् जन-आन्दोलन को जन्म देने मे परोक्ष रूप से सहायता भी दी। साथ ही उच्च वर्गों और जातियो के उदारमना शास्त्रज्ञ विद्वानो में भी उसने यह चेतना जगा दी कि पौराणिक मत और जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले करने मे ही कल्याण है।

भारतीय नवजागरण के प्रारम्भिक इतिहास और धर्म-आन्दोलनो को समझने के लिए यह याद रखने की बात है कि उन दिनो विभिन्न वर्गों के आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धो को धर्म-व्यवस्था ही विचार-क्षेत्र में व्यक्त और प्रतिबिंबित करती थी, क्योकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारो का नियमन करता था—वही तब के ह्रासोन्मुखी सामन्ती समाज का स्वीकृत विधान था। सर्व-साधारण की आर्थिक-सामाजिक गुलामी के बन्धनो को और कठोर बनाने के लिए विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्व-स्नान, वेदपाठ, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड आदि बाह्याचारो की शृखला को और जटिल तथा सर्व-साधारण के लिए दुरभिसाध्य और कठोर बनाया जाता था। इसी कारण समाज की निम्न, अधिकार-वचित श्रेणियो की ओर से सामन्ती आर्थिक-सामाजिक गुलामी पर आक्रमण करने के लिए भी हमेशा धर्म के कठोर विधान पर आक्रमण किया जाता था। इसे यो भी कह सकते है कि उस काल मे धार्मिक बन्धनो को ढीला करने की जो चेष्टाएँ होती थी वे मूलत सामन्ती आर्थिक-सामाजिक गुलामी की जडो पर ही कुठाराघात करती थी। उन दिनो लोक-मानस मे मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-सघर्ष धार्मिक स्तर पर जनता की लोक-परम्परा या उच्च वर्गो की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरो के बीच धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली और रूपको का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के समान अधिकार की माँग वास्तव मे आर्थिक-सामाजिक न्याय की माँग थी। जाति-कुल-वर्ग-श्रेणी की भिन्नता के बावजूद भक्त-पद प्राप्त करने की माँग उस समय के अमानवीय, अन्यायपूर्ण समाज-सम्बन्धो के मानवीयकरण की माँग थी और उन बनावटी, ऊपर से थोपी गई मर्यादाओ को तोड़ने की माँग थी जो विशाल जन-समूह को अपने अधिकारो से वंचित

रखती है। यही कारण है कि उस काल के तमाम जन-आन्दोलनो का बाह्य-रूप धार्मिक था, तमाम प्रगतिशील जन-नेता और मनीषी धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानवमात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे और उन तमाम सामाजिक कुरीतियो, रूढियों, अन्ध-विश्वासो, साम्प्रदायिक कट्टरताओ, बाह्याचारो और कर्मकाण्डो पर खुलकर आक्रमण करते थे जिनका आश्रय लेकर उच्च वर्ग और उच्च जातियाँ सर्व-साधारण का शोषण-दोहन करती थीं। यदि इस ऐतिहासिक तथ्यपरक दृष्टि से हम देखें तो हमे कबीर के काव्य मे अपने युग की सभी मूलभूत समस्याओ का अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ चित्रण मिलेगा।

कबीर के युग-चित्रण को गहराई से समझने के लिए उन धार्मिक आन्दोलनो को जानने-समझने की भी जरूरत है जो कबीर से पहले और कबीर के समय लोक-मानस को आलोडित कर रहे थे, जिनकी परम्पराएँ बन चुकी थीं और जिनको स्वीकार करके भी कबीर ने जिनसे सम्बन्ध-विच्छेद किया था और स्वय एक नई परम्परा गढकर भारतीय चिन्ताधारा में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था।

मुसलमानो के आगमन से सत्ताधारी उच्च वर्गों और उच्च जातियो पर यह प्रतिक्रिया हुई कि उन्होने भी सघ-बद्ध इस्लाम का मुकाबला करने के लिए देश मे फैले विभिन्न मत-मतान्तरो को संघबद्ध करने की कोशिश की। उस समय यहाँ ब्रह्मवादी कर्मकाण्डी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेक मत प्रचलित थे जो स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि अनेक आधारो पर सगठित थे। स्मार्त पण्डितों ने शास्त्रीय वचनो के आधार पर एक सर्व-सम्मत मत निकालने की कोशिश की और शास्त्र-वाक्यो की छानबीन करके एक आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर करने के लिए निबन्ध-ग्रथो की रचना की। वस्तुतः इन निबन्ध-ग्रंथो की आचार-प्रवणता उच्च जाति के हिन्दुओ को ही सघबद्ध कर सकती थी, क्योकि तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उनका केन्द्र-बिन्दु थी और मूलतः उनका लक्ष्य अन्त्यजों और निम्न श्रेणियो के प्रति सामाजिक रूप में वर्जनाशील रहकर उच्च जाति के हिन्दुओ को और भी अधिक हिन्दू बनाना था। सिद्ध, योगी और सत कवि इस आचार-प्रवण, संकीर्ण मतवाद पर लगातार आक्रमण करते रहे, क्योंकि इस प्रकार की संघबद्धता से जनता का हित-साधन नहीं होता था।

इसके विपरीत, मुसलमानो के प्रारम्भिक आक्रमणो के समय से ही पूर्व और उत्तर भारत मे निम्नवर्ग की जातियो की ओर से विद्रोह का झंडा लहराया जाने लगा था। बिहार में बौद्ध-धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान-संप्रदाय के रूप में बौद्ध तान्त्रिको या सिद्धो का प्रभाव बढा जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियो से आते थे। बिहार से लेकर बंगाल और आसाम तक इन 'चौरासी

सिद्धों' का जन-साधारण पर अनन्य प्रभाव था। सिद्ध और योगी-सम्प्रदाय में, जिसमें सबसे प्रमुख गोरखनाथ है और जिनके नाम पर नाथ-सम्प्रदाय चला, यद्यपि वामाचार, रहस्य और गुह्य की प्रवृत्तियाँ प्रमुख थी तथा और भी अनेक उच्छृङ्खलताएं और दुराचार प्रचलित थे, लेकिन यह उच्च वर्णों और उच्च जातियो द्वारा आरोपित धार्मिक और सामाजिक बन्धनो के प्रति निम्नवर्ग के लोगो का अन्ध, अनियन्त्रित विद्रोह था, इसमे कोई सन्देह नही। यही कारण है कि इन सिद्धो और नाथ-पथी योगियो ने शास्त्रीय स्मार्त मत को तो ठुकराया ही, साथ ही वे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर आधारित किसी भी दार्शनिक मतवाद को भी मानने को तैयार न हुए। नाथ-सम्प्रदाय वर्णाश्रम-व्यवस्था पर सीधी चोट करता था और ईश्वरोपासना के बाह्य-विधानो के प्रति उपेक्षा प्रकट करता था। इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। वे न हिन्दू-आचारो के कायल थे, न इस्लामी आचारो के—यद्यपि योगी जाति के लोग कालान्तर मे मुसलमान हो गये थे। वे हठयोग-साधना और अलौकिक चमत्कारो के लिए प्रसिद्ध थे—जो इस तथ्य को ही सिद्ध करता है कि यह विद्रोह मूलतः लक्ष्यहीन, अध और अनियन्त्रित था। साधारण जनता इन सिद्धो और योगियो के प्रति सहज ही आकर्षित होती थी, क्योकि उसे लगता था कि वर्ण-व्यवस्था, पौराणिक धर्म और भाग्यवाद को इनका हठयोग चुनौती देता है।

कबीर स्वय नाथ-पथी परम्परा के सत थे, लेकिन उनका विद्रोह विनाशक न था। उन्होने एक दूसरे धार्मिक आन्दोलन की परम्परा से इस विद्रोह को सम्बद्ध करके उसे एक जनकाक्षित उद्देश्य देकर मानवमात्र के लिए परस्पर मिलन और एकता का मार्ग प्रशस्त किया। धार्मिक आन्दोलन की यह दूसरी धारा प्रेम-भक्ति की धारा थी जो दक्षिण से चलकर उत्तर भारत को आप्लुत कर रही थी।

सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तो मे भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्तमान थी। इन्ही लोगो की परम्परा मे वैष्णव आचार्य रामानुजाचार्य हुए थे। उन्होने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जातियो को ऊँचा किया। उनका श्री-सम्प्रदाय मायावाद का विरोधी था। इनकी ही शिष्य-परम्परा मे स्वामी रामानन्द हुए जो कबीर के गुरु थे। वह दक्षिण से उत्तर भारत में आए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। उनके अनुसार 'जो भक्ति के पथ मे आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है।' इसी प्रकार 'सभी भाई-भाई है। सभी एक जाति के है। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नही।' उन्होने देश भाषा में कविता लिखी और ब्राह्मण से चाण्डाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया। स्वामी रामानन्द के बारह शिष्य थे जिनमें से रैदास

(चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना (नाई) आदि निम्न जातियो के लोग भी थे।

कबीर के समय देश मे धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी। वह थी सूफी साधना की धारा। सूफी साधक इस्लाम के एकेश्वरवाद से सतुष्ट न थे और भगवान् को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियो की तरह मानते थे। पहले ये साधक पजाब और सिध मे आकर बसे। फिर धीरे-धीरे उनकी परम्परा सारे भारतवर्ष मे फैल गई। ये साधक मुसलमान उलमाओ की तरह कट्टर और सकीर्ण मतवादी न थे। इसीलिए मुईन उद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगज (१२०० ई०), शेख चिश्ती (१२६१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५) आदि सूफी साधक समान भाव से हिन्दू और मुसलमानो का विश्वास और सम्मान प्राप्त कर सके थे। बाद मे इन सूफी साधको ने पौराणिक आख्यानो के बदले लोक-प्रचलित आख्यायिकाओ का आश्रय लेकर जनता तक अपनी बात पहुँचाई।

इस प्रकार कबीर के समय और उनसे पहले देश में धार्मिक आन्दोलनो के रूप मे जनता का विद्रोह जिन तीन परम्पराओ के मार्ग से व्यक्त हुआ था, कबीर को उन सबको आत्मसात् करने का सुयोग मिला था। इसी कारण उनकी वाणी इतना विशद युग-चित्रण है और इतना अक्खड़पन, सहज भाव, साहस और गहरा व्यग्य है, जो उन्हे एक युगावतारी व्यक्ति की कोटि मे रख देता है।

अपने युग के विराट् सामाजिक और सास्कृतिक जन-आन्दोलन की इन तीन धाराओ को अपने अन्दर आत्मसात् करके भी कबीर किसी एक के ही नहीं बने। वे एक ऐसी युग-सधि के काल मे पैदा हुए थे, जिसमे हिन्दू और मुसलमान जातियो के उच्च वर्गों मे एक दूसरे के प्रति चाहे जितनी असहिष्णुता क्यो न रही हो, लेकिन निम्नवर्ग और जातियो मे परस्पर एक दूसरे के निकट आने की और मिल-जुलकर रहने की भावना बलवती होती जा रही थी। और युग की आवश्यकता थी कि कोई सर्वसाधारण के अनियन्त्रित विक्षोभ और विद्रोह को एक सरल और सीधा मार्ग दिखा सके। कबीर ने निर्गुण प्रेम-भक्ति का मार्ग लोगो को दिखाया और उन्होने प्रेम को ही साध्य और साधन दोनो माना—

"पोथा पढि-पढि जग मुआ, पडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढे सो पडित होय॥"

भगवत्प्रेम के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले, उन्होने जातिगत, वशगत, धर्मगत, सस्कारगत, विश्वासगत और शास्त्रगत विशेषताओ के फैले हुए जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक अदम्य साहस लेकर उच्च वर्ग की मान्यताओ की तीखी आलोचना की। पण्डित और शेख

इन दोनो पर उन्होने समान रूप से व्यग्य कसे है और उनकी इन झकझोर देने वाली व्यंग्योक्तियो मे ही उस युग की सारी समस्याएं मूर्तिमान हो जाती है। कहीं वे पूछते है—'यदि नग्न घूमने मे योग मिलना तो वन के सभी मृग मुक्त हो जाते—सिर का मुण्डन कराने से यदि मुक्ति मिल जाती तो सिद्धि की ओर भेड क्यो नही चली गई ?' कहीं वे वर्णाश्रम-व्यवस्था पर व्यग्य कसते हुए पूछते है—'जो तू ब्राह्मण है और ब्राह्मणी से उत्पन्न हुआ है तो तू इस ससार मे किसी दूसरे रास्ते से क्यो नही आया। तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र है, हम किस प्रकार घृणित रक्त है और तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो ?' छुआ-छूत के विरुद्ध तर्क करते हुए कबीर कहते है—'जल मे छूत है, थल मे छूत है और ग्रहण के अवसर पर किरणो में भी छूत है, जन्म मे भी छूत है और फिर मरने मे छूत है। कह तो रे पडित, कौन पवित्र है। आँखो मे भी छूत है (कही शू॒ की दृष्टि न पड जाय), कानो मे भी छूत है (कहीं शूद्र की बात कान में न पड जाय), बोली मे छूत है (कही शूद्र से बात न हो जाय), उठते-बैठते तुझे छूत लगती है, यहाँ तक कि भोजन मे भी छूत है। इस प्रकार कर्म-बन्धन मे फँसने की विधि तो सभी कोई जानते है, मुक्त होने की विधि कोई एक ही जानता है। कबीर कहता है कि जो राम को हृदय में विचारते है उन्हे छूत नहीं लगती।'

बनारस के सन्तो का वर्णन करते हुए कबीर कहते है—'साढ़े तीन-तीन गज की धोती पहने हुए, पैरो मे तिहरे तागे लपेटे हुए, गले मे जय-माला डाले हुए और हाथ में लोटे लिये हुए इन कम्बख्तो को हरि के सत नही कहना चाहिये। ये लोग तो बनारस के ठग है। मुझे ऐसे सत अच्छे नही लगते जो टोकरे भर-भरकर पेड़े गटक जाते है। बरतन माँजकर ऊपर खाना खाते है कि कही किसी की छाया भोजन पर न पड जाय और लकड़ी धोकर जलाते है।'

राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडम्बर पर चोट करते हुए कबीर कहते है—'ए काज़ी, तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बनता, हम दीन बेचारे तो ईश्वर के सेवक है और तुम्हारे मन को राजसी बाते ही भाती है। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर यानी धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नही दी।' एक और स्थान पर वे काजी को नसीहत देते हुए कहते है कि 'ए पागल, तू दीन से सहानुभूति नही रखता, इसलिए तेरा जन्म किसी काम का नही है।'

कबीर जनता के कवि थे, और जनता के प्रति उनके हृदय मे असीम करुणा और अनुराग का भाव था। उन्हे राजा के घर जाने मे आपत्ति थी। एक पद में उन्होने कहा भी है कि 'हे राजन्, तुम्हारे घर कौन आयगा ? तुम्हारे दूध से अधिक मैने विदुर के पानी को अमृत करके माना है। तुम्हारी खीर की तुलना में मैंने उनका

साग पाया, जिसका गुण गाते-गाते मैंने सारी रात बिता दी। कबीर का स्वामी आनन्दमय विरोध करने वाला है जिसने किसी के जाति-बन्धन को नहीं माना।'

इस प्रकार कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आचार-प्रवणता और सामाजिक अन्याय और हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की वे निश्चय ही युगानुरूप थे। यह कहकर कि 'सा ं के सब जीव है, कीरी, कुंजर दोय' उन्होंने मानव-मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के हित सबके लिए समान अधिकार की माँग की। इस विराट् जन-आन्दोलन के सबसे प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए एक जीवन्त सन्देश भी।

—जनवरी १९५२

६

छायावादी कविता में असन्तोष की भावना

भारत के नवोत्थित पूंजीवाद द्वारा प्रेरित राष्ट्रीय जागरण की प्रथम स्वाभाविक प्रतिक्रिया साहित्य मे भारतेन्दु-काल से लेकर द्विवेदी-काल तक की इतिवृत्तात्मक कविता के रूप मे व्यक्त हुई। कतिपय राजनीतिक और सामाजिक सुधार ही मुक्ति-भावना के चरम लक्ष्य थे। सामाजिक जीवन के संगठन में आमूल परिवर्तनो और उनके अनुकूल ही समाज-चेतना के नूतन सस्कार की आवश्यकता का अनुभव अभी तक स्पष्ट रेखाएँ नही बना पाया था। सारे प्रश्न सरल और सुबोध थे, अतएव उनकी अभिव्यक्ति भी अत्यन्त सरल और सुबोध थी। अपनी राष्ट्रीय अधोगति के कारणो की खोज प्राचीन सस्कृति के आदर्शों से च्युत हो जाने के तथ्य को प्रमाणित करने तक ही सीमित थी और आकाक्षित समाज का आदर्श निरूपित करने के लिए गोपालक कृष्ण की जनवादी परम्पराओ को गौरवान्वित किया गया था। 'भारत-भारती' और 'प्रियप्रवास' इस युग की राष्ट्रीय चेतना के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। सरल समस्याओ का सरल समाधान ! परन्तु १९१४-१८ के महायुद्ध, भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओ के प्रति साम्राज्यवाद की निर्मम उपेक्षा, राष्ट्रीय असन्तोष, असहयोग आन्दोलन और दमन, मुक्तिकामी राष्ट्रीय चेतना का सामाजिक जीवन की रूढ़ियो और जर्जर परम्पराओ के कठोर बन्धन को तोडते हुए वैज्ञानिकता अथवा आधुनिकता की ओर स्वाभाविक प्रवाह—आदि घटना-सूत्रो ने हमारे राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं और उनके प्रति हमारे दृष्टिकोण एवं अनुभूति की सरलता को एक झटके से छिन्नतार कर दिया। हमारे कवियो के अति संवेदनशील मानस ने अनुभव किया कि ये सारी घटनाएँ और ये सारे प्रश्न एक दूसरे पर निर्भर, और एक-दूसरे से सम्बद्ध और संगुम्फित हैं—केवल आत्मनिर्भर और निरपेक्ष नहीं है—और यह तथ्य हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक महान् सघर्ष का सूत्रपात करता है। इस सघर्ष में समाज और व्यक्ति, वर्ग और जाति, पुरुष और नारी सभी समानरूप से अपनी भूमिका खेलेंगे। सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में इस महान् सघर्ष की दुन्दुभी बजी है। देश के जनजीवन में एक अपूर्व हलचल व्याप्त हो गई, जाग्रति की नई भावनाओ ने भारतीय जनता के अन्तर के ओर-छोर को झकझोर दिया और जो सघर्ष जीवन के व्यापक क्षेत्रों को उद्बुद्ध और आन्दोलित कर रहा था वह अब प्रत्येक व्यक्ति को आशा और निराशा, मुक्तिकामना और अनिश्चितता, दृढ़ संकल्प और अधीरता, विश्वास और आशका की प्रबल लहरो

अन्दर 'असन्तोष' का 'चीत्कार' कहाँ और क्यो छिपा है ?

इन प्रश्नो की गहराई मे जाने के लिए हमें नये सिरे से अपने कला-विषयक विचारों का मूल्यांकन करना होगा।

कविता का समाज से अविच्छेद्य सम्बन्ध है, क्योकि कविता का मनुष्य के भावो से सम्बन्ध है । आदिकाल से मनुष्य प्रकृति से युद्ध करता आया है—उस पर विजय प्राप्त करने, उसके अन्तरतम प्रदेशो मे प्रविष्ट होकर उसके निगूढ रहस्यो का उद्घाटन कर, उसके साथ उच्चतम स्तर पर सन्तुलन स्थापित करने के लिए—क्योकि मनुष्य प्रकृति के अन्ध प्रकोपों और बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता चाहता है। लेकिन एक मनुष्य इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता, इसलिए वह सामूहिक जीवन व्यतीत करता है, समाज मे रहता है । सामाजिक श्रम ही उसकी स्वतन्त्रता का अस्त्र है। मनुष्य की आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन-प्रणाली ही उसकी प्रगति या उन्नति की द्योतक है। जितनी ही उन्नत आर्थिक प्रणाली होगी उतनी ही हद तक मनुष्य प्रकृति से स्वतन्त्र होगा। मनुष्य के इस सामाजिक विकास ने ही उसमे ज्ञात-चेतना उत्पन्न की। सामाजिक चेतना मनुष्य के श्रम को सगठित और सघटित करती है। समाज ने मनुष्य की जिन अन्तर्वृत्तियो को ग्रहण किया, वे स्वतन्त्र होकर समाज की ज्ञान-चेतना के चिर-परिवर्धित कोष में परिवेष्टित होती गई; अस्वीकृत पथ-भ्रान्त पथिक की भाँति भटकती फिरी। सामाजिक जीवन और सामाजिक अनुभव से जिनका सम्बन्ध रहता है वही अन्तर्वृत्तियाँ इस कोष मे स्थान पाती है।

कविता कला है। मनुष्य के श्रम की तरह वह भी स्वतन्त्रता का अस्त्र है। जिस प्रकार मनुष्य वास्तविकता के बदलने मे ही वाह्य-वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर पाता है (विज्ञान द्वारा) उसी प्रकार अन्य मनुष्यो के 'अहं' की अनुरूपता का ज्ञान भी उसे 'अहं' को बदलने के प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त होता है। (कविता और कला द्वारा)। भौतिक जगत् के समान मनुष्य के सामाजिक जीवन मे भी परिवर्तन अनिवार्य है, केवल बाह्य जीवन मे ही नहीं वरन् उसके आन्तरिक जीवन या भाव-जगत् मे भी। इसीलिए समाज के सामूहिक भाव समाज के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होते जाते है। यह आवश्यक नही कि उनके परिवर्तन की गति समान ही हो—अतः कला की भी यह विशेषता है कि वह परिवर्तनशील और प्रगतिशील है।

प्रकृति और चतुर्दिक् वातावरण से सघर्ष करने वाले मनुष्य के भावों में उसके बाह्य जीवन की प्रतिक्रिया होती है, मन में भावो का संघर्षण होता है, आकांक्षाएँ उत्पन्न होती है, सामाजिक सघर्ष की कठोर-कटु विषमताओ को मधुर बनाने की उत्कण्ठा पैदा होती है, परिवर्तित सामाजिक जीवन से तादात्म्य स्थापित

करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि बाह्य सघर्ष के साथ-साथ आन्तरिक सघर्ष या भाव-जगत् का द्वन्द्व भी चलता रहता है। और कविता, जो भावो को संगठन या उन्हे तरतीब देती है, नवीन अन्तर्प्रेरणाओं द्वारा भाव-जगत् की सीमा विस्तृत करती जाती है। वह जीवन-श्रम या संघर्ष को भावो के रस मे सीचकर मधुर बनाती जाती है। कविता का यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन और सामाजिक श्रम के साथ मनुष्य का 'मानवी लगाव' उत्पन्न करती है। यह कार्य कविता मनुष्य के भावो को एक नवीन श्रेष्ठतम कल्पनात्मक संसार में अवतरित करके करती है। इस कल्पनात्मक ससार की वास्तविकता अवास्तविक नही होती, वरन् एक उच्चकोटि की वास्तविकता होती है। कविता का जन्म ही इस श्रेष्ठतम वास्तविकता की कल्पनात्मक रूपरेखा अङ्कित करने से होता है। यद्यपि हम इस कल्पनात्मक वास्तविकता का स्पर्श नही कर पाते, तथापि इस 'भ्रम' के दीपक को लेकर भविष्य के तमपूर्ण गर्भ मे घुसने का साहस सचित कर लेते है। यह भ्रम, यह श्रेष्ठ जीवन की कल्पना मृग-मरीचिका के समान अप्राप्य नही होती, क्योकि वर्तमान के गर्भ में उसके बीज होते है, जिन्हे सम्पूर्ण मानवता की श्रम-शक्ति भविष्य में अंकुरित करने में सफल होती है—कल्पना सत्य हो जाती है आकाक्षाएँ वास्तविकता के रूप में परिणत हो जाती है।

अतः कविता मनुष्य की स्वतन्त्रता का अस्त्र है।

आदिकाल मे जब कविता का जन्म हुआ था, समाज बहुत आगे बढ़ आया था। उस समय कविता का जीवन से सीधा सम्बन्ध था। हम ऋतु-उत्सवो के गीतो मे अर्ध-ऐतिहासिक समाज का सामाजिक तथा सामूहिक श्रम से जो सम्बन्ध था, उसका भावपूर्ण चित्रण पाते है। इनमे कोठियो अनाज और सुख-समृद्धि की कल्पना की जाती थी, केवल इसलिए कि फसल पैदा करने का श्रम मधुर बन सके, हल्का हो सके, उसमे तत्परता और उत्साह भरा हो। कविताओं के उच्चारण का सम्बन्ध कलात्मक रूप से मनुष्य के कार्य के साथ रहता था और उसके पीछे मनुष्य की सामूहिक भावनाएं निहित रहती थीं। इस प्रकार फसल के गीत से मधुसिंचित कार्य चलता जाता था; उत्पादन बढ़ा, और नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो गईं। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा ने नवीन कल्पनाओ को जन्म दिया। इन्द्र, वरुण, गरुड, पवनसुत, नभ-यान (विमान) आदि की अनेक कल्पनाएँ बनी, जो परिश्रम-कुशल अनुभवी थे उन्हे देवताओ का पद-गौरव प्राप्त हुआ। और मनुष्य नये कल्पना-चित्रो को आँखों मे रमाये एक नयी उमंग से प्रकृति के नव-प्रदेशो पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता गया।

सक्षेप में, कविता सत्य के एक नूतन कल्पनात्मक ससार की रचना करती है,

और इस कल्पनात्मक संसार के विशिष्ट गुणो के साथ हमारा भावात्मक तादात्म्य स्थापित करती है। इस कल्पनात्मक ससार मे हमारा सम्बन्ध अन्तर्वृत्तियो की चेतना द्वारा होता है। इस कल्पनात्मक ससार की सृष्टि सामूहिक अनुभूति के आधार पर होती है।

निष्कर्ष निकला कि कविता का जन्म स्वतन्त्रता के साथ होता है। इतिहास के आदिकाल में, जब तक समाज परस्पर-विरोधी वर्गों में स्पष्ट रूप से नही बँट जाता अर्थात् जब तक मनुष्य सामूहिक जीवन व्यतीत करता है और मनुष्य का दुश्मन न बनकर केवल प्रकृति का कोप-भाजन ही बना रहता है; कविता सम्पूर्ण मानवता की आकांक्षाओ का प्रतिनिधित्व करती है, मनुष्य के सामूहिक भावो और श्रमो की अभिव्यंजना करती है। किन्तु इसके पश्चात् एक अति-उन्नत एव सभ्य वर्ग के समाज में कविता समस्त समाज की आकाक्षाओ और उनके श्रमो को व्यक्त न कर केवल उच्च वर्ग की भावनाओ को व्यक्त करने लगती है। समस्त मानवता का दामन छोडकर वह शक्ति-सम्पन्न वर्ग का वरण कर लेती है।

समाज के विकास के साथ, अर्थात् उत्पादन की प्रणाली के विकास के साथ, समाज में श्रम-विभाजन होने लगता है। समाज की उन्नति और प्रत्येक मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए यह श्रम-विभाजन अनिवार्य है। उत्पादन की वृद्धि ने वर्ग उत्पन्न किये। शासक वर्ग के ध्रुव पर मानव-समाज की सम्पूर्ण चेतना केन्द्रीभूत हो गई। कलाकार या कवि भी इसी ध्रुव पर मँडराते रहे और शासक वर्ग की तरह उन्हे भी श्रम से छुट्टी मिली। शनैः-शनैः कला या कविता सामूहिक श्रम से भिन्न, दूरस्थ होती गई। कवि अकेला, निराला व्यक्ति बन गया।

पूँजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे एक क्रान्तिकारी समाज था। सामन्त-शाही का अन्त करके उसने मनुष्य को मनुष्य की गुलामी से स्वतन्त्र कर दिया, उत्पादन-प्रणाली मे क्रान्तिकारी उन्नति की, और पूरे समाज की रूपरेखा ही बदल दी। 'बराबरी', 'भाईचारे और 'स्वतन्त्रता' के नाम पर सामन्ती समाज का अन्त करके उसने नये समाज सम्बन्ध स्थापित किये।

अठारहवी सदी की यूरोपीय क्रान्तियाँ, मुख्यकर फ्रांस की पूँजीवादी सामाजिक क्रान्ति! पूँजीपति वर्ग के सिद्धान्त-प्रतिपादक समझे कि 'स्वतन्त्र रूप से जन्म लेने वाला जो मनुष्य हर जगह बन्धन-ग्रस्त' है वह पूँजीवाद के शुभागमन से उन्मुक्त हो गया। लेकिन यह पूँजीपति वर्ग की स्वतन्त्रता थी। व्यापार-वृद्धि और साम्राज्य-विस्तार के लिए वह निश्चय ही स्वतन्त्र हो गया था। जहाँ तक आर्थिक प्रणाली का सम्बन्ध है पूँजीपति वर्ग एक क्रान्तिकारी वर्ग है। उत्पादन-यन्त्रो मे निरन्तर क्रान्तिकारी उन्नति करके वह उत्पादन-प्रणाली की बुनियाद को इतना विस्तृत और

सामाजिक बना देता है कि समस्त मानव-जाति सामूहिक रूप से उत्पादन-कार्य में भाग लेने लगती है।

लेकिन इसका यह अर्थ नही कि वह अपने साथ नये सामाजिक बन्धन नहीं लाता। इस संश्लिष्ट समाज के बन्धन और भी कठोर निरकुश होते है। लाभ की प्रेरणा, उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत स्वाधिकार, औद्योगिक प्रतियोगिता और इनसे उत्पन्न साम्राज्यवाद, फासिज्म, आर्थिक सकट, बेकारी और युद्ध करोडो प्राणियो के जीवन में विभ्राट् पैदा कर देते है, और उन्हे बाजार और वस्तु का गुलाम बना देते है। पूँजीवाद के पतनोन्मुख काल की यह वीभत्स, विकराल, रक्त-पिपासु वास्तविकता श्रमजीवी-वर्ग मे अपने श्रम की सामूहिकता और पूँजीवाद का नाश करके इतिहास चक्र को आगे ले जाने की अपनी क्षमता की चेतना उनमें उत्पन्न कर देती है। इन दो परस्पर विरोधी वास्तविकताओ के सामने पड़कर आज का पूँजीपति अपनी अन्तर्वृत्तियो और पूँजीवाद के निरकुश सामाजिक नियमो का दयनीय-निरुपाय दास बन गया है। वह समाज के हितों के विरुद्ध खड़े होकर उसके बन्धनों की शृंखला को और भी जकडकर स्वतन्त्र होने की व्यर्थ चेष्टा कर रहा है। समाज की असगतियो का यह निरूपाय दास आज व्यक्तिवादी, आत्मापेक्षी और समाज का शत्रु बन गया है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। भारत मे पूँजीवाद एक क्रान्तिकारी के रूप मे नही बल्कि एक सौदागर के रूप में आया। उसका चरम उद्देश्य भारतीय बाजारो, यहाँ के प्राकृतिक साधनो, और यहाँ के श्रम का शोषण करना था; उन पर अपना आधिपत्य जमाना था, क्रान्ति करना नहीं। निदान सामन्ती आर्थिक प्रणाली बदलकर पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली हो गई, लेकिन सामन्त सामन्त रहे, समाज-सम्बन्ध, धर्म, सस्कृति, सभ्यता और मतमतान्तरो के जर्जरित रूपो को उँगली तक न छुआई गई। इस कूड़ा-करकट के नीचे दबकर भारतीय सभ्यता-संस्कृति की जीवन-प्रदायिनी निधियाँ भी निर्जीव हो चली। लेकिन साम्राज्यवाद के रूप में पूँजीवाद के आगमन से हमारी जीवन-समस्याएँ आधुनिक और अन्तर्राष्ट्रीय होती गईं। इसलिए प्राचीन कूप-मण्डूकता और दकियानूसी रुढ़िवादिता के विरुद्ध स्वयमेव सुधार-आन्दोलन उठ खडे हुए; किन्तु उनमे तीव्र साम्राज्य-विरोधी भावना का अभाव था, क्योकि हमारी सारी जहालत, बर्बरता कायम रखकर साम्राज्यशाही ने हम पर अपनी निष्पक्षता और उदारता की छाप लगा दी थी, यद्यपि इस प्रकार वह हमारे सारे जीवन-स्रोतो को बन्द करती जा रही थी। तो भी साम्राज्यवाद भारत में एक भारतीय पूँजीवादी वर्ग के जन्म को न रोक सका। यह पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का प्रतिवादी है। अतः एक सीमा तक क्रान्तिकारी है।

भारत मे आधुनिक कविता का विकास भी इसके अनुरूप ही हुआ। रोमैण्टिक कविता की उद्भावना जिसे हम 'छायावाद' की कविता कहते है, केवल पूँजीवाद के काल मे ही हो सकती थी। छायावादी कवि भी अधोगति-प्राप्त सामन्ती समाज की शृंखलाओ और अनैसर्गिक बन्धनो, उसकी सकीर्ण सौन्दर्य-भावनाओ, कुत्सित सौन्दर्य मूल्यो के विरुद्ध विद्रोह करता है। वह एक ऐसे क्रान्तिकारी के रूप मे अवतरित होता है जो नवोत्थित वर्ग के भावो को विगत जीवन की वास्तविकता के विरुद्ध सगठित कर भावो की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए मनुष्य का सचेत प्रेरणा प्रदान करता है, और नवजीवन की वास्तविकताओ से भाव-जगत् का तादात्म्य स्थापित कराने के लिए मनुष्य की अन्तर्वृत्तियो और उसके 'अह' मे परिवर्तन करता है। भारत मे पूँजीवाद का अनैसर्गिक विकास होने पर भी छायावादी कवियो ने रीतिकाल की मृत परिपाटी के विरुद्ध जो संघर्ष किया है, वह इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। 'भक्ति-काल' के कवियो के सीमित दायरे का वर्णन करने के बाद रीतिकाल की सामन्ती कविता की 'संकीर्णता' और 'स्थविरता' की विशद व्याख्या करते हुए कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका मे लिखा है कि 'इस तीन फुट के नख-शिख के ससार के बाहर यह कवि-पुंगव नहीं जा सके।' केवल इतना ही नही, पन्त परिवर्तित समाज की वास्तविकता और उसके अनुरूप ही भावाभिव्यञ्जन की शैली की आवश्यकता के प्रति भी सचेत थे। रीतिकाल के कवियो के भाव-जगत् की सकीर्णता पर ही उन्होने घातक प्रहार नहीं किये, वरन् उनकी शैली और छन्दो पर भी, जो नवीन, अत्यधिक विकसित वास्तविकता की भावात्मक कल्पना को अपनी लघु सीमा में चित्रित करने मे असमर्थ थे। पन्त ने लिखा कि, 'ब्रज-भाषा की उपत्यका का वक्षस्थल इतना विशाल नही कि उस में सब-कुछ सजाया जा सके।' इसलिए 'हम ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रो से भरी पुरानी छीट की चोली नही चाहते, इसकी सकीर्ण कारा मे बन्द हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। यह नकाब पहना हुआ हास्यास्पद चेहरो का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है।'

यह 'सभ्यता' जिसको छायावाद का कवि अभिषिक्त करना चाहता है, कोई प्राचीन सभ्यता नहीं, बल्कि आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता है। उसकी वास्तविकता ने कवि का दृष्टिकोण इतना व्यापक बनाया कि वह पुरानी 'सकीर्ण कारा' का परित्याग कर स्वतन्त्र होने की आवश्यकता का अनुभव करने लगा। इस प्रकार छायावादी कवि एक प्रकार का क्रान्तिकारी था, क्योकि उसकी वाणी, उसके भाव-चित्रो मे सामन्ती प्राचीन के प्रति गहरा प्रतिवाद था।

अतः हिन्दी की आधुनिक छायावाद की कविता का जन्म भी स्वतन्त्रता की भावना को लेकर हुआ। रीतिकाल की कविता की सकीर्णता, स्थविरता नष्ट करके

छायावाद ने अपने प्रारम्भिक काल में व्यापक दृष्टिकोण और प्रगतिशील भावनाओ की अभिव्यजना की, सामन्ती युग की समाज-शृङ्खलाओ और रूढ़ियो की दासता के विरूद्ध सघर्ष करके, जिसके कारण मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के समस्त द्वार बन्द हो चुके थे, उसने 'व्यक्ति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

२

हिन्दी की छायावादी कविता अत्यन्त सश्लिष्ट है। भारतीय पूँजीवाद के समान ही इसका विकास भी अनैसर्गिक रूप से हुआ है, अतः इसकी दुर्बलताएँ भी अनेक है। अंग्रेजों, अग्रेजी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क मे आने से हमारे साहित्य और विशेष-कर काव्य-साहित्य पर उसका असर पड़ा। इगलैण्ड के उन्नतिशील रोमैण्टिक कवियो—वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन—की 'रोमैण्टिक' शैली ने हमारे काव्य-साहित्य को एक नवीन काव्य-शैली तो अवश्य प्रदान की, लेकिन उसमें इंगलैण्ड के 'रोमैण्टिक' कवियो की सजीवनी शक्ति, आशावादिता और प्रगतिशीलता न आ पाई। उनकी व्यापक अनुभूति, विशाल हृदयता, प्रकृति और वातावरण पर विजय प्राप्त करने की अक्षय जीवट और जीवन को एक उच्च मानवीय आदर्श पर कायम करने की कल्पना का छायावादी कविता मे एक दुर्बल स्वरूप ही निखर पाया। इसके अतिरिक्त आधुनिक अंग्रेजी कविता से भी छायावादी कविता की अनुभूति और भाववस्तु को प्रेरणा मिली है और उसकी समाज-विरोधी भावनाओ की प्रतिच्छाया छायावादी कविता पर पड़ी है।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि छायावाद की कविता में गहरे प्रतिवाद और असन्तोष की भावना का अभाव है। भारतीय पूँजीवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समक्ष प्रतिवादी है, उसका प्रतिद्वन्दी है। यद्यपि विश्व का पूँजीवाद पतनोन्मुख है; भारतीय पूँजीवाद अपने शैशव-काल में है और विकासोन्मुख हैं। साम्राज्यवादी शृङ्खलाओ ने उसका स्वतन्त्र विकास रोक रखा है। इन प्रतिबन्धो से उन्मुक्ति चाहने वाला भारतीय पूँजीवाद साम्राज्यवाद से सघर्ष कर रहा है। इन असङ्गतियो ने छायावादी कविता पर भी प्रभाव डाला है। उसमें परस्पर विरोधी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष हो चुकी है। तो भी किसी न किसी रूप मे आधुनिक समाज के प्रति असन्तोष की भावना उसमे सर्वत्र पाई जाती है।

रीतिकालीन बन्धनो से उन्मुक्त कविता ने जीवन को उच्चतम आदर्श पर प्रतिष्ठित करने के लिए एक नये संसार की कल्पना का अनुभव किया—

"चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया ससार।"

—महादेवी वर्मा

किन्तु इस नये संसार की कल्पना आधुनिक समाज की विषमताओ को दूर करने और नये समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले के रूप में नहीं की गई। बल्कि उसकी रूपरेखा की कल्पना मे इन विषमताओ द्वारा किये गये घावो पर मरहम का काम करने वाले आत्मतुष्टि के भावो और रागो की सर्वमान्यता है। अर्थात् यह कामना की गई कि इस नये ससार मे 'सपने प्रहरी' हो, वहाँ 'जलने में विश्राम' और 'मिटने मे निर्वाण' हो, वहाँ 'अरमानो' के बदले 'मूक व्यंग से भरा पागलपन' हो और 'दृग आँसू का व्यापार' करते हो। तो भी अपने 'पागल प्यार' के लिए 'अनोखा एक नया संसार' की आवश्यकता का अनुभव करना ही इस बात का द्योतक है कि महादेवी जी वर्तमान संसार से असन्तुष्ट है। लेकिन उनकी चेतनाहीन अनुभूति वास्तव में एक ऐसे ससार की कल्पना न कर सकी, जिसमे आधुनिक विषमताएँ नष्ट हो चुकी हो। इन विषमताओ के प्रति सहनशीलता उत्पन्न करके श्रेष्ठ जीवन का विकास तो नही किया जा सकता ?

अपनी उन्मुक्ति से आशान्वित होकर छायावादी कवि ने 'वसन्त की प्रतीक्षा' की, सोचा कदाचित् ये विषमताएँ दूर हो जायेंगी और फिर 'मल्लिकाकुंज' खिल उठेगा, वसन्त-श्री चारो ओर छा जायगी। लेकिन आधुनिक जीवन की परिस्थितियो ने उसकी 'आशालता' को 'पल्लवित' नही होने दिया, 'दृग-जल' से सीचकर भी वह 'वसन्त' को न बुला सका। उसकी आशावादिता प्रश्नवाचक रूप में परिणत हो गई—

"शून्य हृदय मे प्रेम जलद माला, कब घिर आयेगी ?
वर्षा इन आँखो मे होगी, कब हरियाली छायेगी ?"

—प्रसाद

यदि कभी छायावादी कवि आकांक्षाओ से उत्प्रेरित हो अपनी कल्पना के 'सोने के संसार' को जीवन में प्राप्त करने की कोशिश भी करता है—ऐसे सोने के संसार को जिसमें 'धरा का अनन्त शृङ्गार' है, जहाँ की 'अनन्त झंकार' में 'असीम का प्यार' भरा है, जहाँ सभी में 'स्वर्गीय विकास' है—तो उसे ज्ञात होता है कि—

"घोर तम छाया चारो ओर

•

वेग मारुत का है प्रतिकूल"

और जब कवि के हाथ से 'पतवार' छूट गई, उसकी आशा का केन्द्र 'नक्षत्र-प्रकाश' भी बुझ गया, तो निस्सहाय हो उसने अनुरोध-भरा आर्त्तनाद किया—"कौन पहुँचा देगा उस पार?" छायावाद का कवि अपने समाज की विडम्बनाओ से बिना अपनी वर्ग-भावनाएँ और वर्ग-सहानुभूतियाँ छोड़े, बचकर कहाँ जाय ? अकेला पड़कर एक ही निश्चय पर पहुँच सकता है कि 'डूबना' निश्चित जानकर वह 'विसर्जन' को

ही अपना 'कर्णधार' मान ले ! अर्थात् अन्ध शक्तियो के प्रकोपो के समक्ष आत्मसमर्पण करदे !

तो भी वह इस विषम जीवन को स्वीकार नही कर पाता और न अपनी सन्तोष-भावना मे वृद्धि कर वह अपने अन्तर के असन्तोष को शान्त कर पाता है। अत. यदि वह सचेत सामाजिक चेष्टा की आवश्यकताओ की चेतना से अनभिज्ञ रह कर एक नया 'सोने का ससार' नही प्राप्त कर पाता तो वह स्वय अपना आत्मिक (आध्यात्मिक) विकास करने मे सलग्न हो जाता है। पूँजीवाद के सामाजिक सम्बन्धो की क्रूर निरकुशता, कवि और कला के प्रति उसकी उदासीनता, कवि को उसके विरुद्ध अपने प्रतिवाद की घोषणा करने और अपने कवित्व का विकास करने के लिए मजबूर कर देती है। व्यक्तित्व के मार्ग मे जो बाधाएँ उपस्थित होती है, कवि उनके विरुद्ध असन्तोष और प्रतिवाद की ध्वनि उद्घोषित करता है। उसे ज्ञात होता है कि जीवन का बाह्य रूप उसके हृदय की अन्तरतम शक्तियो तक को शृङ्खला-बद्ध किये हुए है, अतः वास्तविक विषमताओ की अभिव्यक्ति करता हुआ वह अपनी आत्मशक्ति के बाह्य-प्रचलन द्वारा इस शृङ्खला को तोडकर उन्मुक्त होना चाहता है। पन्त की निम्न पक्तियाँ कि—

"कभी तो अब तक पावन प्रेम
नही कहलाया पापाचार
हुई मुझ को ही मदिरा आज
हाय, गङ्गाजल की धार !!"

या 'वासना' में 'बच्चन' की यह आत्म-वेदना कि—

"प्राण प्राणो से सके मिल
किस तरह दीवार है तन,

अल्पतम इच्छाएँ यहाँ
मेरी बनी बन्दी पडी है
विश्व क्रीडा-स्थल नही, रे
विश्व कारागार मेरा !"

या 'पथभ्रष्ट' और 'कवि की निराशा' आदि कविताएँ व्यक्ति के इसी विद्रोह को अभिव्यक्ति करती है। किन्तु उनके परोक्ष मे व्यक्तिवाद का एक और दूसरा रूप भी विद्यमान है—उसका समाज-विरोधी रूप। चूँकि 'विश्व' उनका कोई 'अरमान' पूरा नहीं कर पाता इसलिए यदि 'बच्चन' जी के पाँव 'कुपथ' पर है, तो वे इसकी चिन्ता क्यो करें और किसी को उनसे शिकायत भी क्यो हो ?

'रक्त' से 'सींची गई' 'मन्दिर और मस्जिद' की राह को छोडकर छायावादी कवि उस 'मधु सिञ्चित डगर' मे पॉव रखना चाहता है जहाँ 'बुलबुल' 'सन्देश' सुनाती है । लेकिन समाज की सभी राहे रक्त से सींची गई हैं, हर तरफ 'वेद लोकाचार प्रहरी' व्यक्ति की 'हर चाल' का निरीक्षण कर रहे है । अतः वह अपने व्यक्तित्व का विकास कहाँ करे, किस प्रदेश मे, किस परिस्थिति मे ? समाज मे रहकर यह सम्भव नही और समाज से बाहर मानव-जीवन नही । अतः भौतिक जीवन का परित्याग करो, स्वप्नो के ससार मे भावो को मूर्तिमान् बनाने की कोशिश करो, इसी अव्यक्त प्राप्ति में जीवन की सन्तुष्टि है, सार्थकता है । ज्ञात और अज्ञात रूप से इसी तर्क की धारा मे बहकर व्यक्तिवादी कवि स्वप्नो के सुनहरे ससार मे अनायास पहुँच जाता है । उसे आशा होती है कि यदि भौतिक जगत् मे अरमान पूरे नही हुए, सारे प्रयत्नो के फलस्वरूप चिर-अतृप्ति, असन्तुष्टि और आत्मवेदना ही मिली तो स्वप्न-जगत मे तो ये कामनाएँ-आकाक्षाएँ फलीभूत होगी ! क्या उससे आवश्यक आत्म-विकास न होगा ? इसलिए यदि,

> "तुम्हे बाँध पाती सपने मे !
> तो चिर प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने मे !"

जीवन में अप्राप्य प्रियतम को 'सपने' मे प्राप्त कर व्यक्तित्व का इतना सर्वाङ्गपूर्ण विकास हो जाता कि वे 'पावस घन' की तरह 'उमड' कर अपने 'लघु आँसू कण' से 'जग का विषाद' धो लेती, अपने 'जर्जर जीवन' मे 'ससृति का क्रन्दन' भर लेतीं और अपने 'प्राणो के स्पन्दन' मे न जाने कितने 'स्वर्ग' रचती ! किन्तु 'प्रियतम' को अब 'स्वप्नो मे बाँधना' भी सम्भव नही !

इस अन्तर्विकास की सुन्दर कल्पना, कामना या प्राप्ति से जीवन की वास्तविक समस्याएँ हल नही हो पातीं, सामाजिक बन्धन उतने ही कठोर और निर्दय बने रहते है, कल्पित सन्तोष की आह खींचने का प्रयास जीवन का विषाद कम नहीं कर देता। इसलिए 'आशा' का भी दामन छोडो, केवल 'अपने मिटने का अधिकार सुरक्षित' रखो, क्योकि जलने मे ही 'जीवन की निधि' निहित है ! इस प्रकार विद्रोही कवि अपने विद्रोह का अस्त्र फेककर आत्म समर्पण कर देता है, उसके हृदय में केवल आत्म-पराजय, आत्म-विसर्जन का भाव ही शेष रह गया है; प्रेम में न अब स्पर्शलालसा है, न प्रेम की शृङ्खलाबद्ध प्रतिमा को उन्मुक्त करने का उत्साह है । अतः दुरवस्था को सु-अवस्था का भ्रम बनाकर गौरवान्वित करने की चेष्टा, 'पीड़ा के साम्राज्य' की प्राप्ति पर हर्षोन्माद !

छायावाद का कवि अपने भावो पर चारो ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है । उसके मध्यम-वर्गी सुख-स्वप्न टूट चुके है । वह सामाजिक जीवन की चेतना को

विकराल और भयानक पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काट रही है। पूँजीवाद की तरह उसकी चेतना भी आज मानवता का प्रतिनिधित्व नही करती। निदान इतना रुदन-क्रन्दन, इतनी निराशावादिता। वह चतुर्दिक 'विषाद' देखता है, जो 'प्रकृति' के 'करुण काव्य' की तरह मनुष्य की 'नश्वर काया' मे 'अचल' पड़ा है। वह प्रश्न करता है—

"शिथिल पडी प्रत्यचा किसकी
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है ?"

इसके उत्तर मे वह स्वयं ही उत्तर देता है :—

"किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है,
उत्तेजित कर मत दौडाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है।"

कवि प्रसाद की मानव-सहानुभूति से ओत-प्रोत इन पक्तियो से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मे मनुष्य का जीवन विषादमय है, क्योकि वह परतन्त्र है। लेकिन उसकी परतन्त्रता ही आज उसका सुखद गुण बन गई है, उसे नष्ट करने की जरूरत नहीं।

इस प्रकार छायावादी कविता और जीवन का व्यवधान बढ़ता ही जाता है और छायावादी कवि एकान्त-प्रिय हो उठता है। चूँकि समाज मे रहकर उसके भाव स्वच्छन्द नही हो पाते इसलिए वह शून्य, निर्जन, नीरव जगत् में जाकर शरण लेता है। उसके लिए स्वतन्त्रता का एक मात्र आश्रय एकान्त या सूनापन बन जाता है। महादेवी जी कहती है—

"यहाँ मत आओ मत्त समीर
सो रहा है मेरा एकान्त !"

वे नही चाहती कि 'यौवन पर भूल' कर 'लालसा की मदिरा में चूर' उपवन के 'विलासी फूल' उस एकान्त में स्फुटित हो ! वे अपने एकान्त को 'लीलाभूमि' नहीं बनाना चाहती क्योकि उनका एकान्त एक 'तपोवन' है। वे नही चाहती कि 'कलकल मोहक मादक गान' द्वारा 'निर्झर' उनके एकान्त की 'समाधि' भग करे क्योकि उनका एकान्त 'विरागी' है। उन्हें 'सजीले सपनो' की मुस्कान भी प्रिय नही है क्योकि उन्हे भय है कि कदाचित् इससे उनके 'आशा दीपक' फिर जल उठें, और उनका 'एकान्त' खो जाय।

किन्तु अपने 'एकान्त' के तमपूर्ण गह्वर में प्रवेश करके भी क्या महादेवी जी वास्तविक जगत के भावो से पीछा छुड़ा पाती है ? भावो की उत्पत्ति और उनका विकास मनुष्य के एकान्त जीवन में नहीं होता, वे सामाजिक जीवन-द्वारा ही प्रसूत

होते हैं। अतः एकान्त में भी कवि के साथ उसके सामाजिक भाव जाते हैं। स्वानुभूतानुरागी कवि भी अपने भाव-जगत् की सृष्टि सामाजिक चित्रों द्वारा ही करता है। 'तपोवन', 'समाधि', 'साधना', 'विरागी' आदि यद्यपि आधुनिक वास्तविकता के नहीं, पर प्राचीन मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के भाव-चित्र हैं। अतएव जब आधुनिक कवि आधुनिक वास्तविकता का तिरस्कार कर प्राचीन वास्तविकता और प्राचीन जीवन के सौन्दर्य मूल्यो की सुखद कल्पना करता है तो केवल इसलिए कि आधुनिक जीवन की वास्तविकता अत्यन्त असन्तोषप्रद है। कठोर और निरकुश आधुनिक जीवन को बदलने में असमर्थ छायावादी कवि अन्तर्वृत्तियो के दास की तरह जीवन की वास्तविकता से भागकर कल्पित 'एकान्त' या 'मृत प्राचीन' में जाकर शरण लेता है।

छायावादी कवि इस सत्य को स्वीकार भी करता है। बच्चन जी ने इस प्रश्न का प्रश्न के ही रूप में उत्तर देकर अपनी स्थिति स्पष्ट की है।

"क्या मै जीवन से भागा था ?
स्वर्ण शृङ्खला प्रेम पाश की
मेरी अभिलाषा न पा सकी
क्या उससे लिपटा रहता, जो कच्चे रेशम का तागा था ?"

चूंकि आधुनिक पूँजीवादी समाज को बदलकर, जिसने उनकी अभिलाषाओ को चूर-चूर कर दिया है, एक नये साम्यवादी समाज की स्थापना करने का मार्ग बच्चन को सूझा ही नही, अत. वे जीवन से भागे न तो क्या करें ? इसलिए बच्चन जी का यह सोचना अस्वाभाविक नही कि उनके 'हृदय का स्वप्न चकनाचूर' करने वाली 'क्रूर' 'दुनिया' आज उनसे 'दूर' हो गई है। उन्हे यह देखकर कष्ट होता है कि—

"वह समझ मुझको न पाती
और मेरा दिल जलाती
है चिता की राख कर मे माँगती सिन्दूर दुनिया !"

जिसने 'जीवन-समर' में खड़े होकर प्रारम्भ में अपने गीत लिखे थे, उस कवि की यह मनोव्यथा कारुणिक है। पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की तो यह व्यावहारिक नीति है कि वह प्रत्येक मनुष्य के हाथ में 'चिता की राख' देकर 'सिन्दूर' की माँग करता है अतः किसी भी भावुक आत्मा को इस वास्तविकता की चेतना से क्लेश तो होगा ही। लेकिन सामूहिक जीवन पर आधारित शोषित मानवता भी तो ऐसे कवियो को नही समझ सकती जो 'जीवन-समर' से पराङ्मुख हो 'दुनिया' का ही परित्याग कर चुका हो। शोषित मानवता जीवन से भागकर अपनी रक्षा नहीं करती, वरन् शोषण के विरुद्ध संगठन और संघर्ष करती है। अतः वह इस कवि को कैसे समझ पाये ? कवि उसकी भावनाओ और आकांक्षाओ का प्रतिनिधित्व कब करता है ? फिर इसमें आश्चर्य की

क्या बात है कि जब छायावादी कवि अपने 'जीवन' को अंकित कर, उसे 'मानवता' का 'विस्तृत हृदय' और उसका 'स्वच्छ मुकुर' समझकर 'राजमार्ग पर' 'फेंक' देता है, तो उसकी आशाओं के विपरीत मानव' उसमें अपनी 'मानवता' को 'बिम्बित' देखकर लज्जित होते है ? 'मानव' अपने सामूहिक संघर्षमय अनुभव के विपरीत जीवन से भागने वाली पराजित 'मानवता' को अपनी मानवता के रूप मे ग्रहण करने मे लज्जा-संकोच क्यों न करें ? अपनी कविता के प्रति पूँजीपति वर्ग की कला-विरोधी उदासीनता और शोषित वर्ग की सिद्धान्तगत उपेक्षा को देखकर स्वाभिमानी कवि को आत्म-वेदना होती है।

इतना ही नहीं। वह जीवन से भागकर जीवन की विषमताओं से सन्तुष्ट होने और तज्जनित करुणावस्था को गौरवान्वित करने की कोशिश करता है। यह जानकर भी कि समाज का एक वर्ग 'रंगरेलियाँ' करता रहता है, उसका जीवन 'उल्लास', 'हर्ष' और प्रेम से परिपूर्ण है, छायावादी कवि उस जीवन की आकांक्षा नहीं करता, वह उसे असार और क्षणिक समझने लगा है। अतएव बच्चन जी उस पथ से हट जाना चाहते है, जिस पर ऐसे 'युवक और युवती' 'मदमाते' 'उत्सव मनाने' आते है, जिनके 'नयन में स्वप्न, वचन मे हर्ष, हृदय में अभिलाषाएं' भरी है। वे नहीं चाहते कि उनकी इन 'मधुमय घडियो' मे वे कोई 'अमंगल शब्द निकाले' या 'अमगल अश्रु बहावें'। लेकिन सुखमय जीवन की अस्थिरता और क्षण-भंगुरता के व्यक्तिगत कटु अनुभव से इतना जरूर सोचते है कि यदि 'उनका सुख-सपना टूटे' और उन्ही की तरह यदि 'काल उन्हे भी लूटे' तो उनकी 'करुण कथाएँ' इन नये दुखियो को 'धैर्य बँधायें।'

जीवन से भागकर अपने निराले एकान्त मे बैठा-बैठा छायावादी कवि यह कल्पना करता है कि समाज ने जिन्हे अस्वीकृत कर दिया है, उसकी वे अन्तर्प्रेरणाएँ और भावनाएँ ही वास्तव में समस्त जीवन, सुख, समृद्धि का स्रोत हैं। और वह चरम 'अहवादी' हो जाता है। वह अनुमान करता है कि समाज, प्रकृति और विश्व का समस्त जीवन उसके 'अहं' द्वारा ही निःसृत हुआ है। महादेवी जी का कथन है—

"जग पतझर का नीरव रसाल
पहने हिम जल की अश्रु माल
मै पिक बन गाती डाल-डाल
सुन फूट-फूट उठते पल-पल
सुख-दुख मजरियो के अंकुर"

बच्चन जी का कथन है—

"ले तृषित जग ओठ तेरे
लोचनो का नीर मेरे !
मिल न पाया प्यार जिनको आज उनको प्यार मेरा !"

यद्यपि महादेवी जी अपने 'एकान्त' मे 'निर्झर' को 'कलकल मधुमय मादक गान' करने से रोकती है और बच्चन जी को 'प्रेम-पाश की' 'स्वर्ण शृङ्खला' प्राप्त नही हो सकी, तो भी जीवन से बाहर जाकर एकान्त मे 'संगीत और प्रेम' से उनका 'अह'-कोष इतना परिपूर्ण हो गया है कि वे 'नीरव', 'तृषित' ससार के लिए उसके अक्षय भण्डार उदारतापूर्वक खोल देते है। यह कहना अनुचित न होगा कि अपने आप को सन्तोष देने के लिए 'अहं' के सागर मे ऐसी डुबकियाँ लगाने का ख्याल बुरा नहीं है।

तो भी प्रश्न उठता है कि क्रूर सामाजिक जीवन के प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति करके भी छायावादी कवि निराशावादी और अहवादी क्यो है ?

कला-विरोधी पूंजीवाद ने कला को अन्य उत्पादित वस्तुओं की तरह बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया है। अत कला की सृष्टि समाज के लिए नहीं, बल्कि बाजार के लिए की जाती है। इस अराजक बाजार में प्रत्येक कलाकार अपने व्यक्तिगत लाभ के ही लिए कला की वस्तुओ का उत्पादन करता है। विवश होकर कवि इस बाजार को ही अपना पाठक, अपना श्रोता, दर्शक या जनता मान लेता है। लेकिन उसकी यह मध्यमवर्गी 'जनता' भावशून्य, अस्थिर-चित्त और उत्साह-हीन होती है। पूँजीवादी शोषण और बाजार की अराजकता की शिकार होकर भी इस मध्य-वर्गी जनता की आशाओ, अभिलाषाओं का केन्द्र पूँजीपति वर्ग ही होता है, उसका प्रतिष्ठित सदस्य बनने की आकांक्षा से वह आकुल रहती है। अत उसकी मनोवृत्ति अत्यन्त संकुचित, भावनाएँ छिछली और कला-पारखी रुचि अत्यन्त विकृत होती है। छिछली, निकृष्ट कला ही इस जनता को अधिक सन्तोष प्रदान करती है, क्योकि अपनी पराधीनता को स्वीकार कर वह अपने जीवन को उसी के अनुकूल ढालने की कोशिश करती है।

यह भ्रामक जनता, जिसे छायावादी कवि 'मानवता' मान बैठे है, वास्तव मे कामायनी, पल्लव, गुंजन, नीहार, सान्ध्यगीत, परिमल, गीतिका या अनामिका की उत्कृष्ट कला का रस नही परख पाती, क्योकि साम्राज्यवाद ने भावो का इतना गहरा शोषण कर रखा है कि मध्यमवर्गी जनता की सौन्दर्य भावनाएँ इतनी परिष्कृत नहीं हो पातीं कि कला के परिमार्जित रूप की माधुरी का रसास्वादन कर सकें। इसलिए यदि छायावादी कवि को इस बात का खेद है कि दुनिया उसे समझ नहीं पाती तो यह स्वाभाविक

ही है। और इसके फलस्वरूप उसमें समाज-विरोधी दृष्टिकोण का जन्म लेना भी स्वाभाविक है।

आधुनिक कवि के इस खेद ने और तदनन्तर उसके समाज-विरोधी रूप ने ही 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त को जन्म दिया है। यदि यह (भ्रामक) जनता उच्चकोटि की कला का रसास्वादन करने मे असमर्थ हैं तो रुचि देखकर कला को निकृष्ट नहीं बनाया जा सकता। यदि समाज उसे नही अपना पाता तो यह समाज की कमजोरी है, उसकी सास्कृतिक हीनता की द्योतक है, लेकिन कला की चीज़ तो अपने में उत्कृष्ट एवं प्रशसनीय हो सकती है। हरेक व्यक्ति कवि के समान भावुक, और सौन्दर्य-पारखी तो नहीं होता, इने-गिने ही कला की क़द्र जानते हैं, अत. कला उन्हीं के लिए है। एक प्रतिभावान कवि के मस्तिष्क में इस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है और वह कला को कला के लिए ही मानकर उसकी आराधना करने लगता है।

छायावादी कवि नहीं चाहता कि कोई 'अनधिकारी कल्पनाशून्य व्यक्ति' उसके कविता-कानन में प्रवेश कर उसके सौन्दर्य की बेकद्री करे। किन्तु उसकी संकीर्ण रुचि वाली जनता आज भी वही है। इससे दुखित हो वह अपने चारो ओर 'अहं' की दीवारें खडी कर कला के लिए कला के बन्द स्तूप में अपने-आपको बन्द कर लेता है। समाज से 'दूर, सुदूर, निभृत, निर्जन' मे ले जाकर वह अपनी 'कविता-कामिनी' से अभिसार करता है, उसके रूप को सँवारता है, उसे रिझाता है, अश्रु-हार पहनाता है अपने हृदय के सङ्गीत से मुग्ध करता है, और इस प्रकार अपने हृदय की अतृप्त तृष्णा को शान्त करने की चेष्टा करता है। वह नही चाहता कि निर्दय समाज उसकी इस 'एकान्त साधना' में दखल दे या उसकी तन्मय एकाग्र अनुराग-रति को भग करे। इस एकान्त-साधना में निरत छायावादी कवि 'कविता कामिनी' के रूप को विभिन्न प्रकार की रंग-बिरंगी साडियो, ऊँची एड़ी के जूतो जैकेट, ब्लाउज़, पाउडर, क्रीम, सेण्ट, स्नो आदि से सँवारने की कोशिश करता है। आज उसके अथक प्रयत्नो से इस कामिनी ने 'नख-शिख' का शृंगार छोड़ दिया। अंगिया, लहँगा, दुपट्टा, चोली आदि का तिरस्कार कर वह अब आधुनिक वेष-भूषा में बाहर निकलने योग्य हो गई है। तात्पर्य यह कि छायावादी कवि ने समाज से हटकर भी हिन्दी की काव्य-शैली में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है।

छायावादी कवि प्रारम्भ में एक क्रान्तिकारी के रूप में अवतरित हुआ। उसने कविता को सामन्ती बन्धनों से मुक्त कर दिया; किन्तु पूंजीजीवी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूँजीवादी समाज) के सश्लिष्ट बन्धनों की कल्पना न कर पाया। उनमें स्वय को भी जकड़ा पाकर वह समस्त बन्धनों और समाज-सम्बन्धों के प्रति विद्रोही बन गया। जिस अनियमित स्वतन्त्रता की उसने

कल्पना की थी वह उसे प्राप्त न हो सकी। इस भ्रम का पर्दा हटते ही जीवन उसे और भी विकराल और कठोर लगा। वह इस आघात को सहन न कर पाया, क्योंकि पूँजीवाद ने उसे न केवल अपनी व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का उत्तराधिकारी बनाया, वरन् अपनी ही तरह सामूहिक जीवन और सामाजिक श्रम से अलग करके भाग्य की अन्ध-शक्तियो का दास भी बना दिया। उसके जीवन का विषमता-जनित विद्रोह और असन्तोष पूंजीपति वर्ग की लघु-परिधि के अन्तर्गत ही सीमित रहा। फलतः समाज का तिरस्कार करके वह चरम अहवादिता की ओर झुका। लेकिन इस प्रयत्न में उसने जो भाव व्यक्त किये है, वे न केवल आधुनिक जीवन की असगतिपूर्ण वास्तविकता की व्यञ्जना करते है, वरन् उसकी विषमता के प्रति अपना तीव्र असन्तोष भी प्रकट करते है। उदाहरण के लिए छायावादी कवि के अन्दर सौन्दर्य-भावना उत्पन्न करने वाली वास्तविकता के उस अश को ले लीजिए जिसके प्रति उसकी आसक्ति है। विषाद, अश्रुकण, वेदना, निश्वास, निर्जन, टूटी वीणा के अस्तव्यस्त तार, रजनी, पीडा, क्रन्दन, अतृप्त अभिलाषाएँ, उपवन, नीरव ससार, मूक व्यथा, विश्राम, स्वप्न, एकान्त, साधना, शून्य आदि के प्रति छायावादी कवि के हृदय मे कोमल स्थान हैं, क्योकि ये सब वस्तुएँ या मनोदशाएँ उसके हृदय मे सौन्दर्य की सृष्टि करती है। अतः क्रियाशील जीवन के अभाव की द्योतक वस्तुएँ यदि उसके सौन्दर्य-मूल्यो की आधार बन गई है, तो इसका केवल एक ही अर्थ है कि छायावादी कवि को जीवन के अभाव की चेतना प्राप्त हो गई है, यद्यपि उसकी अन्तर्प्रेरणाएँ जीवन की दूसरी व्यापक वास्तविकता के प्रति अचेतन है, इसलिए इस अभाव को ही वह मानव या मानव-जीवन की श्रेष्ठतर वास्तविकता समझने लगा है। लेकिन अभाव की चेतना पाकर कोई भी उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता, चाहे अपनी दुर्बलताओ के कारण उसके प्रति कृत्रिम सन्तुष्टि का भाव वह कितना ही प्रदर्शित क्यो न करे। इसी कारण छायावादी कविता मे असन्तोष-भावना की प्रधानता है। तो भी यह सम्भव है, जैसा हम चलकर देखेंगे, कि जीवन के अभाव के प्रति उसकी आसक्ति इतनी नैराश्यपूर्ण हो जाय कि वह एक क्रान्ति-विरोधी रूप धारण कर ले। क्योकि यद्यपि अधिकाश मनुष्यो का जीवन आज जर्जरित है, पर जीवन-धारा में प्रगति की धारा भी तो प्रवाहित हो रही है, जो अधिकांश मनुष्यो को एकदम निराशावादी होने से रोकती है, और उनमे जीवन के अभावो के प्रति आसक्ति नही उत्पन्न होने देती। अतः छायावादी कवि के सौन्दर्य-मूल्य व्यापक होकर भी सीमित है, और सघर्ष-रत मानवता के सौन्दर्य-मूल्यों का प्रतिनिधित्व नही करते। वे केवल आधुनिक जीवन की आवश्यकताओ से पर

पूंजीपति वर्ग की ही तरह उसकी अभिलषित स्वतन्त्रता का आधार आवश्यकता की चेतना नही वरन् उसकी अज्ञानता है। उसका विचार है कि उसकी वृत्तियाँ ही केवल स्वतन्त्र है, लेकिन समाज उन्हे भी बद्ध कर रहा है, इसलिए केवल अन्तर्वृत्तियो की स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही उसका कर्त्तव्य है। और चूँकि वह अपने लक्ष्य या उद्देश्य के प्रति सचेत नही है, इसलिए उसके अनुकूल आवश्यकताओ के प्रति भी सचेत नही है। यदि वह उनके प्रति सचेत होता तो जो निरकुश अन्ध-शक्तियाँ या क्रूर सम्बन्ध उसकी चेतना का मार्ग रोधकर शिला बने पड़े है, वह उन्हे हटाने, उन्हें बदलने के लिए संघर्ष करता। फलत· भाव-जगत् मे उसने जिस विद्रोह या असन्तोष की ध्वजा फहरायी, उसके नीचे वह लगातार उन्ही असंगतियो को और भी प्रबल रूप मे समक्ष लाता रहा जिनके विरुद्ध वह असन्तोष की पताका फहरा रहा था।

परन्तु यह परिस्थिति अधिक दिनो तक न चल सकती थी। कवियो की एक पीढी-की-पीढी संघर्षपूर्ण वास्तविकता के प्रति उदासीन नही रह सकती। आज जब भारत क्रान्ति के पथ पर है और साम्राज्यशाही के आतङ्क, शोषण, हिंसा और अत्याचार से उसकी मानवता का हृदय पदाक्रान्त और विदीर्ण हो रहा है, कवि को भी निर्णय करना पडा कि वह किस के पक्ष का समर्थन करेगा—प्रतिक्रिया का या प्रगति का। अतः आज के क्रान्तिकारी युग में साहित्य मे भी दो धाराएँ फूट निकली है। एक क्रान्ति की आकाक्षाओ की अभिव्यंजना करती है, दूसरी शोषित एव अधिकार-वचित वर्ग के सन्देह-सशयो की अभिव्यक्ति करती है।

अतएव छायावाद के कुछ कवि, जिन्होने जीवन से भागकर अपने को 'अहंवाद' की चहारदीवारी मे बन्द कर रखा था, आकाश को क्रान्ति के बादलो से घिरे हुए देखकर सशंकित हो उठे है। सर्वप्रथम उन्होने असगठित जनता में जीवन की असारता सम्बन्धी जो विकृत रूप में भ्रम और सन्देह फैले हुए थे, उन्हे संकलित और व्यवस्थित करके, 'फिलॉसफी' का रूप देने की चेष्टा की, 'जीवन' और संसार की व्याख्या की। महादेवी जी का कथन है—

विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द्र
यहाँ किसका अनन्त यौवन
अरे अस्थिर छोटे जीवन !

रामकुमार वर्मा के विचार से—

यह जीवन समय-भवन मे
टूटा-सा टेढा जाला

जो रेशम-सा दिखता है
पर जीर्ण अन्त मे काला

इन कवियों के लिए संसार की अस्थिरता या परिवर्तनशीलता 'असारता' अथवा 'क्षणभंगुरता' की द्योतक है। सताप और दुख की जनक है। महादेवी जी का कथन है कि 'निशा का शयनागार' जब 'विश्वासो का नीड' बनता है—

तब बुझते तारो के नीरव नयनो का हाहाकार
आँसू से लिख जाता है कितना अस्थिर ससार!

यह 'अस्थिर संसार' कभी 'मादक' तो कभी 'निष्ठुर' प्रतीत होने लगता है।

'जीवन' या 'संसार' की ऐसी प्रतिक्रियावादी विवेचना करके ही इन छायावादी कवियो का प्रतिगामी विकास अवरुद्ध नही हो जाता। वे इस खाई की निम्नतर गहराइयों में गिरते जाते है। और वे जीवन की असारता के प्रति उन अबुद्धिवादी, तर्कहीन भावो की अभिव्यक्ति करने लगते है जो अवसर सडक, बाज़ार या कुटुम्ब मे दकियानूसी विचारों के शिक्षित-अशिक्षित लोगो के मुख से सुनने मे आते है। भेद केवल इतना होता है कि काव्य-कला-कुशल कवि उन्हे व्यवस्थित कर अभिव्यजना का तीव्र गुण प्रदान कर देता है। बच्चन जी के 'निशा-निमन्त्रण' मे इस प्रकार के भाव प्रचुर मात्रा में मिलते है। 'निशा-निमन्त्रण' की विशेषता यह है कि उसकी भाव-सामग्री मे गम्भीरता, दार्शनिकता या गहराई कम किन्तु शैली के प्रसाद गुण और सदियो से परिचित वास्तव के रागात्मक भाव-सकेतो के प्रयोग के कारण प्रभविष्णुता और स्पष्टवादिता अधिक है। इसलिए अनुन्नत एव चेतनहीन हृदयो पर उनकी कविता का प्रभाव भी अधिक है। उनके अनुसार 'स्वप्न' और 'जागरण' दोनो 'छल' है, 'भूत', 'भविष्य' या 'वर्तमान' अवास्तविक है, फिर—

मनुज के अधिकार कैसे
हम यहाँ लाचार ऐसे
कर नही इन्कार सकते, कर नही सकते वरण भी!

या, चूँकि 'मानव', 'जगती' और 'ससृति' सभी एक के बाद दूसरे के बन्धन में बँधी है, और 'जगती सर' में मनुष्य का अस्तित्व ही क्या, इसलिए—

आओ अपनी लघुता जानें
अपनी निर्बलता पहचाने
जैसे जग रहता आया है, उसी तरह से रहना होगा!

'भारतीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शोषित मानवता को अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की क्या आवश्यकता? आदिकाल से मनुष्य गुलामी में रहा है, और अन्तकाल तक गुलामी में ही रहता जायगा; इसलिए व्यर्थ के लिए सगठन, आन्दोलन,

हडताल, प्रदर्शन, क्रान्ति या नये समाज की आवश्यकता क्या है ? अगर किसी पूंजीपति या प्रतिक्रियावादी के इस कथन का हम इस कविता को काव्यपूर्ण रूपान्तर समझे तो इसमे अनुचित क्या है ? आम जनता की अनुन्नत भावनाओ पर इस प्रकार की कविताओ का कैसा प्रभाव पडता है ? क्या उनकी सन्दिग्ध भावनाएँ और भी सन्दिग्ध, और उनकी चेतना की धार और कुण्ठित नही हो जाती ? इस प्रश्न को यह कहकर नही टाला जा सकता कि कवि-विशेष की व्यक्तिगत परिस्थितियो की विषमता की उसके मन मे ऐसी प्रतिक्रिया हो सकती है। 'अभिलाषाएँ' अप्राप्य रहने से कवि-विशेष का जीवन से भागना बुद्धिगम्य है, और उसके लिए हम सहानुभूति का अनुभव भी कर सकते है। लेकिन उपरोक्त पक्तियो मे व्यक्तिगत जीवन की परिधि को छोडकर कवि आधुनिक वास्तविकता के विषय मे अपने 'विचार' प्रकट करने लगा है और चाहता है कि अन्य लोग भी उससे सहमत होकर उसके दृष्टिकोण को अपना ले। और चूंकि हम जानते है कि ये विचार प्रतिक्रियावादी है इसलिए हम उनकी सत्य-प्रकृति का विश्लेषण किये बिना नही रह सकते। कवि होने से किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त नही हो जाता कि वह राजनैतिक अथवा अन्य विषयो पर प्रतिक्रियावादी विचार प्रकट करता जाय और लोग उन्हे सुनते जायँ। और विशेषकर आजकल, जब कि अधिकार-वचित वर्ग के सन्देह को ये कवि 'सत्य, शिव और सुन्दर' का रूप देकर पेश करते है। 'कला कला के लिए' की दुहाई देकर भी ये कवि समाज की वास्तविकता का ही असत्यपूर्ण एकागी चित्रण करते है। जीवन की जिस 'स्थविरता' के विरुद्ध उन्होने विद्रोह किया था, वे उसी का समर्थन करके आज जीवन की परिवर्तन-शीलता का तिरस्कार कर उसका उपहास करते है। उदाहरण के लिए—

जग बदलेगा किन्तु न जीवन
प्रणय-स्वप्न की चचलता पर
जो रोयेगे सिर धुन-धुन कर
नेताओ के तर्क वचन क्या उनको दे देगे आश्वासन ?

भावी समाज की कठिनाइयो को विकृत रूप मे हमारे सामने पेश करके बच्चन ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि जो कठिनाइयाँ आज है, वे भविष्य में भी दूर नही की जा सकती, क्योकि 'नियति के न्याय की' तरह वे 'मानव भाग्य-पटल' पर अकित है, इसलिए नवीन समाज के निर्माण की जरूरत क्या ? जीवन कभी बदलता नहीं, फिर उसे बदलने की व्यर्थ चेष्टा क्यो ? इस अवैज्ञानिक तर्क मे गम्भीरता की झलक अवश्य है। लेकिन आधुनिक विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र इस तर्क का खण्डन करते है। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु विकासोन्मुख है, परिवर्तनशील है, और जीवन इसकी परिधि से बाहर नही रहता। कदाचित् 'युग-युग की वाणी' लिखने के

भ्रम से भ्रमित बच्चन जी का इशारा इस ओर है कि जीवन के भाव और सौन्दर्य-मूल्य सनातन है और सदैव इसी रूप मे रहेगे। लेकिन समाजशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र इस धारणा को भी स्वीकार नही करते। उनके अनुसार मनुष्य के भाव मूल्यो की सृष्टि सामाजिक जीवन में ही होती है और समाज-विशेष के व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है। प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान आदि-भावो की अभिव्यक्ति समाज-व्यवस्था के अनुरूप ही होती आई है। तुलसी, बिहारी और पन्त के भाव-मूल्यो मे क्या कोई अन्तर नही है ? इसी सिद्धान्त के आधार पर पूँजीवादी कला के आलोचको ने क्या सामन्ती कला के भाव-मूल्यो और उसकी सौन्दर्य-भावनाओ की हेयता सिद्ध नही की? फिर आज 'आलोचको के आलोचक' देखकर 'शाश्वत' और 'सनातन' के पर्दे की आड मे क्यो शरण ली जा रही है ? किन्तु बच्चन जी का इशारा भाव-मूल्यो के गहरे प्रश्न की ओर नहीं लगता, क्योकि न वे एक 'निष्पक्ष' कलाकार है और न युग-युग की वाणी ही लिखते है। उनकी वाणी इसी युग के असगठित मनुष्य के समाज-विरोधी सन्देहो और अन्ध-विश्वासो की प्रतिध्वनि है। इसीलिए उन्होने एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाया है। उन्हे सन्देह है कि शायद समाज बदल जाने पर भी मनुष्य की मनोदशा इतनी ही विकृत या विक्षिप्त बनी रहेगी जितनी वह आज है। लेकिन वैज्ञानिक समाज-ज्ञान उनके इस सन्देह को निर्मूल कर देगा। आज जो अधिकाश व्यक्तियो की मनोदशा इतनी विकृत है, वह समाज से अलग कर व्यक्ति विशेष के मनोऽवरोध के कारण ही नही है, बल्कि समाज-सम्बन्धो की आधुनिक वास्तविकता ही व्यक्ति के इस मनोऽवरोध का मुख्य कारण है। अतः जब समाजवाद मे समाज-सम्बन्ध इस रूप मे बदल जायँगे कि प्रत्यक व्यक्ति को अपने शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एव भावात्मक विकास का पूरा अवसर और सुविधा मिलेगी, तो मनोदशा की विकृति का स्रोत भी बन्द हो जायगा। इसका यह अर्थ नही कि समाजवाद मे मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठेगे ही नही, बल्कि यह है कि उनका स्वरूप बदल जायगा और वे एक उच्चतर धरातल पर उठेगे।

सक्षेप में पूँजीवादी समाज की वास्तविकता ने इन छायावादी कवियो के एक वर्ग को इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने 'असन्तोष' का अस्त्र भी फेक चुके है। उन्होने समाज और जीवन से भाग निकलने की लाख कोशिश की लेकिन आधुनिक समाज की असगतिपूर्ण वास्तविकता ने उन्हे बरबस अपनी ओर खीच रखा है, और वे पूँजीपति वर्ग तथा आधुनिक काल के समाज-सम्बन्धो के सामूहिक भावो की ही अभिव्यक्ति करते है। उनका 'मै', उनकी अन्तर्वृत्तियाँ, 'सामूहिक व्यक्ति का' 'मै' या समाज द्वारा ग्रहण की गई वृत्तियाँ नही रहीं। न वे अपने 'मै' को समस्त मानव-जाति का 'मै' बनाना चाहते है, और न अपनी अन्तर्वृत्तियों को सामूहिक जीवन और सामाजिक चेष्टा के अनुभव द्वारा

सचेन ही बनाना चाहते हैं। इसके विपरीत अधिकार-वंचित-वर्ग के सन्देहों को ही शाश्वत और चिरन्तन भाव मानकर वे उन्हीं की अभिव्यक्ति करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। खेद केवल इस बात का है कि जीवन और स्वतन्त्रता की आवश्यकता की चेतना के अभाव ने उनकी 'चिर-अधीरता' और 'चिर-असन्तुष्टि' का दुरुपयोग कर, उनमे अपने जीवन की निरर्थकता में सार्थकता का आभास प्रदान करने वाली निरर्थक कला के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है। और परिवर्तनशीलता के ये समर्थक कवि अब जीवन की परिवर्तनशीलता की चेतना का तिरस्कार कर रहे है। इसीलिए उनकी दशा प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है, और उनके प्रथम उत्थान की शुभ्र प्रतिमा पर कालिमा छाने लगी है।

छायावाद की यह प्रतिक्रियावादी धारा अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही है। श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री बच्चन जी और रामकुमार वर्मा अधिकार-वंचित वर्ग के सन्देहो की अभिव्यंजना करने वाली धारा के प्रमुख कवि हैं। इसके विपरीत, आधुनिक जीवन की संघर्षपूर्ण वास्तविकता की चेतना ने छायावादी कविता में एक और धारा प्रवाहित कर दी है, जिसे हम क्रान्ति की आकांक्षाओ की अभिव्यक्ति करने वाली धारा कह सकते हैं। इस लेख में मेरा उद्देश्य इस दूसरी धारा के कवियों या उनकी कविता की विवेचना करना नही है, क्योंकि यद्यपि यह नवीन धारा छायावाद से निकली है और उनकी शैली भी अभी तक छायावाद की शैली है, तो भी उसकी भाव-सामग्री, उसकी विषयवस्तु, उसके सौन्दर्य मूल्य छायावादी कविता से भिन्न हैं। इसलिए हम इस नवीन धारा को छायावाद के अन्तर्गत नही रख सकते।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने युगवाणी मे कवियों से एक प्रश्न किया है—

कवि नवयुग की चुन भावराशि
नव छन्द आभरण रस विधान
तुम बन न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावो के गीत यान ?

अधिकार-वंचित-वर्ग के सन्देहो की अभिव्यक्ति करने वाले छायावादी कवि इस प्रश्न का अनुकूल उत्तर देकर ही छायावाद की 'असन्तोष' प्रधान परिपाटी को जीवित एवं विकसित कर सकते है।

—मार्च १९३९

१०

द्विवेदी-काल से हिन्दी पत्र-कला का विकास

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०३ मे 'सरस्वती' का सम्पादन करना शुरू किया। उस वक्त भी हिन्दी मे पत्र-पत्रिकाओ की काफी तादाद थी और उनसे भी कहीं ज्यादा पत्रकारो की। लेकिन पत्र-कला नाम की कोई चीज न थी।

पत्र-पत्रिकाओ मे हिन्दी प्रदीप, आनन्द कादम्बिनी, भारत-जीवन, भारत मित्र, उचित वक्ता, सारसुधानिधि, हिन्दी बंगवासी, आर्य-मित्र, हिन्दुस्तान, हितवार्ता, और नागरी प्रचारिणी पत्रिका खास थी। ज्यादातर पत्र कलकत्ते मे निकलते थे और हिन्दी पाठको पर उन्ही का सबसे ज्यादा असर था।

इन पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक होते थे। यह बड़े-बडे लेखक, जो अक्सर संस्कृत-फारसी के भी पण्डित थे, उस वक्त हिन्दी के गद्य का स्वरूप बनाने और हिन्दी का प्रचार करने मे लगे हुए थे। इनमे बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पण्डित बदरीनारायण चौधरी, प० बालकृष्ण भट्ट, प० गोविन्द नारायण मिश्र, प० माधव प्रसाद मिश्र, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प० पद्मसिंह शर्मा, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र, प० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, लाला भगवान दीन और बाबू गुलाबराय जैसे ऊँची चोटी के लेखक थे।

यह पत्र दो किस्म के थे। एक साप्ताहिक, दूसरे मासिक-त्रैमासिक। साप्ताहिक-पत्रो मे सम्पादकीय टिप्पणी, देश-विदेश की खबरे, बाजार के भाव, और कभी-कभी एक-दो छोटे-छोटे लेख रहते थे। यह पत्र दो या ज्यादा-से-ज्यादा चार सफे के, और कोई-कोई तो एक आफिस-टेबिल की साइज के इसलिए होते थे कि छोटी साइज के पत्रो को देखकर पाठक कहता—"यह कैसा पतला-पतला-सा अखबार है!" इन समाचार पत्रो का सम्पादन ठीक से न होता था। अग्रेजी के अखबारो से अनुवाद करके खबरे दी जाती थी। तार, सवाददाता, सहकारी सम्पादक, बाकायदा दफ्तर, प्रूफरीडर वग़ैरा की जरूरत न पडती थी। खबरो की भाषा बडी चटकती-मटकती और लच्छेदार होती थी, जिसकी नाजो अदा से खबर का तो कचूमर निकल जाता था। महत्त्व के अनुसार मोटी-पतली हेडलाइने देकर खबर छापने का उन दिनो चलन न था। खबरो का चुनाव, उनका डिस्प्ले, उनकी भाषा आज की पत्र कला से बहुत पीछे थी; आर्यसमाज और सनातन धर्म के झगड़े और बाल-विवाह, विधवा-विवाह के सवालो को लेकर देश में चले समाज-सुधार आन्दोलन की चर्चा तो उनमे खूब रहती थी,

लेकिन राजनैतिक विषयो की चर्चा या सरकार के कार्यो की नुक्ताचीनी कम होती थी।

इसके अलावा जो मासिक-त्रमासिक पत्र थे उनमे सम्पादन-कला की कमी खटकती थी। उन पत्रो का रूप-रग तो मामूली दर्जे का होता ही था, लेखो का चुनाव, उनमे सशोधन, उनका सम्पादन आदि भी न होता था; विषय भी इने-गिने होते थे।

इस तरह सम्पादन-कला और पत्र-कला उस समय या तो थी नहीं या अपने प्रारम्भकाल मे थी। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि पाठक बहुत कम थे और ग्राहक बढाने का मसला हमेशा सामने पेश रहता था। अक्सर पत्रो के सौ-दो सौ से ज्यादा ग्राहक न होते थे। फिर पत्र-कला पर ध्यान देनें या उसका विकास करने के साधन जुटाने का मौका ही कहाँ था ? इसीलिए ज्यादातर पत्र लीथो पर छपते थे।

दूसरा सवाल था भाषा का। उस समय तक हिन्दी के गद्य की कोई साफ-सुथरी शक्ल न बन पाई थी। प्रान्तीय प्रयोगो, व्याकरण की गलतियो और अलकारो की भरमार से भाषा चुलबुली और व्यगपूर्ण होते हुए भी बेढङ्गी थी, यहाँ तक कि लिखा-वट का भी कोई स्टैण्डर्ड रूप न था।

आचार्य द्विवेदी ने सबसे पहले लेखों का सम्पादन, सशोधन करना शुरू किया, बाकायदा विषयो का चुनाव कर 'सरस्वती' को सजधज के साथ निकाला और जिस एक कारण से हिन्दी पत्र-कला ही नही बल्कि समूचे गद्य-साहित्य का विकास रुका हुआ था उसे उन्होंने मिटा दिया। यानी हिन्दी के गद्य की भाषा का स्वरूप निश्चित कर दिया।

व्याकरण की गलतियाँ दूर करने के लिए उन्होने सरस्वती मे एक लेख 'भाषा की अनस्थिरता' नाम से लिखा। कुछ दिनो के लिए हिन्दी पत्र-कला मे बडी सरगरमी रही और इस मसले पर लोगो ने विद्वत्तापूर्ण विचार प्रगट किये। बाबू बालमुकन्द गप्त ने जब आत्माराम के नाम से 'भारत-मित्र' मे द्विवेदी जी के खिलाफ लिखा तो पडित गोविन्दनारायण झा ने 'आत्माराम की टे टें' नाम के लेख में उनको जोरदार जवाब दिया। इन्ही दिनो पडित सखाराम देउस्कर ने विभक्तियो का सवाल उठाया। प० गोविन्दनारायण मिश्र ने कलकत्ते की 'हितवार्ता' मे एक पाडित्यपूर्ण लेखमाला निकाली उसमे उन्होने कहा कि विभक्तियों को शब्दो के साथ मिलाकर लिखना चाहिए। लाला भगवानदीन और आचार्य द्विवेदी ने इसका विरोध किया। इससे लेखक दो दलो मे बँट गये। इस बहस और चर्चा से यह लाभ हुआ कि अब लखक अपनी भाषा के बारे में सतर्क रहने लगे और हिन्दी गद्य का स्वरूप स्थिर हो चला।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी के गद्य की साहित्यिक भाषा बनाई और उनके समय के दूसरे लेखकों ने हिन्दी के समाचारपत्रो की। इससे नये नये विषय सामने आये

और उनकी अपनी-अपनी शैलियाँ और शब्द-योजनाये बन चलीं। इन लेखको और पत्रकारो की कोशिश से हिन्दी के गद्य-साहित्य और पत्र-कला के विकास के लिए अनुकूल जमीन तैयार हो गई।

सरस्वती की देखा-देखी इन्दु, लक्ष्मी, प्रभा, शारदा, मनोरमा, मर्यादा बहुत-सी पत्रिकाएँ निकलने लगी। खास-खास विषयो को लेकर भी पत्र-पत्रिकाएँ निकली।

हम पहले कह चुके है कि क्यो द्विवेदी जी के जमाने मे राजनैतिक विषयो को लेकर बहुत कम चर्चाएँ रहती थी। लेकिन समाचारपत्रो और पत्र-कला का किसी देश के राजनैतिक जीवन से गहरा सम्बन्ध रहता है। इसलिए जैसे ही भाषा का मसला हल हुआ, और दूसरी ओर बगभग आन्दोलन से देश मे राजनैतिक चेतना की लहर फैली, हिन्दी पत्र-कला की यह कमी भी दूर हो चली। बाबू बालमुकन्द गुप्त ने लार्ड कर्जन के खिलाफ अपना 'शिवशम्भू का चिट्ठा' लिखा जो कलकत्ते के 'भारत-मित्र मे धारावाहिक रूप से छपा। श्री बाबूराव विष्णु पराडकर, पडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पडित अम्बिका प्रशाद वाजपेयी ने गभीर राजनैतिक लेख लिखने शुरू किये। हितवार्ता, भारतमित्र और हिन्दुस्तान मे राजनैतिक चर्चाएँ होने लगी। इसी बीच प० सुन्दर लाल का कर्मवीर, प्रताप और अभ्युदय निकले। इन पत्रो ने हिन्दी-भाषी जनता की राजनैतिक चेतना पर गहरा असर डाला। यह पत्र राष्ट्रीय थे और इनकी पूरी सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रही। अभ्युदय को पंडित मदन-मोहन मालवीय और प० कृष्णकान्त मालवीय का सहयोग प्राप्त था। पिछला महायुद्ध जब छिड़ा तो हिन्दी पत्र-कला का विकास रुक-सा गया। क्योकि लड़ाई के जमाने मे उन पर और भी पाबन्दियाँ लग गयीं। सन् १९२० तक यही हाल कायम रहा।

युद्ध के बाद देश की राजनैतिक फिजाँ बदल गई। राजनैतिक बचैनी बढ़ी और असहयोग और खिलाफत-आन्दोलन का जमाना आया। इस हलचल के युग ने श्री बाबूराव विष्णु पराडकर और श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी जैसे दो जबरदस्त पत्रकार-व्यक्तित्व पैदा किये। सन् १९२० मे बनारस से दैनिक 'आज' निकला। पराड़कर जी उसके सम्पादक हुए। उन्ही दिनो कानपुर का साप्ताहिक 'प्रताप' दैनिक बना और स्वर्गीय श्री गणेशशङ्कर जी ने उसका सम्पादन-कार्य सँभाला। अग्रेजी पत्र-कला का गहरा अध्ययन होने के कारण ये दोनो व्यक्ति सही अर्थों में पत्रकार थे। इन्होने हिन्दी की पत्र-कला की कायापलट कर दी। आजकल की पत्र-कला के अन्दर महत्त्व की खबरें पाने और उन्हे आकर्षक ढँग से विस्तारित करने के अतिरिक्त उन खबरों के अच्छे-बुरे असर के बारे मे जनहित की दृष्टि से सम्मति प्रकट करना एक बहुत जरूरी कर्त्तव्य होता है। और देशो मे समाचारपत्रो की ताकत सभी स्वीकार करते है, क्योंकि वे जनता की राय का इजहार करते है और तात्कालिक प्रश्नो पर जनता को अपनी

राय कायम करने में मदद देते है। 'आज' और 'प्रताप' ने हिन्दी पत्रों में एक नयी शक्ति पैदा कर दी जिससे वे देश की राजनैतिक गतिविधि पर असर डालने योग्य हो गये। पराड़कर जी और गणेशशङ्कर जी की टिप्पणियाँ सुलझी, गम्भीर और देश की राष्ट्रीय हलचलो, सघर्षो और आकाक्षाओ को प्रकट करने वाली होती थी, इसलिए 'आज' और 'प्रताप' का प्रभाव इतनी तेज़ी से बढ़ा कि कलकत्ते के समाचार-पत्र हिन्दी-भाषी प्रान्तों में धाक खो बैठे।

अब हिन्दी पत्र भी तार से खबरें मँगाने लगे। संवाददाता तैनात किये गये। खबरो का बाकायदा सम्पादन कर के उचित हेडलाइने देने लगे और अंग्रेज़ी अख़बारों की तरह उनमे भी ताज़ी खबरे रहने लगी। सन् १९२० के बाद हिन्दी मे जितने भी दैनिक पत्र निकले है वे न सम्पादन या पत्र-कला की दृष्टि से और न जनता पर असर डालने की नजर से ही 'आज' और 'प्रताप' से आगे बढ पाये है। सन् १९२० और १९३० के बीच मे कई दैनिक निकले, जिनमे 'अर्जुन', 'विश्वामित्र', 'लोकमत', 'वर्तमान', 'हिन्दी-मिलाप' और 'लोकमान्य' मुख्य थे।

इस बीच में अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकायें भी निकली, जिन्होंने साहित्य की प्रशसनीय सेवा की। साप्ताहिको में 'सैनिक', 'मतवाला', 'भविष्य', 'विश्वामित्र', 'जागरण', 'स्वदेश', 'पाटलिपुत्र' आदि अपने-अपने विषय के प्रसिद्ध पत्र थे। मासिक-पत्रो मे 'माधुरी', 'सुधा', विशाल भारत', 'विश्वामित्र', 'चाँद' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाएँ निकलीं, जिन्होंने महायुद्ध के बाद की सभी साहित्यिक धाराओ को ग्रहण किया और हिन्दी के कहानी, उपन्यास, कविता, आलोचना साहित्य का विकास करने में सराहनीय कार्य किया।

सन् १९३० से अबतक हिन्दी के दैनिक समाचार-पत्रो में पत्र-कला की दृष्टि से कोई महत्त्व का विकास नही हुआ, सिवा इसके कि इस ज़माने में दर्जनो नये दैनिक प्रकाशित हुए और जनता पर सिर्फ उन्हीं पत्रो का प्रभाव बढ़ा जिनकी नीति राष्ट्रीय और काँग्रेस के पक्ष में थी। लेकिन साप्ताहिक और मासिक पत्रो ने ज़रूर नये क़दम उठाये। इस ज़माने में देश की राजनैतिक चेतना उग्र हो गई और उसके साथ-साथ किसान-मजदूरो का समाजवाद के सिद्धान्तो के अनुसार सङ्गठन होने लगा, जिससे एक नये किस्म के राजनैतिक साप्ताहिक का जन्म हुआ। वर्ग-सघर्ष की बुनियाद पर जनता और समाजवादी दलो का सङ्गठन इन पत्रो ने किया। इनका काम सिर्फ रायजनी करना ही नही, बल्कि रोजमर्रा की तहरीक मे जनता की रहनुमाई करना भी था। 'जनता', 'संघर्ष' और 'नया हिन्दुस्तान' ऐसे पत्रो मे मुख्य थे। व्यवसाय की दुनिया से पत्र-कला को अलग कर और एक नये ढाँचे में ढाल करके उन्होने यह साबित कर दिया कि समाचार पत्र उथल-पुथल के ज़माने में एक नेता का भी काम कर सकते

है जिनके प्रति पाठकों का वही प्रेम, वही वफादारी और इशारे पर कुरबान होने की वही मुस्तैदी हो सकती है जो एक नेता के प्रति कार्यकर्त्ता की होती है।

मासिक पत्रो में भी इस जमाने में काफी चहल-पहल रही। देश के विद्वानो के सामने राष्ट्रभाषा का सवाल उठा। राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, उर्दू हो, या दोनो के मेल से हिन्दुस्तानी हो, इस पर मासिक पत्रो मे जोरदार बहसें चलती रही। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी, जो सन् १९३० से ही 'हंस' निकाल रहे थे, हिन्दुस्तानी के हामी थे। सन् १९३५ के अन्त मे गाधी जी की सलाह से उन्होने और श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दुस्तानी का अन्य भाषी प्रान्तो में प्रचार करने के लिए और हिन्दुस्तान की सभी बड़ी-बड़ी भाषाओ को नजदीक लाने के लिए हिन्दी, उर्दू और दूसरी भाषाओ के प्रतिनिधियो के सहयोग से 'भारतीय साहित्य परिषद्' की नीव डाली और 'हंस' उसका मुखपत्र बना। प्रेमचन्द जी की मृत्यु के समय तक 'हंस' इसी रूप में निकला। उसमें देश की खास-खास भाषाओ के लेखको की चीजे देवनागरी लिपि में हिन्दुस्तानी अनुवाद के साथ छपती रही। भारतीय भाषाओ की एकता साबित करने और उन्हे एक दूसरे के नजदीक लाने की यह अनूठी कोशिश थी, और उसने हिन्दी पत्रकला के सामने नये उद्देश्य और कर्त्तव्य रख दिये। हिन्दी के मासिक पत्र-जगत् में प्रेमचन्द एक बहुत बड़ी हस्ती थे।

इस जमाने मे मासिक पत्रो में कई बड़ी महत्त्वपूर्ण बहसे चली। पश्चिमी साहित्य की जानकारी रखने वाले लेखक अपने साथ नये विचार लाये थे। इसलिए अब की बहसो में साहित्य के उद्देश्य, उसकी शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विचार-विनिमय हुआ जिससे हिन्दी लेखको को नई प्रेरणायें मिली। बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन-काल मे 'विशाल भारत', श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'रूपाभ' और 'हंस' ने यह बहसे छेडी। जमाने की रफ़्तार के साथ साहित्य की प्रगति बनाये रखने मे इन पत्रो ने प्रशसनीय कार्य किया है। मासिक पत्रो की पत्र-कला की उन्नति की एक यह भी कसौटी होती है। आजकल 'विशाल भारत' साहित्यिक चर्चाएँ करना छोड़ गाय-बैलो की नस्लो की चर्चा करने मे मग्न है। 'रूपाभ' बन्द हो चुका है। सिर्फ़ 'हंस' एक ऐसा पत्र है जो नये उत्साह से साहित्य की सबसे नई धारा 'प्रगतिवाद' की रूपरेखा गढ़ने मे लगा है। 'साहित्य-संदेश', 'माधुरी', 'सुधा', 'सरस्वती', 'वीणा', 'आरती', 'विश्ववाणी' आदि दूसरी पत्रिकाएँ भी उपयोगी काम कर रही है लेकिन उनमे से कुछ तो सन् १९१४ और १९३० के बीच की विचारधाराओ में ही बह रही है और कुछ नयी प्रगतियो के साथ चलने की कोशिश कर रही है। पत्र-कला में कुछ नये प्रयोग भी किये गये हैं। मुरादाबाद का 'प्रदीप' ऐसा ही मासिक पत्र है। लाक्षणिक शैली मे 'प्रदीप' राजनीति, इतिहास और साहित्य की गतिविधि को परखने की चेष्टा करता है। ऐसे प्रयोग यह

सिद्ध करते है कि प्रबुद्ध पत्रकार अपनी कला के लिए नये मार्ग खोजने मे यत्नशील है। आज हिन्दी पत्र-कला मे जो बात खटकती है वह यह कि एक-दो को छोड़कर कोई बडा पत्रकार नही है और ज्यादातर आजकल के उथल-पुथल के जमाने के लिए रिपवान विक्लस है। थोडे मे यह हिन्दी पत्र-कला के विकास का इतिहास है।

हिन्दी पत्र-कला का विकास अनेक बाधाओं और पाबन्दियो के बीच हुआ है। पाठको और उचित साधनो की कमी आज भी उसका हाथ-पैर बाँध देती है। हिन्दी के 'आज' और अंग्रेजी के 'स्टेट्समैन' के दफ्तरो को देखने से हिन्दी पत्र-कला की मजबूरियाँ अपने आप मालूम पड जायँगी। हिन्दी मे रायटर या असोसियेटेड प्रेस जैसी कोई एजेन्सी भी नही है और खबरो के लिए अंग्रेजी तारो का अनुवाद भाषा को तो बिगाडता ही है वक्त से ताजी खबरे पहुँचाने मे भी काफी दिक्कतें पेश कर देता है। जनमत बनाने के लिए प्रेस की स्वतन्त्रता पर सख्त कानूनी पाबन्दियाँ है। इतने कम साधनो और इतनी पाबन्दियो के बावजूद हिन्दी पत्र-कला तरक्की करती आई है। लेकिन यह तरक्की एक बँधे घेरे मे हुई है, जिसमे शायद अब गुञ्जायश नहीं रही। इसलिए स्वतन्त्र देशो की पत्र-कला तक आगे की मंजिलें पूरी करने के लिए इस घेरे को टूटना चाहिए।

—नवम्बर १६४१

११

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

रात्रि के घने अन्धकार मे अनेक टिमटिमाते दीपको के बीच प्रखर ज्योति से जलते हुए एक विद्युत्-गैस की चमकती रोशनी में बैठकर हम निविड .अन्धकार के घनत्व को भूल-सा जाते है। किन्तु जब वह गैस अचानक बुझ जाता है तो सहसा हमारी आँखों तले चारो ओर से घेरकर आत्मा को आच्छादित कर लेने वाला अँधेरा छा जाता है, यद्यपि अनेक दीपक अपनी लौ हिला-हिलाकर अन्धकार की धारा को चीरते हुए क्षीण प्रकाश की रश्मियाँ वातावरण में फैलाते रहते है, और जैसा-कुछ-तैसा प्रकाश बनाये भी रखते है। दो दिन पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हठात् देहावसान से हिन्दी-भाषियो के नेत्रो के आगे ऐसा ही अन्धकार छा गया है।

भारतवर्ष एक ऐसा अभागा गुलाम देश है जहाँ असमय मृत्यु हमारे जीवन की स्थायी स्थिति-सी बन गई है, दुःखद और मर्मान्तक पीडाजनक। हम अपने प्रेमचन्द या शरतचन्द्र को टॉलस्टाय, विक्टर ह्यूगो, बर्नर्ड शॉ की तरह, या अपने जयशंकरप्रसाद को, वाल्ट ह्विटमैन और वर्ड्सवर्थ की तरह दीर्घजीवी नहीं बना सके, उन्हें और न जाने कितने असख्य भारत-पुत्रो को असमय मृत्यु की गोद मे हम सौंप चुके है, सौंपते जाते है। इसका उत्तरदायित्व किसी सत्ताहीन, अज्ञात, सन्दिग्ध दैव के मत्थे मढ़कर क्या हम अपने क्षोभ को कम कर सकते है ? यह हमारे राष्ट्रीय पराभव और पिछड़ेपन का स्वाभाविक परिणाम है, इसका दायित्व हम सब पर है। हमारे समाज पर है कि हम वह स्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं कर पा रहे, जिनमें मनुष्य सुखी और दीर्घजीवी हो। अतः हमारे साहित्य की अमा-निशा मे दिनकर की तरह प्रचण्ड ज्योति से जलने वाले विद्युत्-गैस एक-एक करके बुझते जाते है, बुझते जाते है, और अब चारो ओर छोटे-छोटे दीपक ही टिमटिमा रहे है। इसका दायित्व हम पर ही है, इसकी चेतना हमे क्षुब्ध कर रही है।

आचार्य शुक्ल जी का जन्म सन् १८८४ ई० में बस्ती जिला के अगोना गाँव में हुआ था। आपने विश्वविद्यालय की डिगरी के अर्थ में उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, केवल एफ. ए. पास किया था, किन्तु हिन्दी पर आपका जितना असाधारण अधिकार था उतना ही अंग्रेजी, सस्कृत, बंगला, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं पर। एफ ए पास कर और कानून की परीक्षा मे विफल होकर आपने मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक. की नौकरी कर ली। किन्तु आज से ३४ वर्ष

पूर्व की असाहित्यिक परिस्थितियो में भी शुक्ल जी साहित्य से अनुराग बनाये रहे, अ र 'आनन्द कादम्बिनी' और 'सरस्वती' मे लेख लिखते रहे। आपके लेखो की गम्भीर विचार-वस्तु ने और गवेषणात्मक समीक्षा-शैली ने हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया, और सन् १९०८ मे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने आपको 'हिन्दी-शब्दसागर' का सहकारी सम्पादक नियुक्त किया। स्कूल की अध्यापकी छोड़ आप एकदम साहित्य-सेवा मे लग गये। 'हिन्दी-शब्दसागार' के सम्पादन में आपका सहयोग जितना महत्त्व रखता है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति का। एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय करने के लिए शुक्ल जी जैसे अध्यवसायी व्यक्ति ही देश के कोने-कोने का भ्रमण कर सकते थे। आठ-नौ वर्षो तक आप नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन करते रहे। फिर जब मालवीय जी ने आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा का परिचय पाया तो आपको काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापक नियुक्त कर दिया। बाबू श्यामसुन्दर जी के पश्चात् शुक्ल जी हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गये और इस समय वे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति भी थे।

शुक्ल जी का जीवन घटनाओ की तडक-भडक, उतार-चढाव से परिपूर्ण न था। वे शान्तिप्रिय थे, और शान्तिपूर्वक ही साहित्य-सेवा में आजीवन लगे रहे।

जिस समय शुक्ल जी ने हिन्दी मे लिखना आरम्भ किया उस समय हिन्दी का आलोचना-साहित्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। भारतेन्दु बाब के पश्चात् श्री बदरीनारायण चौधरी, पद्मसिह शर्मा, बालकृष्ण भट्ट और आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि समालोचना की परिपाटी बना ली थी किन्तु उसमें गम्भीर शास्त्रीय समीक्षा का अभाव था। आचार्य शुक्ल ने संस्कृत और अग्रेजी की समीक्षा-शैलियो का तुलनात्मक अध्ययन करके उनका समन्वय किया और एक अर्वाचीन समालोचना शैली की सृष्टि की, जो विचारात्मक और गवेषणात्मक होने के कारण अब तक की सभी शैलियो से अधिक प्रौढ़, सबल और परिष्कृत थी, और जिसकी प्रणाली केन्द्रित और संकेतात्मक थी।

उनके आलोचना-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य मे अनूठे है। जायसी, सूर और तुलसी की समालोचनाएँ उनके गम्भीर पाण्डित्य का दिग्दर्शन कराती है। उनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि कितनी पैनी और भारतीय साहित्य और संस्कृति में उनकी पैठ कितनी गहरी थी। इन कवियो की कृतियो का मूल्यांकन करते समय शुक्ल जी ने उनके समकालीन समाज का भी विशद वर्णन करके यह पहिली बार प्रतिपादित किया कि कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद रूप से सम्बद्ध है, और उसकी कृतियो में उसके मानस पर पड़ी समाज की प्रतिक्रिया

का ही व्यक्ति-विशिष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। अतः कवि अपने समाज की विचार-धाराओ और मनोवृत्तियो से अपने को अछूता नही रख सकता।

शुक्ल जी की पुस्तक 'काव्य में रहस्यवाद' उस समय निकली जब कि रहस्यवाद के नाम पर हिन्दी-काव्य क्षेत्र मे ऊल-जलूल और मनोविकारपूर्ण साहित्य की बरसाती बाढ आ गई थी। रहस्यवाद क्या है, क्या कोई कवि जीवन से अलग होकर किसी इतर जगत् के गीत भी गा सकता है, इन प्रश्नो का उन्होने ऊहापोह पूर्ण उत्तर दिया और साहित्य की रूढ़ बौद्धिक विलासिता का पूर्ण रूप से निरसन और समाधान किया।

यों तो हिन्दी-साहित्य के इधर कई इतिहास निकल चुके है किन्तु उनके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' का स्थान सबसे ऊँचा है। इतना प्रामाणिक इतिहास अभी तक और कोई नही लिखा गया है। न जाने कितने कवियो को, जिनका अस्तित्व हम भुला बैठे थे, शुक्ल जी ने खोजकर ढूँढ निकाला और हमारी काव्य परम्परा की विशृंखलित कड़ियों को एक सम्बद्धता और तारतम्यता प्रदान की। पहले उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त विवेचन ही किया था; किन्तु अभी कुछ दिन हुए उन्होने उसके नये संस्करण में हिन्दी की नूतनतम विचारधाराओ और प्रवृत्तियों का भी विशद उलेख कर दिया है।

शुक्ल जी एक महान् आलोचक ही नही थे, वे एक श्रेष्ठ निबन्धकार और कवि भी थे। उनकी पुस्तक 'चिन्तामणि' में क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, श्रद्धा, प्रेम आदि भावो और मनोविकारो पर स्वतन्त्र और विश्लेषणात्मक लेख है, ये लेख, प्रतिपादन की शैली और सूक्ष्म पर्यवेक्षण से, बेकन और कार्लाइल के लेखो की कोटि में आते है। उनमें उनकी भाषा इतनी सबल, साहित्यिक और स्फूर्तिदायक है कि उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस पुस्तक पर उन्हे मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला था।

एक कवि के रूप में वे उतने सफल न हो सके, क्योकि उनकी दार्शनिकता और गम्भीर विवेचनात्मक वृत्ति ने उनके कवित्व को भी गम्भीर बना दिया था, जिसके कारण उनकी कविता मे वह सहज सरलता न आ पाई जो कि एक कवि को लोकप्रिय बनाने के लिए आवश्यक है। तो भी 'लाइट ऑफ एशिया' के आधार पर लिखा 'बुद्धचरित' ब्रजभाषा का सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। उससे ज्ञात होता है कि शुक्ल जी प्रकृति के कितने भावुक प्रेक्षक थे।

शुक्ल जी ने बंगला और अंग्रेजी से कई पुस्तकों के अनुवाद भी किये।

आचार्य शुक्ल भाषा-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। वे भाषा की प्रगति और प्रवृत्ति को विशिष्ट रूप में ग्रहण करते थे। इनकी निखिल रचनाओ में भाषा-विषयक

प्रयोगो में इतनी सावधानी पाई जाती है जैसी कि अन्यत्र दुर्लभ है। उनके प्रयोग इतने सन्तुलित और अर्थ-गाम्भीर्यपूर्ण हैं कि किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्याय-वाची शब्द कभी उपयुक्त नही हो सकता और इसी से उनकी जागरूकता और महिमा का प्रकाश है। उनकी रचनाओ के व्यासग मे हिन्दी आत्म-निरीक्षण और अपनी उपजीव्यता के लिए परीक्षण करती जान पडती है। उन्होने हिन्दी भाषा को स्वस्थ और जीवन-विधायक साहित्य देकर उसे गौरवास्पद बनाया है।

आजकल हिन्दी सक्रान्ति-काल से गुज़र रही है। समय नाज़ुक है। अनेक बाधाएँ सामने है। उन सकटो से बचने के लिए हम अपने अनुभवज्ञान-वृद्ध विद्वानो से बहुत कुछ सहायता पा सकते है। ऐसे समय उनकी परम आवश्यकता होती है। और नहीं तो उनके होने से एक प्रकार का मानसिक धीरज रहता है। आचार्य शुक्ल तो अपने जीवन के अधिकाश वर्षो में साहित्य-चिन्ता में ही साँस लेते रहे। उनके देहा-वसान से हिन्दी ने अपना जो खो दिया है उस स्थान की पूर्ति की आशा निकट भविष्य मे नही है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के साहित्याकाश में अपनी ओजस्विनी प्रतिभा से सूर्य के समान प्रकाशमान है जिनकी अपेक्षा मे हिन्दी-साहित्य अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है।

उन्होने साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में जिस अभिनव दृष्टिकोण की स्थापना की उसको लेकर अभी बहुत कुछ काम करने की आवश्यकता है। नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के कारण जो नवीन प्रभाव इस समय विश्व साहित्य में आये है उनको भारतीय समीक्षा-पद्धति में अवतरित करना शुक्ल जी द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देना है। और उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमज़ोर कन्धो पर आ पडा है, उसके गुरुत्व का हम अनुभव कर रहे हैं।

—फरवरी १९४१

१२

एक महान् बौद्धिक परम्परा का अन्त

वाल्मीकि और कालिदास के बाद भारत ने रवीन्द्रनाथ टैगोर इतना बडा कवि उत्पन्न नहीं किया, और न कभी अपनी आत्मा का सन्देश देकर उसने इतना महान् प्रतिनिधि विश्व के अन्यान्य देशो मे भेजा। अभी तक भारत की आत्मा, बुद्धि, कार्य-क्षमता सदियो से कसी दासता की शृङ्खलाओ में ऊर्ध्व-श्वास ले रही थी; किन्तु ऐसे अवरूद्ध विकास के इतिहास की स्मृतियो का भार लेकर भी यदि वह रवीन्द्रनाथ को जन्म दे सकता है तो यह इस बात का सूचक है कि भारतीय जनता मे नव-जीवन की चेतना उत्पन्न हो रही है, और अपने इस नव-जागरण के साथ, चकबस्त और जोश के शब्दो में, इस 'कौम ने करवट ली' है।

रवीन्द्रनाथ भारत के नव-जागरण के प्रारम्भिक काल के गायक थे, और उन्होंने अपने गीतो से देश की सुप्त आत्मा को जाग्रत कर स्फूर्ति प्रदान की, मानवीय स्वाभिमान का भाव भरा और भारत को एक आदर्शपूर्ण भविष्य की नई दृष्टि दी। किसी गुलाम देश के राष्ट्रीय नव-जागरण के प्रारम्भिक काल के सृजनात्मक प्रयत्नो में जो अदम्य उत्साह, जो अटूट आशा, जो आनन्दातिरेक, जो सौन्दर्य-कल्पना, जो आदर्श-वादिता, जो निराशा और अवसाद रहता है, वह रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी है, और इतनी प्रचुर मात्रा में कि सहसा प्रतीति नही होती, आश्चर्यचकित होकर निहारते रह जाना पडता है।

यह एक महान् बौद्धिक परम्परा थी, जो पुरातन से प्रेरणा लेती थी, वर्तमान के रूद्ध-जीवन मे चेतना भर उसे उज्ज्वल भविष्य की ओर उन्मुख करती थी; जो स्वयं एक रूढ़ि न बन, नित अभिनव रूपो में अपने को जीवित करती चलती थी। आज कौम को अपने मधुर, प्रेरक गीतो से जगाने वाले गायक की वीणा बन्द हो गई है, और उसके साथ उस महान् परम्परा का भी अन्त हो गया है जिसके ये गीत थे, क्योंकि कौम अब करवट लेकर उठ खडी हो रही है, और सघर्ष-पथ पर चलने वाली क़ौम के अनुभव में अब कदाचित् वह उन्मद उल्लास, वह रंगीन आदर्श कल्पनाएँ न हो, अब कदाचित् अविराम संघर्ष के हर्ष-विमर्ष, अभावपूर्ण जीवन के अवसाद और उसके प्रति विद्रोह की चिनगारियो. प्रेम और प्रणय की आशा और निराशा की कठोर वास्तविकता के ऐसे अनुभव हो जिनका रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा मे एक अस्पष्ट संकेत ही मिलता है; करवट बदलकर, खड़ी होकर, संघर्ष-निरत मानवता का यह

अभिनव रूप भी महान् है, और एक नई महान् बौद्धिक परम्परा का सूत्रपात करता है; लेकिन जिन मधुर रागनियो ने उसे जगाया है, उनकी स्मृति वह कभी भूल नहीं सकती, उनके गायक के आभार को अस्वीकृत नही कर सकती।

रवीन्द्रनाथ की महत्ता इस बात मे निहित है कि परिस्थितियों के अनुकूल जिस परम्परा को उन्होंने जन्म दिया था, अन्त तक वे उसके सूत्रधार बने रहे, उसे अपनी अद्वितीय बहुमुखी प्रतिभा से समृद्ध बनाते रहे, और भारत को इस बात का गर्व है कि उसके नव-जागरण के ऐतिहासिक प्रारम्भ-काल की कला और साहित्य की नवोन्मेषी परम्परा का सृजनकर्ता, प्रसारक और नेता रवीन्द्रनाथ जैसा महान् व्यक्तित्व था; और आज जब भारत अपने जागरण के दूसरे ऐतिहासिक काल मे पदार्पण कर रहा है, तब वह रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा द्वारा छोडी समृद्ध विरासत की ओर सगर्व नेत्रो से देखता है, और उसके महान् शिल्पी के प्रति गर्व, प्रेम और कृतज्ञता के आँसू उमड़ पड़ते है।

अपने अन्तिम पतन-काल मे विश्व के पूँजीवाद ने, हर्बर्ट रीड के शब्दो में, केवल दो महान् कवि उत्पन्न किये है, वाल्ट ह्विट्मैन और डी० एच० लारेंस; लेकिन ये दोनो महाकवि अपने प्रतिवाद के स्वर में ही महान् थे, आनन्द और उल्लास की अनुभूति की अभिव्यक्ति मे नहीं। फासिज्म की ओर बढने वाला पूंजीवाद एक कलाकार से प्रतिवाद की ही अपेक्षा कर सकता है; लेकिन अपने सीमित दायरे मे अनेक अवरोधो के बीच विकासमान और साम्राज्य का प्रतिपक्षी भारतीय पूँजीवाद एक श्रेष्ठ राष्ट्रीय कलाकार को एक हद तक पहले आनन्द और उल्लास की अनुभूति भी प्रदान कर सका था, और रवीन्द्रनाथ मे इस अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्रोत भी प्रबल वेग से बहा है। [यदि स्वतन्त्र भारत पूँजीवादी देशो के ही मार्ग पर चला तो शायद रवीन्द्रनाथ की परम्परा से मिली इस आनन्द और उल्लास की विरासत का भविष्य के कवि उपयोग न कर सकें, और यह विरासत नष्ट हो जाय; अतः रवीन्द्रनाथ की जीवन्त विरासत की रक्षा का भार न केवल कवियो पर है, वरन् भारत की सम्पूर्ण सघर्ष-रत जनता पर है।]

गत अस्सी वर्ष के भारतीय जीवन की शहजोरियाँ और कमजोरियाँ कवि रवीन्द्रनाथ के काव्यों, नाटको, उपन्यासो, कहानियो, दार्शनिक विचारो, राजनीतिक-सामाजिक पुनर्संगठन की व्यवस्थाओ मे समान रूप से व्यक्त है। मध्यकाल में एक राष्ट्र के जावन में साठ वर्ष कुछ नहीं होते थे, लेकिन आज के क्रान्ति और संक्रान्ति-काल में साठ वर्ष एक युग का विस्तार घेर लेते है, जिसमें अनेक परस्पर-विरोधी परिवर्तन हो जाते है, एक दूसरे को काटती हुई अनेक विचारधाराएँ बहती रहती है, जीवन में एक अपूर्व तीव्रगामिता, विरोधाभास और आध्यात्मिक अभाव और अवसाद

रहता है। ऐसे साठ वर्षों की सम्पूर्ण आध्यात्मिक सस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई भी परम्परा इन परस्पर-विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओ, विचारधाराओ और भावनाओ का अभिव्यजन करेगी, यह एक सामान्य सत्य है। रवीन्द्रनाथ ऐसी ही परम्परा के स्रष्टा थे और साठ वर्षों तक अपनी रचनाओ और कलाकृतियों द्वारा वे इस परम्परा को इतनी व्यापक और विशद बनाने में समर्थ हुए कि उसके अन्तर्गत इस काल की सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक सस्कृति समाहित रही। ऐसी दशा मे रवीन्द्रनाथ की कृतियो में कोई एक विचारधारा, दृष्टिकोण या भाव-स्वर न मिलेगा। वह एक विविध रंगो का पुञ्ज है, जिसका सामूहिक दृश्य यद्यपि अत्यन्त मनोरम है, तथापि उसमे श्रेष्ठ रग भी है, और साधारण, फीके, नष्टप्राय रग भी है। अतः इस महान् परम्परा की कामयाबियों की विरासत को सञ्चित कर अक्षुण्ण बनाने का कार्य नई परम्परा का सूत्रपात करने वाली सजग शक्तियो को उठाना चाहिए, क्योकि इसके विविध रगो की राशि में से प्रतिक्रियावादी, विकृत रुचि के पोषक उन क्षीण, विवर्ण, नष्टप्राय रगो को इंगित कर, उनके ही कारण रवीन्द्रनाथ की महत्ता प्रतिपादित कर रहे है। इसमें सन्देह नही कि रवीन्द्रनाथ दार्शनिक दृष्टि से एक आदर्शवादी थे, और आदर्शवाद अपने चार हज़ार वर्षों के विकास में इतनी ऊँची-ऊँची चोटियो तक चढ चुका है, और इतने नीचे आध्यात्मिक पतन और विकृतियो के गर्त में गिर चुका है कि उसके कवि, कलाकार या विचारक के काव्य, कला या विचारो का मूल्याकन करके उसकी विरासत को सञ्चित करते समय एक बडा खतरा उपस्थित हो जाता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उस परम्परा के, विचारो की दृष्टि से अस्वस्थ, काव्य और कला की दृष्टि से नगण्य अशों को उच्च स्वर से उच्चरित कर कहती है—टैगोर इनके कारण महान् थे, टैगोर इनके कारण अमर रहेगे।

यह खतरनाक प्रवृत्ति हमारे देश में कुछ हमारे गौरांग प्रभुओं ने उत्पन्न की है, कुछ हमारी तर्कहीन, पिछडी मानसिक दशा ने।

उदाहरण के लिए; कुछ लोग रवीन्द्रनाथ को एक दैवी शक्ति, एक ईश्वरीय प्रेरणा-प्राप्त व्यक्तित्व और अलौकिक महापुरुष सिद्ध करने की चेष्टा में सलग्न है, और इस प्रकार वे रवीन्द्रनाथ की विचारधारा के जीवन-सूत्र तोड़कर—वह सूत्र जिसके द्वारा वे हमारे, जनता के जीवन से सीधे बँधे थे—रवीन्द्रनाथ को देवताओं के समान आकाश में स्थित करना चाहते है, और जनता से, उसके दुःख-सुख के क्षणों के गायक को, छीन लेना चाहते है।

इतना ही नहीं, वे रवीन्द्रनाथ के काव्य के रहस्यवादी अंशो को जनता के समक्ष रखकर यह सिद्ध करते है कि चूँकि उनके काव्य और विचारो में एक अलक्ष्य शक्ति की उपस्थिति का सकेत है, जिसमें अपने को अन्तस्थ करने के लिए कवि की

आत्मा आकुल है, इस कारण वे एक महान् रहस्यवादी और सन्त थे, मानो रहस्यवादी और सन्त होना काव्य की श्रेष्ठता का एकमात्र मापदण्ड हो।

रवीन्द्रनाथ के काव्य और अन्यान्य प्रकार की साहित्यिक और कला-कृतियों की महत्ता को विकृत करने वाले ये लोग रवीन्द्र-परम्परा (जो, हम ऊपर कह चुके है, गत साठ वर्षों से समस्त भारत की बौद्धिक परम्परा थी) के रहस्यवाद के विरद गाया करते है, लेकिन इस प्रकार वे रवीन्द्रनाथ की असली महत्ता की अवमानना करते है। क्योकि, और हम इस बात को पूरे ज़ोर से स्पष्ट कर देना चाहते है, रवीन्द्रनाथ अपने रहस्यवाद के कारण महान् नहीं है; वे महान् है तो अपने कल्पना-प्रधान यथार्थवाद के कारण, अपने गीतो के उत्कृष्ट काव्य के कारण, और अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा के कारण, जिसने एक व्यक्ति के दायरे मे कला और साहित्य का कोई भी अग संयोजित करने से न छोड़ा था।

रवीन्द्रनाथ एक साथ ही कवि, दार्शनिक, उपन्यासकार, नाटककार, कहानी-लेखक, व्यग-लेखक, गीनकार, सगीतज्ञ, स्वरकार, निबन्धकार, विचारक, आलोचक, राजनीति, समाज-शास्त्र और विज्ञान पर पुस्तके लिखने वाले, देशभक्त, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रतिपादक, शिक्षाविशारद, नृत्य-कला के विशेषज्ञ, अभिनेता, बालको के लिए कविता पुस्तको के लेखक, पत्रकार, पत्र-लेखन कला के सफल लेखक, शिक्षक और नेता थे। उनका रहस्यवाद इस अनेकमुखी प्रतिभा का केवल एक अंग था, और गत साठ वर्षों की देश और काल की परिस्थितियो से उत्पन्न हुआ था। पाश्चात्य पूँजी-वादी लेखको में भारतीय रहस्यवाद के प्रति जो श्रद्धा और प्रेम उमड़ पड़ा है, और जिसकी नज़ीर देकर भारतीय प्रतिक्रियावादी विचारक गर्व से भर जाते है, वह निरुद्देश्य नहीं है।

यह श्रद्धा और प्रेम भारत को अपने प्राचीन में ही सीमित रहने का प्रोत्साहन है, ताकि विज्ञान और दर्शन की नई प्रगतियो से परिचित होकर भारतीय विचारक अपनी नई चेतना का उपयोग अपने गौराग प्रभुओ के विरुद्ध न करने लगें। इसी का परिणाम है कि पाश्चात्य देशो में लोग रवीन्द्रनाथ को एक भारतीय सन्त और रहस्यवादी के रूप में अधिक जानते है, मनुष्य और असाधारण सौन्दर्य के कवि के रूप में कम।

ऊपरी सम्मान की ओट मे रवीन्द्रनाथ की मौलिक प्रतिभा और महत्ता का पश्चिम में बहुत दिनो से अपमान होता आया है, और हमारे देश के कुछ लोग भी इस अपमान को सम्मान के रूप मे ग्रहण कर हमारे ऊपर लादते आये है। रवीन्द्र-परम्परा की सजीव निधियो की इस प्रकार रक्षा नही की जा सकती।

रवीन्द्रनाथ अपने इन प्रशसको की तरह दकियानूसी या प्रतिक्रियावादी न थे।

वे आजीवन भारत और विश्व की नई प्रगतियो को अपनी सहानुभूति प्रदान करते आये थे। कला और साहित्य के क्षेत्र मे वे एक प्रकार से सच्चे क्रान्तिकारी थे, उन्होने बगाली भाषा का मार्जन किया, अथवा यो कहे कि उसे फिर से गढ़कर सुष्ठु और सरल-सुगम रूप दिया, काव्य मे अनेकानेक नये रूप-विधानो की सृष्टि की, उपन्यासो मे बकिम-परम्परा की सीमाएं तोड़कर एक नया यथार्थवाद भरा, नाटको मे सगीत और नृत्य के साथ काव्य का समन्वित सयोग कर एक अत्यन्त भावना-प्रधान रूप की सृष्टि की तथा प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमो का उल्लघन कर उनका क्षेत्र व्यापक बनाया, पुराने सगीत की तान और आलाप-प्रधान प्रवृत्ति का परित्याग कर, जिसके कारण काव्य और सगीत का सहयोग अनावश्यक हो गया था, उन्होने संगीत को काव्य-प्रधान बनाया, अर्थात् उसे भावना के सयोग से अधिक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी बना दिया, उन्होने अनेक नई रागिनिया, नये स्वर-विधान बनाकर, और अपने अत्यन्त सुन्दर २,००० गीतो को स्वर-बद्ध करके, बगाल ही नही वरन् सारे भारत के सगीत मे एक क्रान्ति उपस्थित कर दी, नृत्य-कला की पुरानी वासना-प्रधान भाव-भंगी का परित्याग कर उन्होने उच्च भावनाओ के कवित्वमय नृत्य की सृष्टि की। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने कला और साहित्य की सीमाओ को इतना व्यापक बना दिया, जितनी कि वह पहिले कभी न थी और ऐसा करने में उन्हे दकियानूसी लेखको और कलाकारो के विरोध का कम सामना नही करना पड़ा।

इसके विपरीत प्रगतिशील लेखक सघ और प्रगतिवाद के स्वागत और समर्थन में जो प्रेरक शब्द उन्होने कहे है, वे आज भी कानो में गूंजते है। एक विचारक की दृष्टि से यद्यपि वे आदर्शवादी थे, तथापि वे जीवन से विरक्त नही थे। गीतांजली में उन्होने लिखा था·

'Deliverence is not for me in renunciation I feel the embrace of freedom in a thousand bonds of delight.'

इसके अतिरिक्त वे एक मानववादी और शान्तिवादी थे, और एक ऐसी स्वतन्त्रता मे विश्वास करते थे जिसमे न केवल बाह्य बन्धनो का अभाव हो, बल्कि अज्ञान, स्वार्थ, अन्ध-विश्वास, मृत-रूढियो, निष्क्रियता, धर्माचार्यो और धर्म-ग्रन्थो के अनुशासन द्वारा लगाये आत्मा के बन्धन भी न हों; और वे पाश्चात्य और प्राच्य की एकता के हामी थे क्योकि ज्ञान-विज्ञान की नई प्रगतियो को वे किसी एक देश की निजी सम्पत्ति नही समझते थे। उनके विश्व-पर्यटनो ने उनके अन्दर यह भावना और भी दृढ़ कर दी थी।

सामाजिक क्षेत्र मे तो वे अपने समकालीन व्यक्तियो से कहीं आगे थे। उन्होने अशिक्षा दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न किये और शान्ति-निकेतन स्थापित करके

शिक्षा का ऐसा आदर्श रखा जो अति आधुनिक और गौरव-पूर्ण है। यह उनके ही प्रयत्नो का फल है कि नृत्य और अभिनय की कलाओ का प्रतिपादन शिक्षित लड़कियो द्वारा होने लगा है। वे केवल सहशिक्षा के ही पक्षपाती न थे, वरन् स्त्रियो की स्वतन्त्रता के भी हामी थे।

मौजूदा भारतीय राजनीति मे यद्यपि उन्होने सक्रिय भाग नहीं लिया, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि वे लिबरल थे, या भारत या विश्व की राजनीति से तटस्थ थे। बग-भग और स्वदेशी आन्दोलन मे उन्होने जो कार्य किया था, स्वदेशी-समाज की स्थापना के लिए जो व्यवस्था बनाई थी, उससे सभी परिचित है। जलियाँवाला बाग़ के विरुद्ध स्वर ऊँचा करने वाले वे प्रथम भारतीय नेता थे, और यद्यपि वे गांधी जी के सत्याग्रह के कभी समर्थक नहीं रहे, तो भी उन्होने भारत की सजग शक्तियो के स्वातन्त्र्य-सग्राम का हमेशा समर्थन किया, यहाँ तक कि विद्यार्थी-आन्दोलन भी, जिसे गाधी जी और दूसरे व्यक्ति शंका की दृष्टि से देखते रहे है, उनकी सहानुभूति से प्रेरणा पाता रहा। जर्मन, इतालवी और जापानी फासिज्म के वे सदव विरोधी रहे, स्पेन और चीन की बहादुर जनता को अपने प्रेरक सदेशो से बल प्रदान करते रहे और कम्युनिस्ट न होकर भी वे रूस की शान्ति-नीति और उसके महान् सास्कृतिक, आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रशंसक बने रहे।

इसके अतिरिक्त वे भारत की आज़ादी के सच्चे इच्छुक थे, और ब्रिटिश सरकार ने जब-जब भारत की भावनाओ का निरादर किया, उन्होने उसका मुंहतोड़ जवाब दिया। मिस राथबोन के उत्तर मे उन्होने अपनी रोगशय्या से जो पत्र लिखा था, वह उनके हृदय मे प्रज्ज्वलित स्वतन्त्रता की भावना का चिरस्मरणीय उदाहरण है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की परम्परा की यह सच्ची बिरासत है, जिसे हमें सुरक्षित कर आगे ले जाना है। रवीन्द्रनाथ अपनी इन्ही प्रगतिशील महानताओ के कारण हमारे प्रिय थे, हमारे शिक्षक और साथी थे।

हर परम्परा मे, हर व्यक्ति में, कुछ कमज़ोरियाँ होती है। रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा मे भी थीं—उनके रहस्यवाद को जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है, हम ऐसी ही कमजोरी मान सकते है। पुश्किन की तरह समृद्ध कुल में जन्म लेकर भी वे जन-जीवन के साथ अपने को एकप्राण बना सके थे, लेकिन उनके साहित्य मे समाज के ऊपरी वर्ग की भावनाओ और मनस्थितियो का भी काफ़ी चित्रण है। रवीन्द्रनाथ अपनी इन सीमाओ के प्रति सचेत थे, और शोषित किसानों और मजदूरो के सच्चे हितचिन्तक होने के कारण उन्हे इस बात का क्षोभ भी था—

"Not everywhere have I won access :
my ways of life have intervened
and kept me outside.
The tiller of the plough,
the weaver at the loom,
the fisherman plying his net,
these and the rest toil and sustain the world
with their world-wide varied labour.

I have known them from a corner,
banished to a high pedestal of society
reared by renown.

Only the outer fringe have I approached
not being able to enter
the intimate precincts."

'The Great Symphony' का यह गीत कला के रजत् स्तूपो में बन्द अहंकार-ग्रस्त लेखकों और कलाकारो के लिए एक चेतावनी है। लेकिन अपने जीवन की इस असमर्थता की चेतना से क्षुब्ध रवीन्द्रनाथ रोगशय्या पर पड़े अपने अन्तिम दिनों में भी 'श्रमिको' के उस जीवनाकांक्षा से भरे तुमुल गीत का स्वर सुनकर उल्लसित हुए थे, जो अनादि काल से चलता आ रहा है, और अब एक लययुक्त क्रान्ति के निर्घोष में फूट पड़ना चाहता है—

"Their million voices mingle in a song,
their grief and joy of every day
harmonise in a mighty hymn to Life."

और, रवीन्द्र-परम्परा को आगे ले जाने के लिए यह जरूरी है कि जन-जीवन से कांक्षित सम्पर्क न होने का उन्हे जो अभाव क्षुब्ध कर रहा था, उसकी पूर्ति जन-जीवन, श्रमिको के जीवन की 'mighty hymn to Life' की सृष्टि कर वातावरण को गुंजा दिया जाय। भारतीय जनता के इस महान् कवि, साथी और नेता के प्रति यही सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

—अगस्त १९४१

साधारण पाठक स्वय इस पर आश्चर्य करने की स्थिति मे नही है और मेरे ही समान गोस्वामी जी और दूसरे प्रचारको की बातो को भाषा-शास्त्र और इतिहास-सम्मत स्वीकार करके कुछ वैसी ही उलझनो में पडे हुए है जिनमें एक वर्ष पूर्व मै पड़ गया था। परन्तु मै उन दिनो जनपदीय भाषाओ के प्रश्न का नये सिरे से अध्ययन कर रहा था, इस कारण गोस्वामी जी का भाषण मेरे लिए ब्रह्म-वाक्य न बन सका।

इस वर्ष मुझे काश्मीर जाने का अवसर मिला। इन्ही दिनो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रधानमन्त्री और मेरे परम मित्र श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी श्रीनगर मे थे और उनसे तथा श्रीमती सत्यवती मल्लिक से काश्मीरी भाषा और साहित्य पर विचार-विनियम होता रहता था और हम लोग एक दूसरे की जानकारी और खोज से लाभ उठाते थे।

काश्मीर संसार के सबसे सुन्दर देशो में से है। प्रकृति ने अपना वैभव जितना काश्मीर में बिखेरा उतना अन्यत्र कहीं नही। देश-विदेश के असख्य यात्री प्रकृति के इस वैभव की अनुपम सुषमा और वैविध्य का साक्षात्कार करने जाते है और जैसे सम्मोहित होकर लौटते है। उनका सौन्दर्य-बोध अपनी रूढ सीमाओ को तोडकर इतना विस्तृत हो जाता है। कि अन्य प्रदेशो के रमणीक स्थान तुच्छ लगने लगते है। प्रकृति ने अपनी श्री-समृद्धि के प्रदर्शन का इतना विराट् आयोजन और कहाँ किया है? काश्मीर के निवासी भी इस अतुल सौन्दर्य-राशि का नित्य साक्षात्कार करते हैं, इससे उनकी सौन्दर्य-वृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल बन गई है। इसका अनुमान उनकी दस्तकारियो की कलात्मकता में मिलता है। कला की इस परम्परा को उन्होने आज भी अक्षुण्ण रखा है। परन्तु यह उनके जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है कि उनका अपना जीवन—सामाजिक और सांस्कृतिक—उतना ही कुरूप और तुच्छ है। प्रकृति और मानव चिरकाल से काश्मीर में दो भिन्न धरातलो पर रहते आये है। सदियो की गुलामी दोनो के बीच मे एक अभेद्य दीवार बनकर खड़ी रही है और उसने प्रकृति के वैभव पर काश्मीर की जनता के उत्तराधिकार को कभी प्रतिफलित नही होने दिया। सांस्कृतिक विकास की असाधारण सम्भावनाएँ दबी पड़ी रह गईं। प्रकृति और मानव के इस वैषम्य को देखकर एक सवेदनशील यात्री की सौन्दर्य-प्रतीति मे क्रूर विक्षेप होता है और उसे कवि पन्त की निम्न पक्तियां स्मरण हो आती है—

> "प्रकृति धाम यह । तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
> यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत ।।"

और जब मै इस तीखी अनुभूति से अपने को अछूता न रख सका तो मैंने काश्मीरी भाषा और साहित्य की खोजबीन की। गोस्वामी जी और दूसरे प्रचारको ने

काश्मीर की सास्कृतिक समस्याओ को जितना सरल बनाकर भ्रान्तियाँ फैलाई है, उनकी जाँच करना ही मेरा उद्देश्य न था, परन्तु मै इस खोजबीन से उस देश के जन-जीवन की वस्तुस्थिति से परिचित होना चाहता था जो प्रति वर्ष देश-देशान्तर से आये सहस्रो यात्रियो के विहार-मनोरञ्जन, स्वास्थ्य और विश्राम के लिए मुक्त भाव से अपना आतिथ्य प्रदान करता है, पर दूसरो को ये सुख-सुविधाएँ जुटाकर स्वयं अपनी 'सभ्यता, सस्कृति से निर्वासित' जनता को 'अन्न-वस्त्र-पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पक में पालित रखता है। आज 'नये काश्मीर' के नारे की गूँज से काश्मीरी जनता के जीवन मे एक नई चेतना का स्पन्दन मुखर हो उठा है, परन्तु वहाँ के लोक-साहित्य की परम्परा ने उसके जातीय वैशिष्ट्य को विनष्ट नही होने दिया, इस तथ्य से हम सभी अपरिचित ही रहे है। उसके योगदान को तो और भी नही जानते। अतः इस लोक-परम्परा का परिचय काश्मीर के सास्कृतिक जीवन और उसकी समस्याओ-सम्भावनाओ को समझने में सहायक होगा, इतना तो साधारणतः अनुमेय है।

काश्मीर राज्य का दो-तिहाई भाग तिब्बती इलाका है, दुर्गम पर्वत-शृखलाओ के पीछे छिपा। वहाँ अनेक छोटी-छोटी असभ्य जातियाँ इधर-उधर बिखरी हुई है जो आस्ट्री-एशियायी परिवार की बुरुशस्की और तिब्बती-चीनी परिवार की लद्दाखी आदि बोलियाँ बोलती है। जब काश्मीर का ज़िक्र आता है तब यह विशाल हिम-प्रदेश अभिप्रेत नही होता। काश्मीर तो केवल उस विशाल समतल घाटी और उसकी चतुर्दिक पर्वतमालाओ के रम्य प्रदेश को कहते है जिसमे श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव आदि प्रसिद्ध स्थान है। पूरे काश्मीर राज्य की अपेक्षा मे इस प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग आठवें हिस्से के बराबर है। इसी प्रदेश की भाषा काश्मीरी है।

काश्मीरी भाषा

काश्मीरी भाषा समूची काश्मीर-घाटी मे बोली जाती है। काश्मीरी अपने देश को काशीर कहते है और काश्मीरी को कौशीर। भाषा का काश्मीरी नाम सम्भवतः सस्कृति के 'कास्मीरिका' से निकला है।

हिन्द-ईरानी शाखा की एक उप-शाखा दर्दी भाषाएँ है जिनमे शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी मुख्य है। शीना को गिलगिती भी कहते है। दर्दी समूह की यह सबसे विशुद्ध भाषा है क्योकि इस पर दूसरी भाषाओ और संस्कृतियो के प्रभाव नहीं पड़े। कोहिस्तानी भाषा कई बोलियो का समूह है और उन पर पश्तो का गहरा प्रभाव पड़ा है। काश्मीरी पर सस्कृत, फारसी और अरबी का सदियो से प्रभाव पड़ता आया है।

काश्मीरी भाषा-क्षेत्र के उत्तर में शीना का क्षेत्र है। पश्चिमोत्तर मे कोहिस्तानी, पश्चिम में लहँदा (पश्चिमी पञ्जाबी) की छिबाली और पूँची बोलियाँ, दक्षिण-

पश्चिम में डोगरी (पजाबी की बोली) मध्य-दक्षिण में भद्रवाही (पश्चिमी पहाडी की बोली), दक्षिण-पूर्व में पाडरी (पश्चिमी पहाड़ी की बोली) और पूरब में पुरिक, लद्दाखी और बाल्ती आदि तिब्बती-ब्रह्मी की बोलियो का क्षेत्र है। काश्मीर की अपनी केवल एक ही बोली है—कश्तवारी। यह काश्मीर-घाटी के दक्षिण-पूर्व के कश्तवार पर्वत-प्रदेश में बोली जाती है। जम्मू प्रान्त की पीर पन्तसाल पर्वत-मालाओ में भी काश्मीरी बोली जाती है। पोगुली, दोदा की सिराजी, रामबानी और रियासी की बोलियाँ भी काश्मीरी से निकली है। कुल मिलाकर काश्मीरी के बोलने वालों की संख्या लगभग १५ लाख है। दर्दी समूह की भाषाओ के विषय में यह कहना कि वे सस्कृत से निकली है, उतना ही सत्य होगा जितना यह कहना कि अरबी और फारसी संस्कृत से निकली है। हिन्द-ईरानी शाखा की तीन स्वतन्त्र उपशाखाएँ है। ईरानी भाषा-समूह, भारतीय आर्य भाषा-समूह और दर्दी भाषा-समूह। काश्मीर इस तीसरे समूह की एक स्वतन्त्र भाषा है। उसका अपना स्वतन्त्र व्याकरण है। वह ईरानी और भारतीय आर्य के बीच की है। काश्मीरी बहुत पुरानी भाषा है। भारत मे आर्यों के आने के पूर्व ही कदाचित् छोटी 'पिशाच' जातियाँ उत्तर-पश्चिम के पहाडो में निवास करती थी। लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व आर्यों ने इन पिशाच (दारद) जातियो को जीतकर उन पर शासन प्रारम्भ किया। आर्यों ने संस्कृत को राजभाषा बनाया और काश्मीरी भाषा को लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष तक संस्कृत भाषा और सस्कृति से प्रभावित करते रहे। काश्मीरी ने ये प्रभाव ग्रहण किये किन्तु उसकी गठन में फ़र्क नहीं आया, उसका ढाँचा नहीं टूटा। काश्मीरी जनता ने संस्कृत के प्रबल प्रभाव के आगे अपनी मातृ-भाषा का अस्तित्व नहीं मिटने दिया, यद्यपि ब्राह्मणो ने काश्मीर को सस्कृत का विशाल केन्द्र बना दिया था और संस्कृत में इतिहास, काव्य, प्रेम-कथा और दर्शन के महान् ग्रन्थो की रचना की थी। संस्कृत के दो विश्वविद्यालय भी स्थापित किये गये थे—एक श्रीनगर के निकट 'पॉद्रेठन' नाम से, दूसरा उत्तर की पर्वत-माला में 'शारदा' तीर्थस्थान पर। जब छठी सदी मे चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया तब उसने सबसे पहले 'पाँद्रेठन' मे बैठकर तीन वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया। आर्यों के आने के बाद भी लगभग एक हज़ार वर्ष तक काश्मीरी की कोई लिपि नही थी। ब्राह्मणो ने असभ्य दारद जातियो को शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझा। अतः किन कारणो से उन्होने शारदा-तीर्थस्थान के सस्कृत-विद्यालयो मे नवी सदी के लगभग उत्तर भारत में प्रचलित ब्राह्मी की उत्तरी शैली कुटिल लिपि से काश्मीरी भाषा के लिए 'शारदा' लिपि तैयार की, यह अभी तक अज्ञात है। शारदा का सबसे पुराना लेख ११वीं सदी की एक रानी 'विदारानी' का

एक अज्ञा-पत्र है जो सस्कृत और शारदा दोनो लिपियो मे लिखा हुआ है। इस समय यह आज्ञा-पत्र लाहौर के म्यूजियम मे सुरक्षित है। 'शारदा' से ही टाकरी लिपि निकली है और गुरुमुखी लिपि के अनेक अक्षरो की बनावट शारदा लिपि के अनुसार है। काश्मीरी का थोडा साहित्य शारदा लिपि मे मिलता है। आजकल यह लिपि अप्रचलित है और उसका पुन प्रचलन सम्भाव्य नही लगता। इधर फारसी लिपि का भी प्रयोग होने लगा है परन्तु उसमे काश्मीरी की सारी ध्वनियो को व्यक्त नहीं किया जा सकता जिससे पाठ शुद्ध नही होता। देवनागरी लिपि मे भी काश्मीरी की सारी ध्वनियाँ नही व्यक्त हो पाती, अत. नये जागरण के आधुनिक काश्मीरी कवियों के सम्मुख लिपि का प्रश्न आज भी जटिल बना हुआ है। वे दोनो (फारसी और देवनागरी) लिपियो मे आवश्यक सकेत-चिह्न लगाकर अपनी रचनाएँ प्रकाशित करते हैं।

काश्मीर के आर्य शासको ने काश्मीरी भाषा की सदा उपेक्षा की। इसका प्रमाण कल्हण (११५० ई०) की प्रसिद्ध पुस्तक 'राजतरगिणी' है। राजतरंगिणी सस्कृत पद्य में लिखी काश्मीर के राज-परिवारो का इतिहास है। सारी पुस्तक मे काश्मीरी के केवल दो या तीन शब्द उद्धृत किये गये है, जैसे 'श्रानपटति क्ष्वीना' (स्नान-पट नहीं है। मुहावरा 'क्या तुम्हारे पास स्नान करने के लिए लंगोटी भी नही है ?') और 'रगसह्योलद्युन' (किसी राजा ने अपने सेवक रंगा पर प्रसन्न होकर उसे 'ह्योल' नाम का गाँव इनाम मे दिया। अतः अगर किसी साधारण मनुष्य पर कोई विशेष कृपा करे तो उसके लिए काश्मीरी मे 'रगसह्योलद्युन' मुहावरे का प्रयोग होता है।) ब्राह्मणो ने पिशाची भाषा से अपनी सस्कृति को किस निष्ठा से अछूता रखा, इसका अनुमान करना सरल है। हजारो वर्षों तक काश्मीरी जनता के बीच मे संस्कृत के महान् ग्रन्थो की रचना होती रही, परन्तु जनता की भाषा का एक शब्द भी उसमे प्रविष्ट न हो सका। साहित्य और काव्य एक विदेशी शासक वर्ग का ही व्यसन-विलास था और इसमे उन्होने शासित जनो को कोई भाग नहीं लेने दिया। विशुद्धता का इतना आग्रह फ़ारसी और अग्रेजी ने भी कभी नही किया। परन्तु काश्मीरी भाषा-भाषी शासितजन अपनी भाषा को संस्कृत के प्रभाव से अछूता न रख सके। सस्कृत के सैंकडो शब्द, पद और वाक्याश काश्मीरी मे प्रविष्ट हो गये, यद्यपि काश्मीरी के व्याकरण के अनुसार अपने को रूपान्तरित करके। काश्मीरी मे 'मन' ढलकर 'वन्द' बन गया। चौदहवी शताब्दी तक सस्कृत का प्रभुत्व रहा, तो भी निम्न मध्य वर्ग के आर्य (ब्राह्मण) परिवारो में इस बीच काश्मीरी का प्रवेश हो चुका था और कालान्तर में उसकी मातृभाषा सस्कृत न रहकर काश्मीरी बन गई थी। उसके पश्चात्, मुस्लिम शासको का अधिकार हो जाने पर फ़ारसी का दौर शुरू हुआ। संस्कृत के

स्थान पर फारसी राज्य-भाषा हो गई। संस्कृत-भक्त ब्राह्मणों ने राजभक्ति दिखाने के लिए फारसी पढी और अब फारसी मे अपनी काव्य-प्रतिभा प्रयुक्त का चमत्कार दिखाने लगे। पिशाच जातियो में इस्लाम फैलने लगा और काश्मीर की ९५ फीसदी जनता मुसलमान हो गई। बहुत से काश्मीरी पण्डित भी मुसलमान हो गये। वे अपने नाम के आगे अबभी 'बट' (भट्ट) आदि लगाते है। फारसी का इतना प्रभाव बढा कि काश्मीरी भाषा का ख़तोख़याल (नक्शा-स्वरूप) ही बदल गया। फारसी के हज़ारो मुहावरे, कहावते, शब्द आदि काश्मीरी भाषा मे घुल-मिल गये। परन्तु फिर भी काश्मीरी भाषा की गठन, उसका व्याकरण ज्यो-का-त्यो बना रहा। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक फारसी का प्रभुत्व रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि आज की काश्मीरी फारसी प्रधान भाषा है। काश्मीर के तीन-चार फीसदी ब्राह्मणो-हिन्दुओ की भाषा में फारसी के उतने शब्द नहीं होते, परन्तु फिर भी संस्कृत की अपेक्षा अधिक होते है।

काश्मीरी का साहित्य

ब्राह्मणो के शासनकाल मे काश्मीरी भाषा के लोक-साहित्य की क्या अवस्था थी, इसका अभी कोई प्रामाणिक सूत्र नही मिला। १४वी सदी से पूर्व का लोक-काव्य और लोक-कथा-साहित्य काश्मीरी की श्रुति-परम्परा भी सुरक्षित नही रख पायी। सुल्तान जैनुलआबदीन (१४१७-६५ ई०) के राज्यकाल के किसी अज्ञात कवि की लिखी एक कविता 'बाणासुरवध' मिलती है, जिसे काश्मीरी की प्रथम कविता कहा जाता है। सूफ़ी कवि लल्लेश्वरी (या लल्लादे) कदाचित् काश्मीरी की प्रथम कवि है। वे एक सन्त कवि थीं, दिगम्बर अवस्था में घूमती थीं और अपने गीत सुनाती फिरती थीं। कबीर के समान ही उन्हे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही पूजते है। उनके काव्य में शिव-भक्ति की प्रधानता है। लल्लेश्वरी का काल चौदहवीं सदी बताया जाता है। उनके सम्बन्ध मे अनेको किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, और आज भी उनकी यथेष्ट मान्यता है। लल्लेश्वरी के समकालीन ही शायद शेख नूरदीन वली (सूफी सन्त) और सोम पण्डित थे। उनकी रचनाएँ भी मिलती है। लल्लेश्वरी के सैकड़ो पदो की एक पाण्डुलिपि 'लल्ला वाक्याणि' सस्कृत शीर्षक के अन्तर्गत तैयार की गई। इस बीच काश्मीर में स्त्रियो ने अधिकतर काव्य-रचना की, पुरुष दरबारो मे फ़ारसी बोलते थे और प्रथानुसार काश्मीरी को हेय दृष्टि से देखते थे। काश्मीर की एक मल्का हब्बाख़ातून भी काश्मीरी की प्रसिद्ध कवि थी। अकबर ने जब काश्मीर विजय किया तो हब्बाख़ातून के पति को कैद कर दिया। वह तब फ़क़ीर बनकर निकल पडी। उसकी अनेक कविताएँ सर्वसाधारण में प्रचलित है। हिन्दू राजा सुखजीवन सिन्हा के आठ वर्ष के राजत्व काल (१७८६-९४ ई०) में प्रकाश भट्ट ने रामावतारचरित की रचना की। ये रचनाएँ शुद्ध काश्मीरी में है और श्रेष्ठ काव्य में परिगणित की जाती है।

इन ग्रन्थो मे कतिपय ऐसी पौराणिक कथाएँ है जिनका उल्लेख राम-काव्य की परम्परा मे अन्यत्र कही नही मिलता। मार्तण्ड के पण्डित परमानन्द (१९वी शताब्दी) ने राधा स्वयंवर और सुदामा-चरित की रचना करके कृष्ण-काव्य की परम्परा का काश्मीरी भाषा में सूत्रपात किया। राधास्वयवर काश्मीरी का उच्चकोटि का काव्य है। प्रकाश भट्ट और परमानन्द के काव्य हिन्दुओ की काश्मीरी के काव्य है, अर्थात् सस्कृत-मिश्रित। फिर भी इन दोनो कवियो ने विशुद्ध काश्मीरी को ही अपना आदर्श रखा था। कृष्ण राज़दान ने जो 'शिव-लग्न' लिखी, वह अत्यन्त सस्कृतनिष्ठ काश्मीरी मे थी। इस प्रकार हिन्दुओ की काश्मीरी मे अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे गये है। परन्तु जिस व्यक्ति ने आज से सौ वर्ष पहले आधुनिक काश्मीरी काव्य की परम्परा का सूत्रपात किया, उसका नाम महमूद गामी है। उसने मुसलमानी काश्मीरी में फारसी की तर्ज़ पर 'यूसुफ-ज़ुलेखा', 'लैला-मजनू' और 'खोसरा की शीरी' नाम की रचनाएँ कीं। महमूदगामी बहुत बड़े कवि थे परन्तु चूँकि उन्होने शुद्ध काश्मीरी में लिखा था इस कारण लोगो ने उनका आदर नहीं किया। ऊँचे वर्गो से उन्हे निरादर और उपेक्षा ही मिली। उनके पश्चात् सैकडों कवियो ने काश्मीरी में लिखना प्रारम्भ किया। परन्तु बाद के कवियो ने इस डर से कि लोग उनकी नज़्मों को अनपढ़ो की नज़्म कहकर उनका तिरस्कार न करे, उन्होने फ़ारसी के शब्दों का बहुलता से प्रयोग करना शुरू कर दिया। फल यह हुआ कि काश्मीरी की शायरी मे 'काश्मीरी' के तो नाम-मात्र को दो-चार शब्द ही होते थे, बाकी फारसी के होते थे। केवल क्रिया-पद, सम्बन्ध-कारक आदि काश्मीरी के रहते थे (जैसे हिन्दी अथवा उर्दू की अनेक कविताएँ सस्कृत अथवा फारसीमय होती है)। फिर भी सैफुद्दीन का 'वणिक-उज्र' और सुनीति पडित का 'निसाब' आदि इस दौर के अच्छे काव्य-ग्रन्थ है।

सिरामपुर के ईसाई पादरियो ने इञ्जील का अनुवाद १८२१ ई० में शारदा लिपि में प्रकाशित किया था, परन्तु जब वह प्रचलित न हो सका तो फिर उसे फारसी लिपि में प्रकाशित कराया। पण्डित ईश्वरकान्त ने १८७९ ई० में संस्कृत भाषा में काश्मीरी का व्याकरण 'काश्मीर शब्दामृत' के नाम से सकलित किया। बाद में ग्रियर्सन ने इसका सम्पादन करके १८९३ ई० में 'रॉयल एशियाटिक जरनल' द्वारा प्रकाशित कराया। ग्रियर्सन ने काश्मीरी-अंग्रेजी शब्दकोष भी तैयार किया। काश्मीरी में एक प्राचीन भाषा की तरह लोक-कथाओं और कहावतो का प्राचुर्य है। हमारे यहाँ के चारण-भाटों की तरह वहाँ 'रावीस' होते है जिनका पेशा ही यह होता है कि वे लोक-कथाएँ सुनाते फिरते है। जे० हिन्टन नोले का (Rev J. Hinton Knowles), जिन्होने १८९३ ई० में काश्मीर की लोक-कथाओं का संग्रह किया था, कथन है कि एक ही कथा को कई वर्ष पश्चात् सुनने पर भी कहीं एक शब्द का हेर-

फेर नहीं मिलता। उनका वर्णन इतना शुद्ध होता है कि सुनकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है।

इधर काश्मीरी जनता मे जो थोडी-बहुत चेतना जगी है उसके फल-स्वरूप काश्मीरी साहित्य के इतिहास लिखे जाने लगे है। प्रो० कौल और प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' आदि काश्मीरी काव्य साहित्य और मुहावरों-कहावतो आदि के गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए खोज-बीन कर रहे है।

इस समय काश्मीरी के तीन कवि प्रमुख है, महजूर, आजाद और मिर्जा गुलाम हसन बेग। इस निबन्ध में मै कवि महजूर का ही उल्लेख करूँगा, क्योकि काश्मीरी साहित्य में उनका वही स्थान है जो हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है। आजाद और मिर्जा बेग के लिए महजूर प्रेरक शक्ति और पथ-प्रदर्शक रहे है।

कवि महजूर

गुलाम मुहम्मद महजूर काश्मीरी अत्यन्त सरल प्रकृति के, विनयशील, गम्भीर पर विनोदप्रिय व्यक्ति है। औसत कद, गोरा रग, छोटी पैनी आँखें, कटी-छटी मूछें, अधपके बाल हँसमुख चेहरा—इस सीधे-सादे व्यक्ति का केवल इतना ही वैशिष्ट्य है। अपने ऐतिहासिक महत्त्व के अहङ्कार का बोझ वे सिर पर लादकर नही फिरते। जब वे प्रथम बार मुझ से मिलने आये तो चन्द मिनटो में ही घनिष्ठ हो गये। मेरे प्रश्नो का उत्तर देते समय जब मुहम्मद गामी के पश्चात् काश्मीरी कविता में फारसी शब्द के बहुल प्रयोग का प्रसंग आया तो वे सरल भाव से कह गये, "इस सैलाब को रोकने के लिए कुदरत ने मुझ को पैदा किया।" स्वर में दम्भ का लेश न था, बल्कि मुख पर विनम्रता कुछ और प्रकट हो आई थी। इस वक्तव्य में आत्म-श्लाघा न थी, केवल सत्य कथन था। इसके बाद हम लोग कई बार मिले। उन्होने अपनी कविताएँ सुनाईं और उर्दू मे उसका अनुवाद करके बताया। एक बार मै उन्हे श्री सत्यवती मल्लिक के यहाँ ले गया; भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी थे और हम लोगो ने कवि महजूर से कई कविताएँ और लल्लेश्वरी और हब्बाखातून के विषय में प्रचलित किंवदन्तियाँ सुनी। एक दिन प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' के यहाँ कवि महजूर की सहायता से पुष्प जी और उर्दू के कहानी लेखक परदेशी जी ने मेरे लिए उनकी कई कविताओ का हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रकार मुझे कवि महजूर को काफी निकट से देखने-जानने का अवसर मिला। निश्चय ही उनकी सरलता से मै प्रभावित हुआ।

श्रीनगर से २०-२२ मील पर अवन्तीपुर के पास पुलवामा तहसील के मित्री गाम (मित्र ग्राम का फारसी रूप) में १८८७ ई० में महजूर का जन्म हुआ। उनके पिता और पूर्वज पीर वर्ग के थे, थोडी जमीन भी थी। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। उसके बाद श्रीनगर में अरबी, फारसी और उर्दू पढ़ी। उनके उस्ताद अली गनाई

'आशिक' स्वय शायर थे। फारसी और काश्मीरी में शायरी करते थे। एक दिन उन्होने बातो ही बातो मे भविष्यवाणी की कि यह लडका शायर होगा। शिक्षा प्राप्त करके जब महजूर घर वापस लौटे तो माँ-बाप ने परम्परागत पीरी-मुरीदी का पेशा सँभालने का आग्रह किया, परन्तु महजूर को किसी भी रूप में अन्य के आगे हाथ फैलाने से घृणा हो चुकी थी। वाल्दैन को अपने बेटे की स्वतन्त्र प्रकृति पसन्द न आई और महजूर को कच्ची उम्र मे ही घर छोड़कर भाग निकलना पड़ा। १६-१७ वर्ष की आयु थी। व्यवसाय की टोह में इधर-उधर भटककर वे १६०५ ई० मे लाहौर पहुँचे। फिर अमृतसर जाकर खुशनवीसी सीखी। इन्ही दिनो वे पंजाब के बड़े-बड़े शायरो से मिले, क्योकि कविता के प्रति उनका बचपन से ही अनुराग था। उस वर्ष उर्दू-फारसी के महाकवि हजरत शिबली अमृतसर आये। महजूर उन दिनों फारसी में शेर कहते थे। एक मित्र के साथ हजरत शिबली से मिलने गये और उनको अपनी शेर सुनाईं। चन्द शेर सुनने के बाद शिबली ने पूछा, 'आपने क्या तखल्लुस रखा है ?' उन्होने उत्तर दिया, 'महजूर' (दूर पड़ा हुआ)। शिबली ने पूछा, 'आप किस से दूर पडे हुए है ?' महजूर ने कहा, 'अपने मादर-ए-वतन से।' शिबली ने इनकी शेर पसन्द कीं और अपने पास बैठे अन्य मित्रो से कहा, 'यह अपने वक्त के अच्छे शायर होगे।'

सन् १६०७ में महजूर श्रीनगर वापस लौट गये। उस समय चौधरी खुशी मुहम्मद 'नाजिर' मुहतमिम बन्दोबस्त (Settlement Officer) थे। वे स्वयं कवि थे। महजूर को नौकरी की तलाश थी, अत. उन्होने चौधरी साहब के पास नज्म में लिखकर एक दरखास्त पेश की। चौधरी साहब ने तरुण कवि की प्रतिभा पर मुग्ध होकर उन्हे अपने साथ रख लिया और लद्दाख (लासाकी सरहद पर) ले गये और बाद को उन्हे पटवारी के पद पर नियुक्त कर दिया। वेतन था आठ रुपया मासिक। तब से वाह्य जीवन-घटना-प्रधान न रहा। केवल बन्दोबस्त से तब्दील करके माल के महकमे में कर दिये गये, पर रहे पटवारी ही। जब पहली बार मुझ से भेंट हुई, उस समय महजूर बडगाम के पटवारी थे। जब अन्तिम बार मिले तब उन्हें पेंशन मिल चुकी थी और इससे उन्हे आन्तरिक खुशी हो रही थी कि अब निर्द्वन्द्व होकर काव्य-साधना में सलग्न हो सकेंगे। अपनी नौकरी के अन्तिम दिनो में वे २०) रुपये माहवार की मोटी तनख्वाह पाने लगे थे। ३८ वर्ष की नौकरी में काश्मीर सरकार ने अपने देश के सर्वश्रेष्ठ कवि का ढाई गुना वेतन बढ़ाकर यथेष्ट सत्कार-सम्मान कर दिया था। काश्मीर एक देशी रियासत है, वहाँ तक जनतन्त्र की आवाज देर से पहुँचती है। सन् १६२८-२६ की बात है, कवि महजूर के शायरी की दुनिया के मित्र पंजाब के नगरों में रहते थे। उनसे महजूर का पत्र-व्यवहार होता था। रियासत की खुफिया पुलिस को सन्देह हुआ कि महजूर ब्रिटिश इण्डिया के नेताओं से पत्र-व्यवहार

करता है और उनके विचार काश्मीर में फैलाता है, नहीं तो उसकी कविताएँ इतनी लोक-प्रिय क्यों होती हैं। अतः जाँच-पड़ताल की सुविधा के लिए महजूर को मुजफ़्फ़राबाद जिले में श्रीनगर से १५० मील की दूरी पर काश्मीर घाटी से बाहर भेज दिया गया। जब कोई अपराध सिद्ध न किया जा सका तो पुनः काश्मीर वापस बुला लिये गये। काश्मीर राज्य की सीमा से महजूर केवल एक बार ही बाहर गये हैं, वह भी पंजाब तक। बाक़ी, नौकरी के सिलसिले में काश्मीर की घाटी में ही घूमते रहे हैं।

पंजाब से सन् १९०७ में वापस आकर उन्होंने देहात मे ही शादी की, पर थोड़े दिनों बाद श्रीनगर में घर बना लिया। टंकी कदल के पास उनका एक छोटा-सा मकान है और सिल्क फैक्टरी के पास थोडी-सी जमीन भी। उनके अकेले पुत्र मुहम्मद अमीन ने अंग्रेजी मैट्रिक तक पढ़ा है। अवस्था लगभग २५-२६ वर्ष है। मुहम्मद अमीन को भी साहित्य और विशेषकर इतिहास से अनुराग है। इस समय वे काश्मीरी की तारीख़ी रिसर्च का काम कर रहे हैं। उन्हे हिन्दी और थोड़ी सस्कृत भी आती है। उन्होने काश्मीर के सिक्को का सन् वार सग्रह किया है और प्राचीन मकानों, खण्डहरो और क़ब्रों पर खुदे तकबो की नक़लें तैयार की है।

महजूर ने फ़ारसी कविता से प्रारम्भ किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। फ़ारसी में उनकी पचास-साठ नज़्में है जो अख़बारो में प्रकाशित हुई थीं, पर पुस्तक-रूप में नहीं छपीं। फ़ारसी के साथ-साथ उन्होंने उर्दू मे भी काव्य-रचना शुरू की और सन् १९२० तक उर्दू में लिखते रहे। इसके पश्चात् उन्होने काश्मीरी में लिखना प्रारम्भ किया। पटवारी की हैसियत से देहात की जनता से उनका नित्य-प्रति का सम्पर्क रहता था। यह अपढ जनता उनकी फारसी और उर्दू की शायरी को समझ नहीं पाती थी। जिनके बीच में वे रहते थे उनके लिए इनके काव्य-कौशल का कोई मूल्य न था। अतः काव्य के आकाश-महल से उन्हें अपने वतन की जमीन पर उतरना पड़ा। मैंने जब महजूर से पूछा कि आपने उर्दू छोड़कर काश्मीरी भाषा मे काव्य-रचना क्यो प्रारम्भ की तो उन्होंने निस्सकोच उत्तर दिया, 'उस वक्त कौमी जहनियत मेरे अन्दर पुख्ता शक्ल अख्तियार कर चुकी थी। मैंने अपनी मादरी जबान को बेकसी की हालत में पडा हुआ देखा। मेरे जमीर ने मुझे मलामत की कि मै अपनी मादरी जबान को छोड़कर ग़ैर जबानो की ख़िदमत करूँ। और मुझे गुजिश्ता तारीख़ी वाक़यात ने यह बतला दिया कि मौजूदा पसमन्दा काश्मीरी जबान ने आज से सदहा साल पेश्तर बड़े-बड़े अहले कमाल पेश किये। मगर आज इस जबान से न सिर्फ़ ग़ैरो को नफ़रत बल्कि खुद अहले काश्मीर इससे नफरत करते है। और मैंने अहद किया कि मै अपनी मादरी जबान की ही ख़िदमत करूंगा और इसे फिर जिन्दा ज़बान बना दूंगा। मैंने काश्मीर के गुज़िश्ता शायर रसूल

मीर और हब्बाख़ातून मल्का काश्मीर की तर्ज पर ग़जलें लिखनी शुरू कीं और मैंने देखा कि थोडे ही दिनो में मेरी ग़जलें मकबूले श्राम हो गई।'

इसमें सन्देह नही कि महजूर काश्मीरी जनता के कवि है और हब्बाख़ातून और लल्लेश्वरी के ही समान लोकप्रिय है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने सन् १९३४ के लगभग 'मॉडर्न रिव्यू' (Modern Review) में महजूर के विषय में पहले-पहल लिखा। इसके पश्चात् बलराज साहनी ने अंग्रेजी की विश्वभारती पत्रिका (नवम्बर १९३८-जनवरी १९३९) में महजूर का एक रेखाचित्र लिखा, जिसमें कवि की लोक-प्रियता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उन्होने कहा—

"यदि महजूर आज एक कविता लिखते है, तो वह एक पखवारे के अन्दर ही सर्वसाधारण की ज़बान पर होती है। बालक स्कूल जाते हुए, युवतियां धान कूटते हुए, माझी डोंगा खेते हुए, मजदूर अपने अविराम श्रम में लगे हुए—सब-के-सब उस कविता को गाने लगते है। एक अशिक्षित देश में, जहां ऐसी चीजों को छपाकर यदि बेचा जाय तो दस प्रतियो से अधिक न बिकें, उनकी कविता को विस्तारित करने की इस विधि को एक करिश्मा ही कह सकते है।"

इतनी लोक-प्रियता होने पर भी श्रीनगर के अभिजात वर्ग ने महजूर के काव्य को कोई महत्त्व नहीं दिया। एक प्रकार से जिसे काश्मीर की सुदूर अज्ञात घाटियों तक का एक-एक बालक जानता था, उससे फारसी और सस्कृत का विज्ञ-समाज एकदम अपरिचित था। काश्मीरी इतिहास के विद्वान् और श्रीनगर म्युनिसिपल बोर्ड के भूतपूर्व चेयरमैन पण्डित आनन्द कौल बामज़ई ने महजूर की प्रथम कविता पोशे मति जानानो (ऐ मेरे फूल-मस्त प्रियतम) का अंग्रेज़ी मे अनुवाद किया और वह अनुवाद अंग्रेज़ी की 'विश्वभारती' पत्रिका में छपा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसकी प्रशंसा करते हुए महजूर को लिखा कि मैंने आपकी कविता देखी। मेरे विचार और आपके विचार मिलते-जुलते है। यदि आप अंग्रेज़ी या बँगला जानते होते तो मैं सन्देह करता कि आपने मेरे विचार ले लिये है। मै आपकी कविता से बहुत प्रसन्न हूँ। और जब महजूर की एक दूसरी नज़्म 'ग्रीसकूर' (किसान-कन्या) का अनुवाद पढ़कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा कि 'महजूर काश्मीर का वर्डस्वर्थ है' तब काश्मीर के भद्र-समाज के कानों में भी उनके नाम की भनक पड़ी और श्रीनगर के एक कवि-सम्मेलन में महजूर को प्रथम बार निमंत्रित किया गया। वहाँ उन्होने विनयपूर्वक कहा कि बँगला के टैगोर की यह महानता है कि उन्होंने एक शब्द कहकर मेरे वतन के लोगो को मेरे अस्तित्व का भान करा दिया।

महजूर ने अपनी काश्मीरी रचनाओं के दस-बारह भाग 'कलामे महजूर' के नाम से-फ़ारसी और देवनागरी-दोनो लिपियो में प्रकाशित किये है। उन्होंने उर्दू में

प्रारम्भ से लेकर अब तक के कवियों का इतिहास 'तवारीखे शुअराए काश्मीर' भी लिखा है। यह ग्रन्थ लगभग ३,००० पृष्ठो का है, आठ सौ वर्षों का इतिहास है। सभी हिन्दू-मुस्लिम कवियो की जीवनी, उनका कलाम, उन पर तनकीद आदि इसमे दी गई है। डा० इकबाल ने भी इसके कई भाग देखे थे। अभी तक यह ग्रन्थ अप्रकाशित पड़ा है। महजूर ने ही काश्मीरी-भाषा में 'गाश' (रोशनी) नाम से सब से पहला अखबार निकाला जो एक साल तक चला। उसकी १,५०० प्रतियाँ छपती थीं, परन्तु कागज के अभाव से उसे बन्द करना पड़ा।

महजूर की कविता के कलागत सौन्दर्य के विषय में कोई निश्चित मत प्रकट करना मेरे लिए अनधिकार चेष्टा होगी। कविता का सफल अनुवाद संभव नहीं होता, कम-से-कम मूल भाषा की शब्द-ध्वनि, पद-विन्यास, लय-संगीत से जो रस-सृष्टि होती है और उससे काव्यार्थ को एक नैसर्गिक आभा और व्याप्ति मिल जाती है— अनुवाद में वे सूक्ष्म प्रभाव अक्षुण्ण नहीं रखे जा सकते। केवल काव्य की वस्तु ही ग्राह्य हो पाती है और चित्र-कल्पनाओ का थोडा-सा अनुवाद मिल जाता है। अतः उसका संविधायक दृष्टि से ही विवेचन किया जा सकता है। मैंने मूल मे भी महजूर, आजाद और मिर्जाबेग की कविताएँ सुनी है और उनसे इतना अनुमान तो अवश्य लगाया है कि इन तीनों कवियो ने मधुर संगीत की सृष्टि की है, उनके शब्द कोमल काव्योचित-ध्वनि के है। काश्मीरी भाषा-साहित्य के मर्मज्ञों का कथन है कि महजूर की अपेक्षा उनके शिष्य आजाद की कविताओ में अधिक परिमार्जन है। उनमें काव्य-सौष्ठव भी अधिक है और विचार-वस्तु तो कही ज्यादा पुष्ट-सचेतन, आधुनिक और क्रान्तिकारी है। महजूर पुराने ढर्रे के उस्ताद है, उनकी शायरी प्रधानत. प्रेम और रोमांस की शायरी है। वे गजल-गो है और 'गुलो बुलबुल' तक ही अपने को सीमित रखते है, यद्यपि इधर कुछ राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखने लगे है, परन्तु यह उनका क्षेत्र नहीं है।

वस्तुतः मै इस प्रकार की क्षेत्र-सीमाएँ खींचना समीचीन नहीं समझता। अनुवादों से महजूर और आजाद के काव्य की आत्मा का जितना कुछ परिचय मै पा सका हूँ उससे इतना तो निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उक्त मत अत्यन्त एकागी और सकीर्ण है। महजूर के काव्य में गहरी स्वातन्त्र्य-भावना है जो उनकी प्रेम और रोमास की अभिव्यक्ति में भी सर्वत्र व्याप्त है। काश्मीर की जनता अपढ-अशिक्षित, सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी और मध्ययुगीन नैतिक भावनाओ और अन्धविश्वासो में आकण्ठ डूबी है। केवल श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव, बारामूला अथवा इतर स्थानो पर ही आधुनिक सभ्यता-सस्कृति के साधन-उपकरण उसे देखने-सुनने को मिलते है। कबीर और रवीन्द्रनाथ के विभिन्न युग काश्मीर में समकालीन अस्तित्व रखते है। और

एक-दूसरे के पड़ोसी है। यह अभिसन्धि किसी भी कवि या लेखक में विभ्रम उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। कवि तीन दृष्टियो से इस वैषम्य को अपनी चेतना मे ग्रहण कर सकता है और उससे तीन प्रकार की काव्य-परम्पराओं का सूत्रपात हो सकता है। ऐसा हुआ भी है। उदाहरण के लिए मिर्जा बेग एक राजमन्त्री के भाई है, सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न व्यक्ति है। उस अभिजात वर्ग में पले है जो अवकाशभोगी है, जिसे सैर-सपाटे, आमोद-प्रमोद, नाच-रङ्ग, ऐश-आराम की सुविधाएँ प्राप्त है। उनकी दृष्टि में श्रीनगर की आधुनिकता काश्मीरी-जीवन का वस्तु-सत्य है, और सब हेच और निकृष्ट है। अतः उनकी कविता दुर्बोध और जटिल होती है, चित्र-कल्पनाएँ दुरूह, भाव-सकेत अव्यक्त, विषय-वस्तु नगण्य पर अभिव्यञ्जना अत्यन्त आधुनिक और वैचित्र्यपूर्ण होती है। मोमबत्ती की लौ की पीली ज्योति, गुलेलाला की लालिमा, विजली की चमक आदि ऐसी अमूर्त्त-भाव-वस्तु को चित्राकित करने के लिए वे छन्दो मे नये-नये प्रयोग करते है और अब मुक्त छन्द मे भी रचना करने लगे है। एक शब्द में आधुनिक जीवन की उत्तेजना, व्यर्थता और नूतन-प्रियता इन कविताओ मे प्रतिबिम्बित है। यही उनका गुण और वैशिष्ट्य है। वे जिस सौन्दर्य की सृष्टि करती है, वह अभिनव परन्तु अमूर्त्त है, और अत्यन्त सीमित वर्ग का ही राग-रञ्जन कर पाता है।

इसके विपरीत कवि आजाद अपनी रचनाओ द्वारा एक दूसरे प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करते है। आजाद एक स्कूल के मास्टर है, यद्यपि स्वयं ग़रीब है, पर शिक्षा-विभाग में होने के कारण साधारण पढ़े-लिखो के बीच मे उन्हे रहना पड़ा है। यह वर्ग नौकरीपेशा है और अपनी स्थिति से संतुष्ट नही है। नयी जाग्रति भी उसमें फैल चुकी है। कम-से-कम आजाद जैसे सवेदनशील व्यक्ति तो अपने जीवन की विडम्बना के कारणों से अवगत हो चुके है। उनकी दृष्टि मे इस निम्न मध्यम वर्ग की आधुनिक वर्ग-चेतना ही काश्मीर के जन-जन की चेतना है। यही काश्मीरी जीवन का वस्तु-सत्य है। अतः उनकी कविता में उर्दू के कवि मजाज और अलीसरदार जाफरी की-सी तीव्र मध्यमवर्गी, क्रान्ति-भावना है। वे अपनी कविताओ मे काश्मीर के भिखमगो, दवादारू की तलाश मे बीमार बच्चे को गोद में लेकर निकली ग़रीब औरत आदि के अभिशप्त जीवन के चित्र देते है। इन मूक प्राणियों में वे अपनी क्रान्ति-चेतना प्रक्षेपित करके उनको वाचाल बना देते है और फिर ये अभिशप्त प्राणी वर्ग-सत्यो, वर्ग नैतिकता पर इतने सहज भाव से तीखे कटाक्ष करते चलते है, मानो फटे-पुराने चिथड़े लपेटे किसी मार्मिक आघात से भावावेश में भरा कार्ल मार्क्स सड़क पर अपने उद्‌गार व्यक्त करता फिर रहा हो। आजाद का 'झरना' भी इन वर्ग-सत्यो की मीमांसा करता हुआ आगे बढ़ता है और ऊँच-नीच, मेंड-मुडेर को देखकर गुस्से से पागल हो उठता है और

'समानता की खोज में निरन्तर जी-तोड गति से बढ़ता जाता है। ये कविताएँ निम्न मध्यम वर्ग के शिक्षित समुदाय की मुक्ति-कामना को जगाती है और काश्मीर की दीनहीन जनता के प्रति व्यापक बौद्धिक सहानुभूति की अभिव्यक्ति करती है। उनमें काव्य-तत्त्व चाहे कम हो, परन्तु उनमे इस समुदाय के निर्व्यक्त भाव व्यक्त हो उठे है, उसकी चेतना को वाणी और प्रसार मिला है। आज़ाद की कविता की यही शक्ति है। वह आधुनिक और प्रगतिवादी है, परन्तु काश्मीर की ६० फीसदी अशिक्षित अचेतन जनता के राग-तन्त्र इससे झंकृत नहीं हो पाते; क्योकि उसकी नयी उपमाएँ, नये रूपक, नये भाव-सकेत उनके लिए अगम्य हैं। यही कारण है कि जनता की श्रुति-परम्परा आज़ाद की प्रत्येक कविता को ग्रहण नहीं कर पाती। फिर भी मिर्जा बेग की अपेक्षा आज़ाद अधिक लोक-प्रिय है। उनकी कई नज़्में जनसाधारण में प्रचलित हो गयी है।

महजूर की कला इन दोनो कवियों से भिन्न है। उनका अधिकांश जीवन किसानों के बीच गुज़रा है। वे काश्मीर के बनो और घाटियो मे घूमे है। इन लोगों के हर्षोल्लास, वेदना-व्यथा, आशा-निराशा का उन्होने निकट से अनुभव किया है, उनकी सुप्त चेतना में जीवनाकांक्षा, आत्म-विश्वास, मुक्ति-कामना, उन्नति-विकास की आशा के कणो को जीवन की सर्वग्राही विडम्बनाओ की राख में मुख दबाये पड़ा पाया है। इस वस्तु-सत्य की दृष्टि से ही महजूर ने नगर के आधुनिक जीवन को देखा है और उनमें यह अनुभूति जगी है कि यदि ये रेडियो-सिनेमा, मोटर-सडकें, नृत्य-संगीत, अख़बार-पुस्तकें काश्मीर के सर्वजनो को सुलभ हो जायें तो काश्मीर की जनता की जातीय प्रतिभा समूचे पूरब को बेदार कर सकती है। उसे बुलबुल के मज़हब का संदेश दे सकती है। परन्तु सामाजिक-राजनीतिक प्रतिबन्धों और वर्जनाओ में जकड़ी-डूबी जनता बिना आज़ाद हुए अपनी प्रतिभा का विकास कैसे कर सकती है, कैसे आधुनिक बन सकती है, यह प्रश्न उनके सम्मुख बारबार उठा और महजूर ने इस जनता को पहले बेदार करने के लिए उसकी वर्तमान भाव-चेतना को ही अपनी कविता का माध्यम और वाहक बनाया है। इस भाव-चेतना को वे कुरेदते है; मुक्ति कामना के अनेक कण अग्निस्फुल्लिग से चमक उठते है और पास के बुझे सुप्त कणो में ज्योति जगा देते है। और महजूर एक कुशल कलाकार की अँगुलियो से इन उद्भासित कणों को सँजोकर भावी जीवन की नयी-नयी भव्य आकृतियाँ बनाते जाते है। जनता के लिए उस में कुछ अग्राह्य नहीं रहता, उसके अपने मूकभाव मुखर हो उठते है और उसकी श्रुति-परम्परा मे नये जीवन की कल्पनाओ के ये गीत परम्परागत गीतो के साथ स्थान ले लेते है। महजूर अपनी कविता मे नये भाव-सौन्दर्य की सृष्टि के लिए अधिकतर उन्हीं उपमाओ और उपमानो, रूपकों और पौराणिक कथाओ, कवि प्रसिद्धियो और कल्पना-चित्रों

का प्रयोग करते है जो श्रुति-परम्परा और अनुभव के द्वारा अपढ अशिक्षित जनता के मानस मे ग्राह्य हो चुकी है, उसकी चेतना का सस्कार बन चुकी है; अतः उसके मन में तुरन्त रस की सृष्टि करती है।

महजूर की कविता लाक्षणिक होती है। वे हमेशा एक नया बाग लगाने की बात करते है जिसमे बुलबुल को ताजदारी हासिल हो, उसी के मजहब की पैरवी हो, जहाँ गुलेलाला सिपन्द लगाते हो, मसवक्त शबनम की शराब प्यालियों में उँडेलता हो, सूरजमुखी सोने की अशरफियो के थाल भरती हो; भौंरा नरगिस के फूल पर मस्त होकर मँडराता हो, पोशिनूल (वसन्त का मधुर भाषी पक्षी) मीठा सगीत सुनाता हो, कँटीली अरखल की झाड़ी मे भी देवदार के पैवन्द लगते हों, बेद चन्दन की तरह आयुष्मान होता हो, जहाँ बाग के गुलेल-अन्दाजो ने वारिल को मारभ गाया हो या वारिल स्वय जिस गुलशन मे बुलबुलो के आधीन रहते हो, शाहबाज ड्योढ़ीवानी करते हो, चीले मास खाना छोडकर परहेजगार बन गई हो—ऐसा गुलशन जहाँ गुलेलाला और सदाबहार और श्यामसुन्दरी के फूल अपनी सौन्दर्य छटा और सौरभ बिखेरते हो, सूरज की किरणें पहाड़ की ऊँची चोटियो को जगमगाती हो। महजूर आने वाले काल में काश्मीर को ऐसा ही गुलशन बनाना चाहते है। प्रकृति के मुक्ति-उल्लास के ऐसे चित्र जनता के लिए अनुभूत है, अतः जब महजूर नये काश्मीर या भावी जीवन की चित्र-कल्पनाओ मे इसे पिरो देते है तो जनता को यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति सहज ही ग्राह्य होती है। वह अपने जीवन से उसकी सगति बैठा लेती है कि वास्तविक जीवन मे कौन पोशिनूल और बुलबुल है, कौन वारिल और शहबाज है और नये काश्मीर मे पुराने समाज-सम्बन्ध कैसे उलट जायेगे। महजूर की ग्रीसकूर (किसान-कन्या) देहात के सुदूर प्रदेशो में भी गायी जाती है। कवि ने ग्रीसकूर को सम्बोधित करके कहा है, "ऐ ही-माल सी सुन्दर किसान कन्या, तू चश्मो के सब्जाजार पर लगाई तुलसी की तरह है, फटे-पुराने कपड़ो में भी तू ऐसी दिखाई देती है जैसे बादल के फटे हुए टुकडो के बीच चाँद नजर आता है। तू गिरि-पथ पर गाती हुई निकलती है, परियाँ तेरे गीत की तारीफ करती है, तेरे सौन्दर्य में बनावट नहीं है; तू बनो, गिरि-निर्झरो की सैर करती, हँसती हुई बागो के बीच से गुजरती है; कहीं फूलो ने तेरे कान तो नहीं भर दिये? ख्वाजा-जादियाँ तेरा क्या मुकाबला करेंगी! तू फूलो के साथ उठती-बैठती है, ख्वाजा-जादियाँ खिड़कियाँ और दरवाजे बन्द करके पडी रहती है। तेरी आँखे शर्मो-हया के पानी से भरी है, तुझ में गैरत और खुद्दारी की जलावरी है। फिर भी तेरी पसीने से भीगी भौंहे तलवार का काम करती है और हर देखने वाले का दिल मोह सकती है। लेकिन ऐ शराब की मटकी, देखना तेरे होशोहवाश खराब न हो जायँ, दूसरो को देखकर ऐयाशी की ख्वाहिश और आलस्य न पैदा हो जाय,

ऐ खूबसूरत किसान की लड़की, मैंने तुझे एक खेत मे बाजू चढ़ाए गूड़ी करते देखा है। तू वहाँ भी लोलरी की तरह लो लो करती हुई गा रही थी, श्रम से तेरी बाहें तो नहीं थक गईं ?" इस एक कविता ने काश्मीर की किसान-कन्याओं में आत्म-गौरव की गरिमा भर दी है, यह अपनी अस्तित्व-चेतना का प्रथम आधार चरण है। वे इसे गाती हैं और अपनी हस्ती का अनुभव उनमे एक मस्ती भर देता है। इतनी व्यापक सहानुभूति से किसी कवि ने इन किसान-कन्याओ के व्यक्तित्व की प्रकृत सौन्दर्य प्रतिमा अंकित नही की। महजूर की काशिर जनानु (काश्मीरी औरत) एक दूसरी प्रसिद्ध कविता है। समूची काश्मीर घाटी में औरतें अकेले और मिलकर उसे गाती हैं। उस कविता में उनकी आत्म-वेदना को वाणी मिल गई है। एक काश्मीरी औरत अपनी सखी से कहती है, 'ऐ सखी, भाग्य की विडम्बना को क्या करूँ ? मेरे जोबन के देवता को मेरी मुहब्बत नहीं; जोबन के देवता, उस बेपरवाह को मेरी मुहब्बत नहीं।' और फिर उसकी करुण व्यथा आत्म-कथा मे फूट निकलती है। बिना किसी की चाह और खोज के उसने जन्म लिया था, घर मे उस दिन उदासी छा गई थी। उस पर तरस खाकर उसे पाला गया, कुदरत ने उसे परवान चढ़ाया, माँ-बाप के हाथों तो सख्तियाँ और सदमे ही झेलने पड़े। घर में सिर्फ मा ही उसकी हमदर्द थी और वह यही सीख देती रही कि खाना पकाना सीख और बावर्चिन बन, और इस तरह वह कस्बो-हुनर सीखने से दूर रही। उसमें यौवन आया, इस पूंजी को उसने शर्म के सायबान और सब्र की फसील के भीतर महफूज रखा। चोरों को पास नहीं फटकने दिया। उसमें मुहब्बत की उमगें उठने लगीं और वह अपने राजा इन्द्र (कल्पित प्रेमी) के लिए इन्द्र (चरखा) का साज बजाकर मुहब्बत के नग़मे गुनगुनाने लगी। लेकिन उसका राजा इन्द्र नहीं आया, किसी पराये के हाथ में वह बख्शीस की तरह दे दी गई। घर वालों ने उसकी राय तक न पूछी। यह भी उसने मजूर कर लिया, झगड़ा नहीं किया। फिर भी जोबन के देवता को उसकी मुहब्बत नहीं। क्या वह नहीं जानती कि उसने ही इस फ़ानी सराय को शोभा दी है, उसके ही गर्भ से वली और देवता पैदा हुए है। जब उसने क़याम किया तब यह देश बसा। लेकिन हर तरह के दुख-दर्द वह सहती आई है और अब प्रेम को गोद में लिये फिरती है और चाहती है कि महजूर की तरह उसे पुकारे . 'मेरे जोबन के देवता, तुझे मुझ से प्यार क्यो नहीं ?' इस कविता में उपालम्भ नही है, बल्कि विदग्ध हृदय से निकला गहरा प्रतिवाद और मुक्ति-कामना है। इसमें काश्मीर की नारी प्रथम बार अपने जीवन के वैषम्य के प्रति सचेत हुई है और उसकी गहन व्यथा ने अभिव्यक्ति पाई है। महजूर काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि करते है पर साथ ही उसमें कला के माध्यम से नये जीवन का सन्देश भी पिरो देते है। उनकी कविता में

कबीर और रवीन्द्रनाथ, दोनो का समन्वित रूप हमें मिलता है और काश्मीर की वस्तुस्थिति की विषम अभिसन्धि को छाँटने के लिए यह शैली मुझे आज़ाद की शैली से अधिक तुष्ट और उपयुक्त लगी। इस से वे नये जीवन की आकांक्षा को जन-जन की स्वानुभूत आकाक्षा बनाने में सफल होते है।

महजूर की एक नज्म नेशनल-कान्फ्रेन्स ने काश्मीर के राष्ट्रगान के रूप में अपनायी है। उसकी शैली भी यही है। महजूर प्राचीन इतिहास, सस्कृति और काव्य-परम्परा के ज्ञान के साथ अपनी कविता मे नयी चेतना, नये दृष्टिकोण का समावेश करते है और इससे उनकी कविता में जो क्लासिकल व्यापकत्व, सरलता और माधुर्य आ जाता है वह आज़ाद अथवा मिर्ज़ा बेग की कविता मे दुर्लभ है।

नेशनल-कान्फ्रेन्स ने 'नये काश्मीर' की योजना मे काश्मीरी को शिक्षा का माध्यम बनाने का सिद्धान्त स्वीकार किया है। महजूर और आज़ाद इस स्वप्न को बहुत दिनो से देखते आये है। परन्तु इस स्वप्न के प्रतिफलित होने के मार्ग में अभी दुर्गम कठिनाइयाँ है। काश्मीरी मे गद्य साहित्य नही के बराबर है, और इस ओर अभी कोई प्रयत्न भी नही हो रहा। लिपि का प्रश्न भी जटिल है। इस सम्बन्ध मे वहाँ की परिस्थिति देखकर मेरा यह सुझाव था कि फ़ारसी लिपि में ही आवश्यक सुधार करके, काश्मीरी की विशेष ध्वनियो के लिए नये चिन्ह अथवा अक्षर बनाकर काश्मीरी की लिपि तैयार की जाय और द्वारकाप्रसाद दर, महजूर, प्रो० पुष्प आदि मित्रों ने इस सुझाव के अनुसार कार्य करना भी प्रारम्भ कर दिया है। काश्मीरी-साहित्य की उन्नति के लिए एक अजुमन की ज़रूरत भी वे लोग महसूस करते है। इसमें सन्देह नहीं कि जब जनता के हाथ में वहाँ के शासन की बागडोर आयगी उस समय काश्मीरी अपने यहाँ के राजकाज और साहित्य की भाषा बनेगी, और हिन्दी-उर्दू के झगड़े का कोई मूल्य न रहेगा।

—अक्तूबर १९४५

१४

नयी काश्मीरी कविता

काश्मीर के इतिहास में २२ अक्तूबर, १९४७, दो विरोधी कारणो से स्मरणीय रहेगा। एक तो, उस दिन काश्मीरी जनता और उसकी आजादी की तहरीक पर पाकिस्तान की ओर से बर्बर साम्राजी हमला हुआ, जिसकी मिसाल यहाँ के सहस्रों वर्ष पुराने इतिहास में नही मिलती, दूसरे, उस दिन आततायियो के विरुद्ध यहाँ की संघर्षशील जनता की एकता और नफरत के बीच काश्मीर के सांस्कृतिक नवजागरण ने एक ऐसा संगठित रूप धारण किया जो अभूतपूर्व था।

यह एक कटु सत्य है कि गुलाम देशो में साम्राज्यवाद का रूप सर्वत्र एक-सा ही होता है। अतः काश्मीरी जनता ने भी उसका कोई दूसरा रूप नहीं देखा। वही अन्याय, दमन, शोषण, उत्पीड़न, फूट-कलह, जहालत, अशिक्षा, दुःख-दैन्य, भूख, महामारी, अकाल—काश्मीरी जनता को भी गुलामी की यह नियामते ही पल्ले पड़ती आईं। शिक्षा-सस्कृति, ज्ञान-विज्ञान के द्वार उसके लिए सदा बन्द ही रहे। उसे भी अपने इतिहास की जीवन्त परम्पराओ और वर्तमान जीवन के विकराल सत्य की चेतना से वचित रखा गया, और काश्मीरी भाषा और साहित्य को पनपने का कोई अवसर नहीं दिया गया। सदियो से उसके असह्य जीवन में निविड अन्धकार ही छाया रहा।

और यह भी एक सत्य है कि गुलाम देशो में जनता के साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-विरोधी राष्ट्रीय संघर्ष के साथ ही साथ सास्कृतिक नवजागरण का भी सूत्रपात होता है, जो धीरे-धीरे इस निविड़ अधकार को चीरकर जन-जन तक नवचेतना की जीवनदायी किरणें ले जाता है; जनता को अपनी दुर्दशा के कारणो से अवगत कराता है और उसकी दबी पडी, अव्यक्त अभिलाषाओ और आकाक्षाओ को मूर्त्त, सचेत अभिव्यक्ति देकर उसे अपनी मुक्ति के सघर्ष-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा और मनोबल प्रदान करता है। आजादी की तहरीक के समान हा, यह सांस्कृतिक नवजागरण भी दुर्दमनीय होता है, क्योकि उसके मूल में न्याय और सत्य की सजग मानववादी भावना होती है।

काश्मीर भी इसका अपवाद नहीं रहा, और बीस वर्ष पहले काश्मीरी जनता जब पहली बार संगठित रूप से राष्ट्रीय सघर्ष के मैदान मे उतरी तो उसने सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत कवियो के रूप में 'महजूर' और उनके बाद 'आजाद', 'आरिफ'

श्रौर 'नादिम' को अपने ही बीच से उठकर आजादी के ऐसे उत्प्रेरक तराने गाते हुए पाया, जो इस समय तक अनुश्रुत श्रौर अकल्पनीय थे। इस सांस्कृतिक नवोन्मेष का सविस्तार विवेचन मैं 'काश्मीरी भाषा, साहित्य श्रौर कवि महजूर' शीर्षक निबन्ध में पाँच वर्ष पहले ही कर चुका हूँ। काश्मीर में सास्कृतिक नवजागरण का यह प्रथम चरण था, त्वरित श्रौर असगठित, जिसे आक्रमण के आघात ने सगठित होने की सहज प्रेरणा देकर आज एक प्रबल सास्कृतिक आन्दोलन बना दिया है।

आक्रमण के प्रारंभिक दिनों में ही जब मैं भारतीय लेखको के डेलीगेशन के साथ यहाँ पहुँचा तो मुझे एक अपूर्व दृश्य देखने को मिला। जैसे यहाँ के जन-जीवन की एकान्तिक निश्चितता एक ही आघात से टूट चुकी थी श्रौर बन्द चश्मे फूट निकले थे। जनता के उत्साह का वारापार न था। कौम की हिफाज़त के लिए देशभक्ति का सागर उमड़ पड़ा था। मज़हबोमिल्लत, हिन्दू-मुसलमान श्रौर अपने-पराये के भेदभाव की संकीर्ण दीवारें टूट चुकी थीं। आम लोगो की गुफ़्तगू के अंदाज़ मे निश्छल सौहार्द्र श्रौर बड़प्पन का भाव था श्रौर हमलावरो श्रौर देशद्रोहियों के प्रति उतना ही ती मानवीय क्रोध श्रौर घृणा का भाव था। लोग साहस श्रौर स्वाभिमान से मस्तक ऊँचा करके सगर्व चलते-फिरते थे। इंसान अपने दैनिक जीवन की व्यक्तिगत क्षुद्रताओं श्रौर विषमताओं से ऊपर उठकर मानो हिमालय के उत्तुंग शिखरो को अंक में भर लेने के लिए अपनी सुविशाल भुजाएँ फैला रहा हो। उन दिनों हिन्दुस्तान के विषाक्त वातावरण से निकलकर मुझे लगा कि मैं एक ऐसे खुले, व्यापक मैदान में आ गया था जहाँ इंसान-दोस्ती, एकता श्रौर भाईचारे की मलय पवन के शीतल झोंके मन की सारी कटुता-वेदना, तपन-पीडा को मिटाकर नया जीवन प्रदान कर रहे थे। उत्साह श्रौर स्फूर्ति से उद्वेलित इस वातावरण में देखा कि यहाँ के कवि, लेखक, अदाकार, फ़नकार श्रौर चित्रकार अपना 'कौमी कल्चरल महाज़' कायम करके संगठित हो गये हैं। वहाँ नयी ओजस्विनी कविताएँ सुनने को मिलीं। काश्मीर में पहली बार राजनीतिक नाटक खेलने की तैयारियाँ होते देखीं। उस समय से एक सहयोगी के रूप में काश्मीर के सांस्कृतिक आन्दोलन के साथ मेरा दिन-रात का सम्पर्क रहा है। इस घनिष्ठ परिचय के आधार पर ही मैंने कौमी कल्चरल काँग्रेस के अधिवेशन मे अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए कहा कि पिछले तीन वर्षों में काश्मीरी भाषा के कवियो ने जिस कोटि की प्रगतिशील कविता की है उस कोटि की श्रेष्ठ कविता भारत की किसी अन्य भाषा में शायद ही इस बीच हुई हो। यह एक बहुत बड़ा दावा है; कुल पन्द्रह लाख इन्सानों की यह कौम तादाद में बहुत छोटी है, श्रौर काश्मीरी भाषा के कवियो की संख्या भी तीस-पैंतीस से ज्यादा नहीं है। लेकिन फिर भी इस दावे में सच्चाई है। इस पर काश्मीरी कवियों को भी स्वाभाविक गर्व है।

निरन्तर के अभाव और कष्ट झेलकर भी, राष्ट्रीय सकट के इन सवा तीन वर्षों से काश्मीरी कवि, लेखक, गायक, अदाकार और चित्रकार एक नयी जनवादी संस्कृति का निर्माण करने और उसे आम जनता की सम्पत्ति बनाने के लिए संगठित रूप से जो रचनात्मक कार्य करते आये हैं उसका कुछ अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि प्रारभ में 'क़ौमी कल्चरल महाज़' और बाद में 'क़ौमी कल्चरल कांग्रेस' ने इस बीच जो तीस-बत्तीस मुशायरे किये है, उन्हे लगभग पचहत्तर हज़ार लोगों ने सुना है; जो दस-बारह नाटक शहर और देहात के कोने-कोने में घूमकर लगभग डेढ़ सौ बार खेले है, उनको ढाई-तीन लाख जनता ने देखा है; और कला-चित्रो की जो आठ-दस नुमायशें की है, उनको भी लगभग तीस हज़ार लोगो ने देखा है !

इन कविताओ, नाटको, गीतो और चित्रो ने हर जगह जनता को हँसाया और रुलाया है। उनमें अपने वर्तमान जीवन की हकीकतो को प्रतिबिम्बित देखकर सघन वेदना से दर्शको की आँखों को मैंने पुरनम होते देखा है; उनके चेहरों को क्रोध और घृणा से तमतमाते देखा है, और भावना के इस ज्वार की थपेड़ो के बीच मैंने उनके हृदय की अतल गहराइयो में एक नये सत्य को जन्म लेते देखा है, जिसका स्पन्दन अनुभव करके आशा और सकल्प से उनकी आँखें चमक उठी है और मुर्झाये चेहरे खिलकर कान्तिमान हो गये है। यह जीवन और मनुष्य का सत्य है। मनुष्य के अन्दर निहित उसकी युगान्तरकारी महान् शक्ति की चेतना का सत्य है; यह देश-देश की शोषित, निपीड़ित श्रमजीवी जनता की आज़ादी, परस्पर दोस्ती और एकता की भावना का सत्य है; यह गुलामी, अन्याय, शोषण और जंग के विरुद्ध अविराम संघर्ष जारी रखने की आवश्यकता का सत्य है; और यह काश्मीर के हर इन्सान के लिए समान-साधन-सुविधा से सम्पन्न एक भरपूर, आज़ाद, सुसस्कृत, सुखमय जीवन की प्राप्ति के लिए वर्तमान सामंती पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को मिटा कर 'नया काश्मीर' की तामीर के दृढ़ सकल्प का सत्य है। इसी सत्य के बीज यहाँ के कवि, लेखक और कलाकार जन-जन के हृदयो में बोते आये है, और उनमें अपने दोस्त और दुश्मन की सही पहचान करने वाले विवेक को जगाते आये है ताकि मौक़ा पाकर दुश्मन काश्मीर को एक दूसरा कोरिया बनाकर उनके ऊपर एक नया जेनरल मेकार्थर न लाद दे और इस सुन्दर देश को तबाह और बर्बाद करके वीरान श्मशान न बना डाले। यही सत्य है जिसको कुचलने के लिए साम्राजी तीन वर्ष से काश्मीर का घेरा डालकर घात लगाये बैठे है, और झूठे प्रचार, धमकियो और साजिशो से जिसके पौधो को उखाड़ फेंककर जनता के हृदय मे फूट-कलह, निराशा, भय, साम्प्रदायिक द्वेष, जातीय वैमनस्य, अन्धविश्वास, भाग्यवाद जैसी मानव-द्रोही विषैली 'बिच्छू बूटियो' के बीज छितराते आये है। सत्य और असत्य, आज़ादी और

गुलामी की शक्तियों के इस संघर्ष में काश्मीरी कवि और कलाकार इस बीच एक क्षण के लिए भी चैन से नही बैठ सके है।

इस व्यापक पृष्ठभूमि को सामने रखकर ही महजूर, आरिफ़ नादिम, आसी, रोशन, आरिज़, अम्बरदार, बर्क, राही, जार, महेन्द्र, बहार आदि काश्मीरी कवियो की कृतियो का परिचय प्राप्त करना अर्थ रखता है, अन्यथा नहीं, क्योकि उन्होने जन-जीवन से एकात्म होकर जनता के लिए ही लिखा है, न कि 'स्वान्तः सुखाय' और आत्म-विलास के लिए। और यद्यपि इनमें से हरेक की रचनाओं का अपना व्यक्तिगत वैशिष्ट्य है, परन्तु उनकी भावना व्यक्तिवादी नहीं है। वस्तुतः उनके भाव-विचार-वस्तु सच्चे अर्थों में सामूहिक और जनवादी है।

'महजूर' एक सिद्धि-प्राप्त कवि है, उस्ताद है और आधुनिक काश्मीरी साहित्य के पितामह है। उनके कलाम में क्लासिकी, सादगी, मिठास और अर्थ गाम्भीर्य है। कुछ पढ़े-लिखे लोगो की दृष्टि में महजूर 'गुलोबुलबुल' के शायर है। यह एक भ्रामक और निराधार आरोप है। वस्तुतः महजूर के लिए काश्मीरी अवाम जैसे उनकी अपनी सन्तान है, जिन्हे वे सदा 'बुलबुल' और 'गुलेलाला' से उपमित करते आये है। उनके यहाँ 'बुलबुल' आजादी का गायक और 'बाग़वान' अर्थात् जन-नेता भी है। यह उनकी अपनी काव्य-परम्परा है और उनकी गज़लों को काश्मीरी धुनो में गाने वाले असख्य गायक और श्रोताओ के लिए यह लाक्षणिक पदावली पूरी तरह बोधगम्य है। काश्मीर में 'बुलबुल' किसान-मज़दूर की झोपडियों मे घोंसला बनाकर बारहो मास निवास करते है, उनके दुख-दर्द, हँसी-ख़ुशी, आशा-निराशा, प्रेम-उल्लास के सहभागी है, उनके बच्चों के साथ क्रीडा-कौतुक करते है और उन्हें ही अपने मधुर गीत सुनाते है—पोशिनूल और कस्तूर जैसे अभिजातवर्ग के परिन्दे नहीं है, जो केवल मौसमे बहार का आनन्द लूटने के लिए काश्मीर पहुँचते है और तब भी जिनका सगीत दुर्लभ और दूरागत होता है। 'गुलेलाला', वह जनता की ही तरह अमर और स्वयभू है, प्रतिवर्ष धान, सरसों, अलसी और गेहूँ के हरित-पीत-श्याम खेतो में जिनकी शोख लाली का तरंगित सागर एक अनुपम सौन्दर्य-छटा बिखरा देता है। बुलबुल और गुलेलाला की तरह जिनके हृदय सगीतमय और सहज-सुन्दर है, उन सरल भोलेभाले बालगोपाल काश्मीरी जनो को महजूर के हृदय की समस्त वात्सल्यपूर्ण ममता प्राप्त हुई है। महजूर अपनी कविताओं मे अपने शिशुवत् प्रिय-जनो के दुखी दिलो का वेदन सुनकर उन्हें ढाढस बँधाते है, उनके स्वाभिमान को जगाते है, उन्हे एकता का पाठ पढ़ाते है और आत्म-निर्भर बनकर आजादी के पथ पर अग्रसर होने का आदेश देते है कि 'ऐ बुलबुल ! तू अभी पिंजरे में क़ैद और नालां है, ख़ुद ही अपने को आज़ाद करने का सामान पैदा कर। अगर

फूलो की बस्ती फिर से बसाना चाहता है तो ज़ेरोबम (मतभेद) छोडकर "बादलों की गरज और तूफ़ानों का ज़ोर पैदा कर !'

आक्रमण के दिनों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में साम्प्रदायिक दंगो का ज़ोर था और दोनो ओर के प्रतिक्रियावादी काश्मीर में भी इस बर्बरता की आग भड़काने पर तुले थे। उस समय महजूर ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'मिलचारुक सबक़' (इत्तेहाद का सबक) में अपने इतिहास की मानववादी परम्पराओ की याद दिलाते हुए जनता को ताकीद की कि जिस तरह 'कुद गोजवारी' ने एक पंडित पर जान दी थी और 'सिरिज काक' ने एक मुसलमान को अपने बेटे के मानिंद पाला था, उसी तरह अपने दिलो को आपस में एक करके 'वतन' के 'दोस्त और दुश्मन' को पहचान लो। 'इत्तिफाक' कायम रखने से तुम्हे कोई 'ज़ेर' नहीं कर सकेगा, इसलिए ख़बरदार 'निफाक़' पैदा करके 'किसी को अपने ऊपर ग़ालिब न आने देना'—'भाई को भाई से रजीदा रहना' शोभा नहीं देता। 'इत्तेफाक का यह सबक़ महजूर ने दिया है, इसे याद रखना और आपस में एक दूसरे को सुनाना !' काश्मीरी जनता ने यह मानव-वादी सबक़ याद भी रखा और असंख्य कठो से गा-गाकर इसे एक दूसरे को सुनाया भी।

'तरानये मजदूर' में महजूर ने पहली बार आज़ादी के सघर्ष को मज़दूर किसानो के वर्ग-सघर्ष के साथ इतनी स्पष्टता से सम्बन्धित किया है। निरन्तर के जुल्मोतशद्दुद से पामाल और बदहाल मजदूरो को ग़फलत की नींद से जगाते हुए उन्होंने कहा कि 'उठ, नजर उठाकर देख कि सुबह हुई है और इन्कलाब का सूरज तुलू हो गया है; तेरा जला बाग फिर से खिल उठेगा—नयी बहार यही पैग़ाम लेकर आई है—"ऐ मजदूर किसानो ! उठो, आपस में मसाफा कर लो। अपना 'हक' हासिल करो, दुनियाँ की दौलत तुम्हारी है, दरख़्त तुम्हारे हैं, ज़मीन तुम्हारी है, राज तुम्हारा है, ताज तुम्हारा है। अब इन्साफ़ और सच्चाई का ज़ोर है, ज़ुल्म का दौर गुज़र रहा है, पुरानी दुनिया फना हो रही है, अब तुम 'नयी दुनिया' तैयार करो। मजहबे मिल्लत, जात-पाँत के भेद-भाव मिटा दो, क्योकि 'मजदूरो की क़ौम एक है।" पिछले तीन वर्षों के काश्मीरी काव्य में मजदूर-किसानो की वर्ग-चेतना को उभारने वाली ऐसी कविताओ की ही बहुलता है।

गुलाम देशो में स्थापित पूँजीवादी सामंती व्यवस्था की दुरगी नैतिकता, दुरंगे इन्साफ, शोषण-दोहन और जंगबाज साम्राजियो की तबाहकारियो का कच्चा चिट्ठा खोलते हुए महजूर ने जनता की मर्मान्तक वेदना के ऐहसास को अपनी कविता 'गुलेलाला' मे अत्यन्त मार्मिकता से व्यक्त किया है;

'लालो, लालो, हा गुलेलालो,' ऐ बाल गोपालो' तुम्हारे नाजुक कलेजे को

किस हादसे ने आज़ार पहुँचाया है ? क्या वहाँ भी इन्सान को मारने के लिए इन्सान हथियार बनाता है ? क्या वहाँ भी औरतो, मासूम बच्चो पर इन्सान बमबारी करते हैं ? क्या वहाँ भी चोर बाजार है, दुनियादार ही दीनदार करार दिये जाते हैं, बेज़र इन्सान बेज़बाँ और नादान है, और ज़रदार आकिल माना जाता है; क्या वहाँ भी ज़मींदार (किसान), काश्तकार और 'नानगार' है और बड़े-बड़े 'चकदार' हैं; काहिल ऐश करते है और कामगार फाके मरते हैं; सच बोलने वाले कैद में सडते है और चुगलखोर और चापलूस मोटरो पर सैर करते है। क्या वहाँ भी वक्त का इन्साफ चन्द लोगों का ताबेदार है, और ज़लील हो चुका है। क्या वहाँ भी महज़ूर (जैसा बुलन्दपाया शायर) तनहा, दूर बैठकर मुर्गियो को मोती चुगाता (रहता) है।

वर्तमान समाज के वैषम्य की पूरी तस्वीर आँखो के आगे साकार हो जाती है। इस सोजभरी कविता का चेतनाप्रद प्रभाव तो केवल सुनकर ही ग्रहण किया जा सकता है। महज़ूर की एक और कविता 'अलबइन' (हल) इस बीच अत्यन्त लोक-प्रिय हुई है। यह 'खेत की मिट्टी में से लाले-बदख़्शाँ खोद लेने वाले' किसान के प्यारे 'अलबेले हल' का गीत है।

आक्रमण के प्रारंभिक दिनो में प्रेमनाथ 'परदेसी' के उर्दू गीत 'कदम-कदम बढ़ेंगे हम, महाज़ पर लडेंगे हम' के साथ-साथ काश्मीरी भाषा के दूसरे बड़े शायर मिर्ज़ा 'आरिफ' के नये गीत 'सोन कारवाँ' (हमारा कारवाँ) को भी बच्चे, बूढ़े, जवान गली-कूचे में अपने आप गाते फिरते थे। यह गीत मिर्ज़ा आरिफ़ की अमूर्त्त, बुद्धि-तत्त्व-प्रधान दुरूह काव्य-शैली मे दिशा-परिवर्तन का संग-मील है। इसके पश्चात् की सरल, भावपूर्ण कविताओ मे सहज ओज और मूर्त्तिमत्ता है, जिससे उनमें एक नया निखार और व्यापकत्व पैदा हो गया है। इस बीच मिर्ज़ा आरिफ़ की अनेक कविताएँ लोक-प्रिय हुई है उनमें से एक कविता 'हरम के क़ाबिल ही समझी जाने वाली', 'हमेशा से सुस्त कदम' काश्मीर की उस औरत का 'जंगी तराना' है जो कौम पर छाये सकट के समय रण-चण्डिका की तरह हुंकार भरकर निकल पडी थी कि 'जिनको मेरे ख़्वाब आते है, मै उनके ख़ून से मेंहदी रचाऊँगी !' एक कविता 'इन्क़लाबन अन इन्कलाब' है जिसमे 'ज़ुल्म को ख़त्म करना ही सबसे बडा सवाब है, इसलिए इन्कलाब पैदा कर, इन्कलाब पैदा कर' का गर्जन है। एक कविता 'म्यानि मिसकीनो' है जिसमें अपने ग़रीब और पसमन्दा किसान-मज़दूर रफीकों के 'जिस्म पर लगे घावो' को देखकर 'आरिफ़' मानवीय सहानुभूति और करुणा से भर जाते है और उन्हें संघर्ष-पथ दिखाकर प्रेरित करते है कि 'तू जिस तरह ज़मीन का सीना चीरता है उसी तरह ज़ुल्म का सीना भी चीर··· ऐ मेरे ग़रीब दोस्त, हथौड़ा उठा और आसमान का ख़म सीधा कर !'

एक और नज़्म है जिसमें उन्होंने सवाल पूछा है कि जो 'मुहब्बत को रुसवा' करके बाजारो मे अस्मत की दुकानों पर शर्मोहया के मोती तोड डालते है, फितनों और फरेबों को उसूलो का नाम देकर गरीबों को मारते है; दीवारो पर मज़लूम के ख़ून का रोगन करके शीशमहलों में बैठकर इन्सान के लहू को शराब के मानिन्द नोश करते है—क्या यही इन्सान ज़मीनो और आसमानों में अशरफ़ुल-मख़लूकात (सब जीवो मे श्रेष्ठ) है ?' 'आरिफ़' को यह झूठ और फरेब मंज़ूर नहीं है और वह उस 'नये कारवाँ' के साथ है जो इन्सानियत का 'नया झडा, 'नया वलवला' और 'नया नूर' लिये आगे बढ़ रहा है और जो सही मानी में 'अशरफ़ुल-मख़लूकात इन्सानो' का 'कारवाँ' है ! बानहाल की चोटी पर किसी सामान ढोने वाले अज्ञात मजदूर की कब्र को देखकर लिखी गयी मिर्ज़ा 'आरिफ़' की एक पुरानी मार्मिक कविता 'बानहाज बाल, (बानहाल की भेंट) और शालवाफ़ो के जीवन की क्रूर विडम्बना को व्यक्त करने वाली चुभती कविता 'दुस्सा' भी इस बीच काफी लोक-प्रिय हुई है।

दीनानाथ 'नादिम' इस नये दौर के सबसे सचेत और ओजस्वी कवि है, और यद्यपि उनकी कविता में कभी-कभी वह कसाव और संगठन नहीं होता जो साधारणतया महजूर की कविता में पाया जाता है, और पुनरावृत्ति-दोष के साथ-साथ उनके वर्णन अक्सर प्रगल्भ, अतिरंजित और अलंकारिक हो जाते है, जिससे प्रभाव केन्द्रीभूत न हो पाकर बिखर जाता है, फिर भी नादिम की प्रतिभा 'जोश' मलीहाबादी की तरह अत्यन्त प्रखर और शक्तिशाली है। कह सकते है कि नादिम के रूप में काश्मीरी भाषा के 'शायरे इन्कलाब' का नवोन्मेष और विकास हो रहा है। उनकी वाणी में जो ओज और दर्प है, वह काश्मीरी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है।

नादिम ने काश्मीरी काव्य में अनेक नये प्रयोग भी किये है। उन्होने परंपरा से हटकर अतुकान्त छन्दो का प्रयोग किया है और मुक्त-छन्द कविताएँ भी लिखी है, और बराबर वज़न और प्रास से युक्त शब्दो की अटूट समताल से चमत्कार और ओज की सृष्टि करने वाली ध्वनि-प्रधान पर सार्थक कविताएँ भी लिखी है और गीति-नाट्य भी रचे है। ये प्रयोग नये है और एक पिछड़े देश में अपने समय से पहले ही किये गये-से लगते है, क्योकि यद्यपि कौमी कल्चरल काँग्रेस ने पिछले वर्ष से काश्मीरी भाषा में 'कोगपोश' (केसर का फूल) नाम से एक मासिक-पत्र प्रकाशित करना शुरू कर दिया है और यथावसर नयी कविताओं के संकलन भी छापे है, लेकिन ६५ फ़ीसदी अपढ़-अशिक्षित जनता में तो आज भी श्रुति-परम्परा ही काव्य और सस्कृति की वाहक है, जिसके कारण वह कविताएँ ही लोक-प्रिय हो पाती है, जो न केवल काश्मीर के लोक-संगीत की विलम्बित लयों

के अनुसार हो, बल्कि जो काश्मीरी जनो के सुपरिचित जीवन की भाषा में नये भाव-विचारो को उनकी चेतना मे मूर्त्त कर दे और एक बार सुनकर ही जिनके सारवाही, भावना-सिक्त शब्द उनके मानस मे बार-बार प्रतिध्वनित होकर सहज स्मरणीय हो जायँ और सुख-दुख, श्रम-विश्राम के क्षणो में उनके नित्य-प्रति के जीवनानुभव को बोधगम्य बनाकर सार्थकता का आलोक प्रदान करने वाले चेतना-दीप बन जायँ। इसी कारण नादिम और दूसरे तरुण कवियो के नये काव्य-प्रयोगो का रसास्वादन अभी सभाओ और मुशायरो मे कवियो के मुख से सुनकर ही संभव हो पाता है, आत्म-पाठ और आत्म-गायन द्वारा नही।

नादिम ने इस बीच काफी काव्य रचा है। आक्रमण के प्रारंभिक दिनो में उनकी अन्यान्य कविताओ में से 'नाराए इन्कलाब' सब से अधिक लोकप्रिय हुई थी। उसमें उन्होने काश्मीर के नौजवानो को हमलावरो के तीर और तुफंग की परवाह न करके कौम की हिफ़ाज़त के जग में जान देकर जावेदां बन जाने को ललकारा था। इनके पश्चात् अपनी सशक्त कविता 'इरादा' मे उन्होने काश्मीर का फैसला करने के लिए सात समुन्दर पार बैठे साम्राजियो की साज़िशो की तरफ इशारा करते हुए लोगो की बेताबी को व्यक्त किया कि मेरे जंगल जल रहे है ·· फूल रो रहे है, मुझे क़रार कहाँ से आये ? मै कौंसिलो और फैसलो का क्यो इन्तजार करूँ ? मुझे आग भड़कानी है तो अंगारो से क्या डरूँ ?' 'सोंत हर्द' (बहार और खिजा), 'प्रसुन छुम' (मुझे पूछना है) और 'सोविज़' (वह घड़ी) मेरी दृष्टि में नादिम की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक रचनाएँ है, और संभवतः काश्मीरी काव्य-साहित्य में अपना स्थायी मूल्य रखेंगी। 'सोत हर्द' में नवागता बहार का चित्रण अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म वस्तु-चित्रो द्वारा हुआ है, जिससे बहार का उन्मादकारी सौन्दर्य और प्रकृति का हर्षोल्लास पाठक की कल्पना में सजीव और साकार हो उठता है, पर उसके पश्चात् ही काश्मीरी जनता के विडम्बनापूर्ण जीवन का चित्र मन में एक क्रूर विक्षेप और व्याघात पैदा करता है—कसक-सी महसूस होती है कि इस ओर जन-जीवन पर खिज़ाँ छायी है। नादिम इन दोनो विपरीत दशाओ के विषम अनुभव की समन्विति इस सक्रिय भाव से करते है कि 'नई बहार जम्हूर का ताज पहनकर चमन को नया दहेज़ देने निकली है और नादिम अपने हृदय का जलाव लिये आज सच को जगाने आया है।' 'प्रसुन छुम' में कवि का मानव-दर्प और भी अदम्य और उदात्त हो गया है। 'कहते है कि मशरिक मे गाश (रोशना) खेलने लगी है; सियाह बख्तो के दामन मे मोती टाँकने लगी है। कहीं यह पिजरों के दरवाजे तो नहीं खोलने आई ?—मुझे आसमान पे चढ़ के सितारों से पूछना है!' इसी उदात्त अन्दाज़ में यह कविता आद्यन्त चलती है,

और वर्ग-समाज के अन्याय और वैषम्य का तीखा चित्र खींचता हुआ और नई नवेली बहारो, ख्वाजाज़ादियो के गले में लटके मोती के हारों, मगरूर सरमायेदारो और सामती ताजदारो की छाती पर चढके जवाब तलब करता हुआ कवि अन्त में अपने हमनवा अदीबो और फनकारों की ओर मुखातिब होता है: 'एक तरफ दौलत, हशमत और राहत है। दूसरी तरफ नगे जिस्म, तेही-दामनी, फाका और गुरबत है। वह किस जगह अपनी ग़ैरत का कलमदान लिये बैठे हैं, मुझे अदीबा और फनकारो से पूछना है।' 'सोविज' (वह घडी) में नादिम ने "उस नेक घडी की उदात्त कल्पना की है जिसमें अपने जीवन और अपनी महत्ता की चेतना पाकर लोगो की शक्ति इतनी दुर्दमनीय और अपार होजायेगी कि उनकी 'ग़ैरत तान के छाती बढ़े और बढ के आँधी से लडे' 'टूट जायें दात बादे-तुन्द के' 'जर्द पड जाये रूए आसमाने तीरो-तार'—का; और जिस घडी मेरी (अर्थात लोगो की) 'हिकमत बन के मेमारे जदीद', 'बख्त टूटा हुआ इसा का करेगी तामीर', 'बेजबानों को जबाँ बख्शेगी' जब 'तदबीरो के खम होगे दुरुस्त', 'कट के गिर जायेगा तौके लानत, और जज़ीरे हो सब चकनाचूर।' उस नेक घडी में 'सर बुलन्द हो के रहेगा मजदूर' और 'नूर अफशां होगी गरीबो की शिकस्ता तकदीर।' इसमे सदेह नहीं कि इन्सान की अजमत के उस आलम में 'चाँद-सितारे आसमान से उतर कर नादिम जैसे आजाद इन्सान (अवाम) का सर चूमेंगे!'

सामन्ती गुलामी का अन्त करके किसानो को ज़मीन का मालिक बनाना, यहाँ के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रोग्राम रहा है (और इस समय नये ज़रई क़ानून के द्वारा इस प्रोग्राम को असली जामा पहनाया जा रहा है)। इसी प्रकार सोवियत् रूस और नये चीन के विरुद्ध काश्मीर को साम्राजियो का फ़ौजी अड्डा न बनाने देने का दृढ़ निश्चय भी यहाँ के राष्ट्रीय नेता बार-बार प्रकट करते आये हे। फिर भी साम्राजी अपनी कोशिशो से बाज नहीं है और कभी बँटवारे के लिए, कभी यू० एन० शासक के लिए तो कभी कामनवेल्थ की फ़ौजें लाने के लिए तरह-तरह के जाल बिछाते आये हे। निश्चय ही काश्मीरी जनता के लिए 'अमन' का सवाल ज़िन्दगी और मौत का सवाल है। इन दोनों प्रश्नों पर अधिकतर काश्मीरी कवि बार-बार और हर नयी परस्थिति से जनता को आगाह करने के लिए लिखते आये है। पहले प्रश्न पर नादिम का गीति-नाट्य 'ज़मीन तसइन्जइ यमि कमाव खेत' (यह ज़मीन उसकी है जिसने खेत कमाये) जो पहाड़ी नृत्य 'भाँगड़ा' के साथ मिलाकर हर जगह खेला गया है, और दूसरे प्रश्न पर उनकी तीन कविताएँ 'जंगबाज़ खबरदार' 'ब गव न अज़' (मे आज नहीं गाऊँगा) और 'वावन वुननम' (वायु ने कहा) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'जंगबाज़ खबरदार' एक खुली चुनौती है—'ठहर ओ

लईन !' यह हिरोशिमा नहीं। देख, आबशार गरज रहे हैं इस नौबहार को देख·· यह वतन मेरा बेदार है इसके उस्तवार इरादे को देख। 'फ़साद, फ़ितना, कीना, बम और मशीनगन लेकर आगे कदम न बढ़ा !' 'ब ग्व न अज़' (मैं आज नहीं गाऊँगा) में नादिम इस 'उस्तवार इरादे' को अधिक मूर्त्तता प्रदान करते हैं और घोषणा करते हैं कि जब तक 'जगबाज़ जालसाज़' देश पर घात लगाये बैठे हैं 'मैं नहीं गाऊँगा'। (आज) गुलो, बुलबुलो, सुम्बुलो, मसवलो का पुर ख़ुमार मुहब्बत का मतवाला, मधुर-मधुर नगमा कोई !' यह बहुत लम्बी कविता है, और मेरी दृष्टि में इसके मूल में किंचित् नकारात्मक दृष्टिकोण है, जो अन्ततः एक ऐसी आवेश-मयी शैली को जन्म देता है जिसमें कला का स्थान अतिशयोक्ति-पूर्ण वक्तव्य ले लेते हैं। 'वावन वुननम' (वायु ने कहा) अपेक्षाकृत अधिक गठित और तारतम्यपूर्ण कविता है और इसमें साग-सब्जी उगाने वाले मलियारो, कारख़ानो में काम करने वाले मज़दूर (जुलाहो) और खेतो में काम करने वाले किसानो की श्रम-क्रियाओं के सुन्दर भाव-चित्र हैं—'वायु इन सब के पास से होती हुई आई है और उसने सभी कामगारो और मेहनतकशो का यही नारा सुना है कि 'अर्जि कश्मीर अपनी इसकी नेक तकदीर अपनी'· 'सहे कैसे बारूद घर यह वतन हो सहे कैसे दोज़ख़ यह बाग़ेअदन हो !'—इस कविता को भी अब एक नृत्य-रूपक बनाकर अभिनीत किया जाता है। इन कविताओ को पचासो हज़ार लोगों ने स्वयं कवि की कड़कती हुई सशक्त आवाज़ से सुना है। नादिम ने इस वर्ष मेरे स्थान पर कौमी कल्चरल कांग्रेस का कार्य-भार सम्हाला है, और वे उसके प्रधान मन्त्रा हैं।

तीन वर्ष पहले ही काश्मीरी जनता प्रसिद्ध इन्क़लाबी शायर 'आज़ाद' को सदा के लिए खो चुकी थी कि पिछले वर्ष उसे मज़दूर शायर अब्दुल सत्तार आसी' के निधन का आघात भी सहना पड़ा। अन्तिम दिन तक आसी अपने रफ़ीक मज़दूरो को ज़ुल्मोसितम के विरुद्ध उभारते आये। मृत्यु-शैया पर लिखी उनकी अन्तिम कविता की पहली पंक्ति भी यही है कि 'कान धर के सुन ले कि मज़दूर पर क्या-क्या गुज़रती है।'

इस बीच जो और अनेक तरुण प्रतिभाएँ सजग हो गयी हैं उनमें नूर मोहम्मद 'रोशन', रहमान 'राही', नन्दलाल अम्बारदार, गुलाम नबी 'आरिज़', अब्दुल हक़ 'बर्क़', श्यामलाल दर 'बहार', श्रीधर रैना 'ज़ार', महेन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'राही' और महेन्द्र उर्दू के कवि थे, लेकिन अपनी जनता के अधिक निकट आने के लिए उन्होंने अब काश्मीरी नज़्में कहना शुरू कर दिया है।

नंदलाल अम्बारदार ने अपनी कविता 'नवाब' में जागीरदारो के महलों, बारादरियों, ईरानी क़ालीनो, सोने-चाँदी के बर्तनो, और बाग़ बग़ीचो, की तरफ़

इशारा करके ऐहसास जगाया कि 'देख इन चीजों मे किस क़दर बेकसों का लहू चमक रहा है। उनके यहाँ इसी लहू का चिरागाँ है और इसी के कुमकुमे रोशन हैं' और फिर इस पुराने निज़ाम को तहोबाला करने के लिए उन्होने मर्दे मैदान बन के निकलने को ललकारा। 'मज़दूर सुन्द इरादः' कविता में नूर मोहम्मद 'रोशन' का बेदार मजदूर अब 'तक़दीर के फ़रेबों' में पड़ने को तैयार नहीं है, बल्कि उसका खुला ऐलान है कि 'मै तुम्हारी सितमगारी के ऐवानो को मिस्मार कर दूँगा। अब मेरी पीठ पर कोई ज़रदार सवार नहीं रह सकेगा।' अब्दुल हक़ 'बर्क' का 'ग्रूस' (किसान) भी शोषण से तिलमिलाकर कहता है कि 'मेरे फ़र्श पर वह जो चटाई बिछी थी, (चकदार) उसको भी गोल करके उठा ले गये। वह कहर से डरते क्यों नहीं ?'

श्यामलाल दर 'बहार' की 'गौरिवाजनि' (सिंघाड़े बेचने वाली) जो गली-गली में सिंघाड़े बेचती हुई अपने कठिन जीवन की मार्मिक कहानी सुनाती फिरती है, वह भी इस कटु सत्य से आगाह है कि 'हड्डी-तोड परिश्रम करके भी मै अपने बाल-बच्चो को भरपेट खिला तो नहीं सकी हूँ ? और जानती हूँ कि 'मेरी मेहनत की क़द्र पैसेवाला कैसे जान सकेगा वह आज तक इस बेकसी के बाजार से (सिंघाड़े बेचते हुए !) तो नही गुजारा ?' फिर भी उनकी ही गलियो में टेर लगाने को विवश है—'तुम्हे सिंघाडे तो नहीं चाहिएँ, सिंघाड़े तो नहीं चाहिएँ !' इसीलिए सूक्ष्म भाव-चेतना के उदीयमान कवि रहमान 'राही' एक सुन्दर नज़्म में जनता को आवाज़ देते हैं : 'त्स् कथ छुक व प्रारां त्स क्यह छुक व गारां'—तुझे अब किसका इन्तज़ार है, तू अब क्या ढूंढ़ रहा है ?' क्योंकि, जैसा उनकी दूसरी नज़्म से ज़ाहिर है, 'कहाँ रह पायेगा यह घटाटोप और अँधियारा और बिजलियों का यह तूफान—यलि रव खासि सुबहुचि प्रौ आवान—जब सुबह का सूरज सहर का तड़का लिये तुलू होगा ?' श्रीधर रैना 'ज़ार' इस वैषम्य के ऐहसास को और गहरा बनाने के लिए एक दूसरे ही पक्ष से आक्रमण करते हैं। अपनी कविता 'नौ बहारुक पैगाम' में यह स्पष्ट करने के बाद कि 'कहर जहन्नम और अज़ाब का ग़म जिसके लिए है·· उसके मुँह से कभी नहीं निकला कि बहार ऐश और खुशी का पैगाम लेकर आई है' वह खुदायी से भी बगावत करने पर तुल जाते हैं कि 'ऐ ज़ार खुदायी बड़ी हैरत है; उसका फ़रमान एक है, अमल जुदा-जुदा है, फिर भी रहमत को ग़ैरत नहीं आती···उसकी ज़बान से जिसके अरमान कभी पूरे न हुए हो कैसे निकल सकता है कि बहार ऐश और खुशी का पैगाम लेकर आई है ?' और अपनी प्रसिद्ध कविता 'साक़ी' में तो 'ज़ार' रहमत से बेज़ार होकर तीखा व्यंग करते है कि 'न मेरे पास तसबीह है, और न जुनार (जनेऊ); ऐ साक़ी, फिर मै तेरी रहमत का

हकदार क्योंकर हो सकता हूँ ?' लेकिन गुलाम नबी 'आरिज' गुस्से और जनून में बहार को ही खैरबाद कहकर उसे दरबारों की मिल्कियत बना देने को तैयार नहीं है बल्कि अपनी लोकप्रिय कविता 'नालाए मज़दूर' में वह 'कड़कती हुई बिजलियों और तूफान में' भी 'कमर बाँधकर बहार' के लिए चमन को सजाने' निकलते हैं 'गुल के लिए, बुलबुल और मसवल के लिए और एक नई बहार के लिए ।' और फिर दूसरी कविता 'सोतस् नाद' में वह बड़े प्यार और मनुहार से 'बहार को बुलावा' देते हैं कि 'बहार आ, आ. और चमन में करार कर ऐ दोस्त आ, कि सूखे हुए झरनों को तेरा इन्तज़ार है; आ, कि जर्रे को आफताब कर, औ' क़तरे को आबशार कर ! ऐ दोस्त आ कि काश्तकार खस्ताहाल है, तू थके दिलों और फ़ाक़ाज़दों को बेकरार कर !'

'थके दिलों और फ़ाकाज़दों को बेकरार कर' के अपनी जनता के जीवन को उजागर करने के मानववादी लक्ष्य से ही आधुनिक काश्मीरी कवियों का समस्त निवेदन, समस्त चिन्तन, समस्त काव्य-सृजन उत्प्रेरित रहा है । उनकी इस मानवीय आकांक्षा को नूर मोहम्मद 'रोशन' ने 'नादिम की कविता 'ब ग्य न अज' के जवाब में लिखी सशक्त कविता 'ग्यवुन छुम' (मुझे गाना है) में इस प्रकार व्यक्त किया है : 'मुझे गाना है·· मजदूर का, कामगार का, अपने दोस्त काश्तकार का· जम्हूर के दिलावरों का, अमन के मुहाफिजों का बदलते जमाने का, हयात के इशारे का—यही गाना मुझे गाना है ।' ताकि 'हयात के इशारे' को पहचानकर काश्मीरी जनता नादिम के गीति-नाट्य 'इ जमीन तसइन्ज़इ यमि कमाव खेत' के बेदार किसानों की तरह साम्राजियों और उनके कासालेसों को परास्त करके हक, सदाक़त, इत्तिहाद और अमन की गगनभेदी बाँग दे कि 'ऐ आजादी के परवानो ! आओ, इस खोटी तकदीर को बदलकर नया काश्मीर तामीर करो !'

तभी काश्मीर के जीवन की कालरात्रि का अन्त होगा और कवि महजूर के शब्दों में कहा जा सकेगा कि 'सगरमालाएँ' (हिमशिखरों की पाँत) नयी रोशनी से जगमगाने लगी है : 'सगरमालन प्यव प्रा गाश' ।

'—फरवरी १९५१

१५

चीन के लेखक और कलाकार

हमने चीन के बारे में बहुत सी बाते सुनी है, हम में से कुछ चीन के साहित्य, चीन की जनता के रहन-सहन और रीति-रिवाज के बारे मे विशेष जानकारी भी रखते होगे। हम जानते है कि चीन एक विशाल देश है, हमारे देश से भी बहुत बड़ा और वहाँ लगभग पचास करोड जनता रहती है। चीन नया देश नही है। चीन की सभ्यता नयी नहीं है। जितनी प्राचीन भारत की सभ्यता है, कदाचित् उतनी ही पुरानी सभ्यता चीन की है। चीन के बड़े-बडे दार्शनिको का समादर दुनिया मे होता आया है। हमारे देश से चीन का सास्कृतिक सम्पर्क हजारो वर्ष पुराना है। हमारे सर्वश्रेष्ठ कवि और कलाकार स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर और राष्ट्र-नेता पडित जवाहरलाल नेहरू ने चीन से भारत के उन पुराने सम्बन्धो को फिर से कायम करने के जो प्रयत्न किये है उनसे हम परिचित है।

चीन की जनता ने गत युद्ध मे कैसे भाग लिया? चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की सराहनीय कोशिशो से सभी राष्ट्रीय पार्टियाँ जापान-विरोधी मोर्चे में शामिल हुई, और चीन की कम्युनिस्ट गुरिल्ला फौजें और चीन के लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और स्त्रियाँ जापान-विरोधी युद्ध की रीढ़ बनी। स्वदेश-रक्षा का सब से महत्त्वपूर्ण भार उनके ही कन्धो पर था। गुरिल्ला फौजें कैसे लड़ती थीं, जनता के अन्दर किस तरह सगठन बनाती थी; जिन नगरो पर जापान कब्जा कर लेता था उनके आस-पास के देहात मे किस तरह Self defence Governments (स्वदेश-रक्षा सरकारे) बनाती थी और वहाँ की जनता को युद्ध के लिए तैयार करती थी; जापानियो के सामान से लदे मोटरो, गोदामो, ट्रेनो, रेल की पटरियो, टेलीफोन के तारो और देश-द्रोहियो पर आक्रमण कर, उन्हे नष्ट-भ्रष्ट कर क्षति पहुँचाती थीं और 'स्वदेश-रक्षा सरकार' की ओर से जिले का शासन-सूत्र चलाती थी और साथ मे ही किसानो-मजदूरो के लिए आर्थिक सुधार भी करती जाती थी, उनके इन कार्यों का अध्ययन करना हमारे लिए जरूरी है।

लेखक की हैसियत से हम यह जानने की कोशिश करेगे कि चीन के लेखको और कलाकारो ने अपनी स्वदेश-रक्षा की लडाई मे किस तरह क्या भाग लिया।

चीन के लेखक और कलाकार हमारे लेखको से भी ज्यादा कल्पनाशील होते है। अब तक उन्होने कल्पना के लोक मे नीड़ बनाकर उन्मुक्त विहग की तरह जो

उड़ाने भरी है उन पर आश्चर्य होता है। परियों की कहानियाँ, रहस्यवादी रोमांटिक कविताएँ, वे इन्ही मे रमे रहे है। लेकिन सन् १९३२ मे ही जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया, वहाँ के लेखको की आँखे खुल गई, उन्हे लगा कि कोई निर्दय बहेलिया उनके कल्पनालोक के भव्य-नीड़ो को नोचकर फेंक रहा है और जब उन्होंने पीकिंग, शघाई और नैनकिग मे फासिस्टो के बर्बर कारनामे देखे तो वे सिहर उठे, नानकाई विश्वविद्यालय के खडहरो ने उनकी आत्मा को कचोटकर उन्हे जगा दिया। एक बर्बर साम्राज्यवाद, उनकी सभ्यता और सस्कृति, उनकी कला और साहित्य पर आक्रमण कर बैठा था; इसलिए उन्होने सोचा कि यदि इस समय भी संगठन करके राष्ट्र में एकता कायम करने की कोशिश नही करते तो वे कभी एक सभ्य जीवन नहीं बिता सकते। और तब से वहाँ के लेखक जापान-विरोधी युद्ध मे सबसे आगे है। चीन के गोर्की लू-सू जिनकी कहानी 'दी स्टोरी ऑफ आह-क्यू' इस युग की सर्वश्रेष्ठ कहानी है, और दूसरे सैकडो लेखक जापान-विरोधी सास्कृतिक मोर्चे मे सगठित हो गये और उन्होने जनता को जगाने के लिए कला के जिन नये रूपो का विकास किया, उनमें जन-गायन और जन-नाट्यशाला प्रमुख है।

जन-गायन नई चीज नहीं है; हमारे देश मे भी बहुत से लोक-गीत सामूहिक रूप में गाये जाते है; नावों पर काम करते हुए या मछली मारते हुए मल्लाहो के गीत, नदी या तालाब के किनारे कपड़ा धोते हुए धोबियो के गीत, दीवार चुनते हुए राजगीरों के गीत या खेत बोते या काटते हुए किसानो के गीत हमने सुने है और हम जानते है कि अपने काम में लगन पैदा करने की शक्ति उनमें कितनी होती है।

चीन मे वहाँ के लेखको ने ऐसे सामूहिक गायन को जापान-विरोधी संगठन का सबसे तीव्र अस्त्र बना दिया। सन् १९३२ में एक तरुण कवि N. Y I. Erh ने गीत लिखा—'March of the Guerillas' जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है—

Arise ! Ye, who refuse to be bond slaves
With our very flesh and blood.
Let us build our new great wall,
China's masses have met the day of danger,
Indignation fills the heart of all of our Countrymen,
Arise ! Arise ! Arise !
Many hearts with one mind
Brave the enemy's gunfire
March on !

Brave the enemy's gunfire
March on ! March on ! March on ! On !

यह गीत आज चीन के करोड़ो आदमियो की जुबान पर है। सन् '३४ में एक तरुण ईसाई ने किसी अमेरिकन पत्र मे पढ़ा—Music unites the people, और उस कल्पनाशील युवक के हृदय में यह बात बैठ गई कि जापान के विरुद्ध चीन की जनता मे जागृति और एकता पैदा करने के लिए संगीत को एक जबर्दस्त हथियार बनाया जा सकता है। सगीत हमारे यहाँ की ही तरह मनोरञ्जन की चीज था, जिसे आराम-कुर्सियो पर बैठकर म्यूज़िक काफ्रेंसो में या महफ़िलो में सुना जाता था। उससे और कोई उपयोग का विचार ही न उठता था। लेकिन इस ईसाई 'निन लियांग को' ने संगीत का क्रान्तिकारी और स्वाभाविक उपयोग करने की ठान ली, और उसने Y M C A. के मैदान में चीन के राष्ट्रीय गीतों को सबके साथ मिलकर गाना शुरू किया।

पहले दिन उसने साठ आदमी इकट्ठे किये जिनमें दफ्तर के लड़के, क्लर्क, गोदाम के बाबू, चपरासी, रिक्शा खींचने वाले मजदूर सभी शामिल थे ! रोज-रोज उसने ये गीत गवाने शुरू किये, गाने वालों को सिखाया और एक महीने के अन्दर ही तीन सौ गाने वाले तैयार कर दिये। सामूहिक गायन की सभाओ में चार-चार हज़ार दर्शक एक स्वर से गीत गाने लगे। और कुछ हफ्तो के अन्दर ही सारे शघाई के अन्दर यह आन्दोलन तूफान की तरह व्याप्त हो गया। इसके बाद उसने साठ बालक-बालिकाओ की एक मण्डली तैयार की जिनमें चालीस लड़के और बीस लडकियाँ थी और जिनकी अवस्था आठ से अठारह के बीच मे थी। यह मण्डली शघाई से चलकर आसपास के सात-आठ प्रान्तो मे लगातार घूमती रही, हर जगह गाने गवाती हुई, जनता का संगठन करती हुई, जनगायन की मण्डलियाँ क़ायम करती हुई, छोटे-छोटे जापान-विरोधी नाटक खेलती हुई और जनता को स्वदेश-रक्षा के लिए उत्प्रेरित करती हुई। इसके उपरान्त यह आन्दोलन, जहाँ-जहाँ भी छोटे या बड़े समूह के अन्दर मनुष्य रहते है वहाँ फैल गया। स्कूलो में, कालेजो में, फैक्टरियो और गावो मे, चीन की जनता जापान के विरुद्ध एक स्वर से गायक बन गई। उस समय जो गीत वहाँ लिखे जाते, वे अधिकांश राष्ट्र-रक्षा, गुरिल्ला-युद्ध, तरुण युवक-युवतियो के कर्तव्य के सम्बन्ध में रहते और चीन की अन्तिम विजय के अन्दर उनके अटूट विश्वास की घोषणा करते।

इन गीतों मे जोश भी रहता है और व्यंग भी, मुझे याद आता है, कही मैने दो गीत पढ़े थे, एक फ़ौज के कैप्टन के प्रति था और एक विश्वविद्यालय के महा-पण्डित प्रोफेसर के प्रति, जिसका नाम था 'Scholar Ghost'। पहला गीत चीन की स्त्रियो का था जिसमें उन्होने फौज के कप्तान से कहा था कि तुम बड़े बहादुर हो,

सोने और चाँदी के तमगे लटकाए फिरते हो, लेकिन जापान की फौज के आगे भीगी बिल्ली बन जाते हो। अगर तुमसे बन्दूक नही उठती तो हमे दो और हमारे पेटीकोट पहनकर घर में खाना पकाया करो। दूसरे गीत मे प्रोफेसर पर व्यग था कि इस विद्वता के प्रेत से जब कहा जाता है कि तुम्हारे देश पर आक्रमण हुआ है, तब वह नेक सलाह देता है कि पहले एक किताब पढ लो; जब उससे कहा जाता है कि जापानी हमारी सस्कृति का नाश कर रहे है, तब वह कहता है—पहले एक किताब पढ़ लो। इस विद्वता के प्रेत की निगाह सरकारी पदो पर रहती है और जब आसमान में बमवर्षक हवाई जहाज बूँ-बूँ करते है, तब वह कहता है कि पहले एक किताब पढ लो!

इस तरह की तीव्र व्यग-पूर्ण कविताओ का भी जन-गायन होता क्योकि वहाँ के स्त्री और पुरुष यह बर्दाश्त नही कर सकते कि कोई लड़ाई में ढिलाई करे या बेकार बैठा सिगरेट फूँके। कुछ गीतो मे हास्य भी मिश्रित रहता लेकिन उनके पीछे जनता की दृढ़ भावना झलकती है जैसे 'Song of Chinese women at war' की यह कुछ पंक्तियाँ—

To the front! To the front!
Let us bring our needles
To the front!
To the front!
Let us bring tour thread,
To make clothing for our heroes at the front.
To the front!
To the front!

लेकिन जो गीत इन जनगायन मण्डलियो के द्वारा देश के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो उठे उनमें नीडर का 'The March of the Guerillas', 'The Song of the lone-Battalion', 'For we cannot die', 'Guerilla Song', 'Song of Young women', 'Partisan Song' आदि मुख्य है। Song of young women के अन्दर उनके अपने सामाजिक सुधार की क्रान्तिकारी भावना भी प्रबल है, जैसे—

Smash the fetters of feudalism,
Kick down the old social order,
We are the young women of China;
We stand at the forefront of the struggle.

गुरिल्ला-गीत जो इतना प्रचलित है, इस प्रकार है—

Since we are all good marksmen
None of our bullets shall be wasted;
Since we are all strong
We shall not be afraid of the difficulties;
In all the thick forests
There you can find camps of our comrades;
On all the high mountains
There are thousands of our brothers
Not enough to eat, not enough to wear,
The enemy will send these things to us
Not enough guns, not enough rifles,
The enemy will manufacture them for us.
We are all raised up on this land,
Every inch of it belongs to us.
Whoever dares to take it away from us
We will fight them to the end . .

वहाँ साधारण जनता के बीच छोटी-छोटी चौपाइयाँ भी प्रचलित हो गईं, जिन्हे अक्सर लोग गाते रहते है। एक किसान निहत्था ही अपने देश के लिए लडने जा रहा है, अटपटी ग्रामीण भाषा में उसके गाँव के लोग कहते है—

Yon, leopard of North Shensi riding on a donkey
On your head only a turban, using your pipe for a whip.

तो भी निहत्थी चीनी जनता ने जो कर दिखाया मानव-इतिहास उसके प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रकाशित करे थोड़ी है।

चीन का Partisan Song जो उनकी उत्कट देश-प्रेम की भावना का प्रतीक बन गया है, उसकी पंक्तियाँ हृदय में उत्साह और प्रेरणा की एक झकार पैदा कर देती है—

We are partisans, Ya-hei!
Defending our native land, Ya-hei!
We are country rustics, Ya-hei!
Who wants to be a slave ? Ya-hei!
We will expel the Japanese from our land, Ya-hei!
We will be free, we will be joyous, Ya-hei.

जन-गायन की सैकडों मंडलियाँ चीन के गाँवो-गाँवो मे घूमती थी। और, चीन के बड़े-बड़े गायको ने शास्त्रीय स्वर-सधानो को छोडकर लोक-गीत की लयो को और भी जनप्रिय और जगजू बनाया। इसके अतिरिक्त चीन के लेखको ने, अभिनेता-अभिनेत्रियो ने जन-नाटक आन्दोलन चलाया जिसके लिए चीन के सर्वश्रेष्ठ लेखको ने नाटक लिखे। नौजवानो की नाटक-मडलियाँ जिन्हे Jen-Min-K'ang Erh-chu-she 'जनता की जापान विरोधी नाटक समिति' ने सगठित किया, गाँवो-गाँवों में घूमी, नाटक खेले, स्वदेश-रक्षा का पैगाम पहुँचाया। जनता उन्हे देखकर करुणा से रो उठी, गुस्से से भर गई और गुरिल्ला फौजो मे भरती हो गई।

साधारण सादे स्टेज पर, या सड़क पर या गाँव की किसी चौपाल मे ये नाटक खेले जाते। अनेक नाटक समितियो ने इस समय चीन में काम किया जैसे लू-सूँ नाटक समिति, जन-नाटक समिति—प्रेक्टिकल नाटक समिति, लड़कियो की नाटक समिति आदि। लड़कियो की नाटक समिति की लडकियाँ सडक के किसी कोने या चौराहे पर तख्त जोडकर एक स्टेज बना लेती और जब कुछ लोग इकट्ठे हो जाते, वे नाटक खेलना शुरू कर देती। इन नाटको मे जापानी सैनिकों द्वारा की गई क्रूरताओं के दृश्य रहते, चीनी सिपाहियो के बहादुरी की किस्से होते, युद्ध के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्नो का हल रहता।

आपको आश्चर्य होगा कि कुमारी हॉत्सी की नाटक समिति लगातार वर्ष भर घूमती रही और नाटक खेलती फिरी और इस तरह सैकड़ो जगह अकेली उसी समिति ने नाटक खेले। इस तरह की एक सौ से अधिक लडकियो की ही मंडलियाँ वहाँ घूम-घूमकर नाटक खेलती रही। लड़कियो की जन-गायन समितियाँ भी इसी तरह सारे चीन में गीत गाती फिरीं; वे किसानो, सैनिको, सडक बनाने वाले मज़दूरो और गाँवो की माँ-बेटियो को गीत सुनाती और सिखाती। नाटक मंडलियो और गायक मंडलियो ने इस प्रकार चीन की सुप्त आत्मा को जगा दिया। चीन मे जो नाटक सबसे ज्यादा प्रचलित है उनमे 'आक्रमण', 'मंचूरिया-विजय', '१८ सितम्बर से', 'गरजो चीन', 'हथियार' आदि प्रमुख है। ये सभी नाटक जापानी आक्रमण, जापानियो के पाशविक अत्याचार और चीनी जनता की ऐक्य और लड़ने के दृढ़ निश्चय से सम्बन्ध रखते हैं।

नाटकों के साथ-साथ चीनी नृत्यकारो ने भी अपना योग देकर क्रान्तिकारी नृत्य तैयार किये, जैसे 'संयुक्त मोर्चा नृत्य', 'लाल मशीनो का नृत्य'! इन नृत्यो से नाटको का प्रभाव बढ़ जाता है। इन नृत्यो मे विदेशी आक्रमण के विरुद्ध चीनी जनता के संयुक्त मोर्चे और भावी स्वतन्त्र चीन में औद्योगीकरण होने से उत्पन्न सुख-समृद्धि के दृश्य है। लोक-नृत्य जो चीन में प्रचलित थे—किसानो और मज़दूरो में—उनमें

भी अब क्रान्तिकारी भावनाओ का समावेश हो गया है। Rice Sprout Dance अब आक्रमण-विरोधी भावनाओ का प्रतीक बन गया है।

चीन के चित्रकार भी पिछड़े नही। उन्होने व्यंग-चित्रो द्वारा चीन की जनता का ध्यान आकर्षित किया। युद्ध के समय वहाँ के व्यंग-चित्रकार तूलिका और रंग हाथ में लेकर मकान की दीवालो पर जापान-विरोधी व्यंग-चित्र बनाते फिरे। लड़कियों के कार्टून-ग्रुप की कलाकार जब चित्र बनाने पहुँचती तो जनता एकत्र होकर उसकी तूलिका के घूमने का दृश्य देखती, और जब कुछ तूलिकाओं के फिरने से एक शक्ल बन जाती तो वह आश्चर्य-चकित हो ताकती रह जाती। वे कही बड़े-बड़े कार्टून बनातीं, कही कार्टूनो की एक माला बनातीं, जिसमें कई दृश्यों में व्यंग-चित्रो द्वारा किसी घटना का चित्रण रहता। गाँव के लोग, राहगीर, मजदूर रुककर उन्हें देखते, समझने की चेष्टा करते, विद्यार्थी उन्हें समझाते, और वे तूलिका के चमत्कार पर आश्चर्य करते, और चित्र के आशय से प्रेरणा ग्रहण करते।

इस प्रकार चीन के लेखक, कलाकार, गायक, अभिनेता, नाटककार, चित्रकार नृत्यकार, विद्यार्थी, युवतियाँ, प्रोफ़ेसर सभी संगठित होकर दिन-रात चीनी जनता में प्रचार करते रहते और कही भी चीनी जनता के हृदय में नाउम्मीदी या निराशा को घुसने नहीं देते। उनका यह कार्य इतिहास में अभूतपूर्व है।

—अगस्त १९४२

१६

कार्ल मार्क्स : जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति

कार्ल मार्क्स और उनकी विचारधारा का जितना गहरा विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा है, आज तक उतना अन्य किसी विचारक या एक विचारधारा का नहीं पडा। मनुष्य का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, नैतिक और सास्कृतिक जीवन अर्थात् उसके भाव, विचार और कर्म-जगत् का कोई स्तर और कोई क्षेत्र मार्क्स और मार्क्सवाद के युगान्तकारी प्रभाव से अछूता नही रहा। विश्व की कोटि-कोटि जनता को, पुराने अमानवीय वर्ग-समाज के अन्याय, अनैतिकता, हिंसा, शोषण और उत्पीडन का सदा के लिए अन्त करके एक सच्चे वर्गमुक्त, शोषण-मुक्त, हिंसा-मुक्त और स्वतन्त्र मानवीय जन-समाज के साम्यवादी जीवन का निर्माण करने का एकमात्र सही और वैज्ञानिक मार्ग दिखाकर कार्ल मार्क्स न केवल युग-युग के लिए समूची मानव-जाति की श्रद्धा और कृतज्ञता के अधिकारी बन गये है, बल्कि मनुष्य-मात्र के लिए एक ऐसी प्रेरणा बन गये है, जिसका अनुभव करके ही आज दुनियाँ के ८० करोड मनुष्यो ने जमीन का एक तिहाई भाग वर्ग-समाज से आजाद कर लिया है, और दुनियां के बाकी लोग इन मुक्त मानवो के साथ मिलकर आजादी, जनवाद और स्थायी विश्व-शाति के लिए विकट सघर्ष कर रहे है। मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित, इतने विशाल भू-भाग पर वर्ग-मुक्त समाजवादी तथा नये जनवादी सामाजिक जीवन का निर्माण और अन्यत्र उसकी प्राप्ति के लिए होने वाला अविराम सघर्ष ही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है। विश्व के साहित्य और कला को इस मानवीय सघर्ष और निर्माण से कितनी महान् रचनात्मक प्रेरणाएँ मिली है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है, क्योकि कला और साहित्य वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते है।

कार्ल मार्क्स का जन्म लगभग एक सौ चौतीस वर्ष पूर्व सन् १८१८ मे ५ मई को जर्मनी के एक यहूदी परिवार में हुआ था। एक विद्यार्थी की हैसियत से उन्होने न्याय-विधान, इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। मार्क्स अपने विद्यार्थी-जीवन में ही विश्व-वन्द्य दार्शनिक हीगल के वामपक्षी अनुयायियो के दल मे शामिल हो गये थे। उन दिनो जर्मनी में 'वामपक्षी हीगलवादियो' की विचारधारा का प्रभाव बढ़ रहा था। लुडविग फ्योरबाख जैसा दार्शनिक धीरे-धीरे भौतिकवादी हो गया और उसकी 'ईसाई मत का सार-तत्त्व' (The Essence of Christia-

nity) और 'भावी दर्शन के सिद्धान्त' (The Principles of the Philosophy of the Future) पुस्तको को पढ़कर मार्क्स, ऐन्गिल्स और अनेक तरुण विचारक फ्योरबाख़ की विचारधारा के समर्थक हो गये।

सन् १८४२ मे कुछ लोगो ने जर्मनी की प्रतिक्रियावादी हुकूमत के खिलाफ एक पत्र निकाला। प्रारम्भ मे ब्रुनो बायर के साथ मार्क्स को उसका प्रधान लेखक बनने के लिए निमंत्रित किया गया और लगभग दस महीने बाद मार्क्स उस पत्र के प्रधान सम्पादक नियुक्त कर दिये गये। मार्क्स के सम्पादन-काल में इस पत्र की विचारधारा अधिक मुखर रूप से क्रान्तिकारी और जनवादी हो गई। हुकूमत को यह सहन नहीं हुआ और दो-तीन महीनो के भीतर ही उसे गैरकानूनी कर दिया गया।

सन् १८४३ में मार्क्स ने अपने बचपन की मित्र जैनी वान वेस्टफेलेन से विवाह किया। अपने देश में विरोधी पत्र निकालने की सुविधा न होने के कारण, विदेश से पत्र निकालने का इरादा करके उसी वर्ष मार्क्स फ्रास की राजधानी पेरिस चले गये। पेरिस से उन्होंने जो पत्रिका प्रकाशित की उसका एक अक ही निकल पाया, क्योकि वहाँ बैठकर जर्मनी में गुप्त रूप से उसका वितरण करना आसान न था। परन्तु इस पत्रिका में मार्क्स ने जो लेख दिये, उनसे इस बात का परिचय मिल जाता है कि मार्क्स के विचार इस समय तक क्रान्तिकारी हो गये थे। इन लेखों में उन्होंने हर चीज़ की खुलकर निर्मम आलोचना और जनता और श्रमजीवी वर्ग से अपील की था।

सन् १८४४ के सितम्बर में कार्ल मार्क्स की फ्रीडरिक एन्गिल्स से पहली बार पेरिस में भेंट हुई। तभी ये दोनों मनीषी आजीवन के लिए एक महान् मित्रता के सूत्र में बँध गये। उन दिनों पेरिस में दार्शनिक प्रूधाँ की विचारधारा और कई दूसरे मध्यवर्गीय समाजवादी विचारो के इर्द-गिर्द अनेक क्रान्तिकारी दल संगठित हो गये थे। मार्क्स और एन्गिल्स ने इन दलो के कार्यो में आगे बढ़कर सक्रिय भाग लिया। मार्क्स ने अपने पेरिस-प्रवास मे अपनी पुस्तक 'दर्शन की नगण्यता' (The Poverty of Philosophy मे प्रूधाँ की विचारधारा का खोखलापन सिद्ध किया और श्रमजीवी क्रान्ति या कम्युनिज़्म के सिद्धान्त और रणनीति की क्रांतिकारी रूपरेखा तैयार की। जर्मन सरकार के बार-बार ज़ोर देने पर सन् १८४५ में फ्रांस की सरकार ने मार्क्स को ख़तरनाक क्रान्तिकारी होने के कारण देश-निकाला दे दिया। मार्क्स और एन्गिल्स बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर मे चले गये और वहाँ 'कम्युनिस्ट-लीग' नाम की एक गुप्त प्रचार-सस्था के सदस्य बनकर काम करने लगे। सन् १८४७ में उन्होने कम्युनिस्ट लीग के दूसरे अधिवेशन मे लन्दन जाकर प्रमुख भाग लिया और इस अवसर पर मार्क्स ने उस 'कम्युनिस्ट-घोषणापत्र' का मसविदा तैयार किया जो

कार्य मे लगे रहने से मार्क्स का स्वास्थ्य ख़राब हो गया था और १४ मार्च, सन् १८८३, में लगभग ६५ वर्ष की आयु में ही मार्क्स ने अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे शाति-पूर्वक प्राण त्याग दिये । इस प्रकार इस महान् क्रान्तिकारी की, बाह्य रूप में अपेक्षया घटनाहीन, पर विश्व-इतिहास की दृष्टि से असीम रचनात्मक सभावनाओ से परिपूर्ण और घटनामय, जीवनलीला समाप्त हुई ।

मार्क्स और मार्क्सीय विचारधारा की निरन्तर बढ़ती हुई विश्व-व्यापी महत्ता और मान्यता का रहस्य केवल यह है कि मार्क्स ने अपनी अद्भुत प्रतिभा का कभी दुरुपयोग नहीं किया अर्थात् किसी प्रलोभन में फँसकर विश्व की श्रमजीवी जनता के हित-चिन्तन और सत्य की खोज से विमुख नहीं हुए । मनुष्य-कृत साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान, विचारधाराओं, सामाजिक जीवन और अर्थ-व्यवस्थाओं की पुंजीभूत ज्ञान-राशि का अध्ययन उनका इतना परिपूर्ण और विशाल था कि वे सहज ही उनके प्राणवन्त, सजीव तत्त्वो को खोज लेते थे और जीवन की वास्तविकता में निरन्तर होने वाले परिवर्तनो के मूल कारणों का अपनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली से सहज ही उद्घाटन कर सकने में समर्थ थे । उनकी यह द्वन्द्वात्मक भौतिक-वादी प्रणाली ही आज प्रगतिशील और सही अर्थों में वैज्ञानिक प्रणाली है ।

इस प्रणाली में मार्क्स ने १९वीं शताब्दी की तीन प्रमुख विचारधाराओ को केवल आगे ही नहीं बढ़ाया, बल्कि उनका नया क्रान्तिकारी संस्कार करके उन्हें समन्वित भी किया । यही कारण है कि मार्क्स की विचारधारा विश्व के प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन की आधारशिला और मूल प्रेरणा बन गई है । इन तीन विचारधाराओ में एक क्लासीकल जर्मन दर्शन दूसरा क्लासीकल अंग्रेजी अर्थशास्त्र और तीसरा फ्रांसीसी समाजवाद था । इन तीनो विचारधाराओं का सर्वहारा-वर्ग के दृष्टिकोण से समन्वय करके मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचे कि दार्शनिकों का यह कर्तव्य नही है कि वे व्यर्थ की ऊहापोह में फँसकर केवल 'विश्व है या नहीं है' की अमूर्त्त व्याख्या में ही लगे रहें, बल्कि उनका कर्तव्य तो यह है कि वे अपने तत्त्व-चिन्तन से विश्व को बदलने में योग दे । मार्क्स के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वह जगत् को और मानव-जीवन को शोषण से मुक्त, इसकी सम्पदा को सर्वजन-सुलभ और समाज को समृद्ध और प्रगतिशील बनाने के लिए इसके वर्तमान आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों, नैतिक मान्यताओं, सौन्दर्य-मूल्यो को बदलने का लक्ष्य और मार्ग बताता है ।

मार्क्स ने यह सिद्ध कर दिखाया कि विश्व की एकता इसलिए नहीं है कि विश्व है, बल्कि इसलिए है कि यह विश्व भौतिक है, और इस भौतिकता का प्रधान गुण उसका निरन्तर गतिशील होना है । विचार और चेतना मानव-मस्तिष्क की

उपज है, जो स्वयं प्रकृति की उपज है और जिसका विकास उसके वातावरण के साथ हुआ है। मानव-मस्तिष्क इस भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करके विचारो को रूप देता है। मार्क्स ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि भौतिक जगत् का अस्तित्व हमारे बावजूद है, प्रकृति के अपने नियम है और मनुष्य जिस सीमा तक इन नियमो को जान-समझ लेता है उसी हद तक वह नियति की अन्ध-आवश्यकताओ पर काबू पा कर प्रकृति पर अपना नियन्त्रण भी स्थापित कर लेता है और मुक्त भी हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार आवश्यकता को सही-सही समझ लेने से आवश्यकता का गुणात्मक रूपान्तर हो जाता है, अर्थात् वह मुक्ति के रूप में बदल जाती है।

मार्क्स का यह भौतिकवाद अन्य भौतिकवादियो की परम्परा से भिन्न था, क्योकि अन्य भौतिकवादियो का दृष्टिकोण यान्त्रिक और अनैतिहासिक था, विकास-सिद्धान्त का सर्वत्र प्रयोग नही करता था और 'मानव-तत्त्व' को अमर्त्त ढंग से देखता था, न कि मार्क्स की तरह द्वन्द्वात्मक रीति से। ऐतिहासिक प्रगति के परिणाम स्वरूप सामाजिक-सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था के विकास-रूप में। इसीलिए मार्क्स के भौतिकवाद को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहा जाता है। द्वन्द्वात्मक विकास से मार्क्स का तात्पर्य था कि यह विश्व कोई बनी-बनाई चीज़ नही है, बल्कि असंख्य प्रवहमान् क्रिया-प्रक्रियाओ के द्वन्द्व और सयोग से निरन्तर परिवर्तनशील है। कोई वस्तु आत्मनिर्भर, चिरन्तन और अनन्य नही है, बल्कि अन्य वस्तुओ के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध में जुडी हुई है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु मे परस्पर-विरोधी तत्त्वो से मिलकर एकता पैदा होती है, तथा चूँकि यह 'एकता' स्थायी नही, बल्कि परिस्थितिजन्य और अस्थायी होती है, इसलिए वस्तुओं में अविराम रूप से जो गुणात्मक अथवा परिणाम-सूचक सवृद्धि होती रहती है, उसके कारण परिणामतः एक ऐसी स्थिति आती है, जब या तो सहसा परिणाम सूचक संवृद्धि में गुणात्मक परिवर्तन होता है, या इसका उल्टा होता है। अन्त में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि यह विकास, वाद-प्रतिवाद, सवाद या घात-प्रतिघात, संघात के हमारे प्राचीन परिचित मार्ग से होता है, अर्थात् जो वस्तु है, वह अपने ही विरोधी तत्त्व को जन्म देता है, और इस प्रकार हर मजिल पर जो समन्वय होता जाता है, वह पहले के किसी भी समन्यय की अपेक्षा ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से ऊँचे आधार पर होता है।

मार्क्सवादी दर्शन के इन सिद्धान्त-सूत्रो का मनुष्य के ऐतिहासिक और सामाजिक जीवन के लिए जो क्रान्तिकारी महत्त्व है, उसको बढ़ा चढ़ाकर नहीं कहा जा सकता। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के रूप में समाज पर इन सिद्धान्तों को लागू करके मार्क्स ने सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य ही अपने इतिहास और भाग्य का

विधाता है। अपने को जीवित रखने के लिए मनुष्य उत्पादन-कार्य में लगता है। यह उत्पादन-कार्य चूँकि अकेले सम्भव नहीं है, न मनुष्य अकेला कही रहता है, इसलिए उत्पादन-साधनों के अनुरूप मनुष्यों के आपस में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते जाते है। उनकी चेतना भी इन आर्थिक सम्बन्धों और साधनो के अनुरूप ही होती है। उत्पादन की शक्तियाँ जब अधिक विकसित हो जाती है, और मौजूदा उत्पादन-सम्बन्ध उनके विकास में बाधक होने लगते है, तो दोनो में परस्पर टक्कर होती है। तब सामाजिक क्रान्तियो का युग शुरू होता है। आर्थिक आधार के बदल जाने के कारण उसका ऊपरी ढाँचा तेजी से बदलने लगता है। मनुष्य के समाज-सम्बन्धों के साथ-साथ उसके विचार-जगत् में भी परिवर्तन आता है, अर्थात् राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक, सांस्कृतिक मान्यताओ और न्याय-व्यवस्था आदि उन तमाम विचार-गत रूपो में, जिनके माध्यम से मनुष्य इस संघर्ष की चेतना प्राप्त करते है, और जिनके माध्यम से ही सघर्ष करते है, यह परिवर्तन घटित होता है।

मार्क्स के इस विचार के अनुसार मनुष्य अब तक अपने विकास के चार ऐतिहासिक युगो से पार हो आया है, अर्थात् प्रागैतिहासिक साम्यवाद का युग, बर्बरता का युग, सामन्ती व्यवस्था का युग और पूँजीवाद का युग। अब तक मनुष्य का विकास वर्ग-सघर्ष के द्वारा ही हुआ है, क्योकि वर्ग-समाज मे उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व रखने वाले शोषक-वर्ग साधनहीन असंख्य जनता के श्रम का शोषण करते रहे हैं। परन्तु आज इतिहास ने सगठित मजदूर-वर्ग के रूप में समाज के भीतर उस शक्ति को जन्म दे दिया है, जो पूँजीवाद के वर्ग-समाज का अन्त करके, एक वर्गमुक्त, सच्चा साम्यवादी मानव-समाज स्थापित कर सकेगा। यह विकास भी अनिवार्य है, इतिहास की प्रगति इसी दिशा में है।

मार्क्स क्यों आधुनिक साहित्य और कला की सबसे महान् प्रेरक शक्ति बना, इस संक्षिप्त परिचय के बाद कोई भी इस बात का सहज अनुमान कर सकता है। सोवियत रूस, चीन और पूर्वीय यूरोप के नये जनवादी देशों को छोडकर, जो मार्क्स के बताये पथ पर चलकर वर्ग-समाज की कालरात्रि से मुक्ति पा चुके है, विश्व के अन्य पूँजीवादी देशों के साहित्य और कला-संस्कृति में भी जो प्रवृत्तियाँ आज मनुष्य की प्रगति की आकांक्षी है, जिनसे आशा और उम्मीद का स्वर फूटता है, जिनमें जीवन के प्रति अनुराग और मानव-प्रेम है, जो स्थायी विश्व-शान्ति, आज़ादी और जनवाद की समर्थक है, ये सारी प्रवृत्तियाँ मार्क्स और मार्क्सवाद से किसी-न-किसी सीमा तक अवश्य प्रभावित है, क्योंकि सत्यान्वेषी कलाकार जीवन की वास्तविकता से विमुख नहीं हो सकते। आज पूँजीवादी जगत् मे साहित्य, कला और सस्कृति का ह्रास हो रहा है, क्योंकि अपने साम्राज्यवादी और फासिस्ट रूप में पूँजीवाद कला और

कलाकार, दोनों का उग्र विरोधी है। इसलिए कि वह जीवन-सत्य का विरोधी है। यही कारण है कि पूँजीवादी साहित्य में सच्ची कला का हनन हो रहा है और उसमें मनुष्य के सच्चे गौरव को उद्घाटित नही किया जाता, मनुष्य को मुक्तिकामी, साहसी और जीवन-प्रेमी बनने की उदात्त नैतिक प्रेरणाएँ नहीं दी जातीं, बल्कि उसे अनैतिक, हिंस्र, क्षुद्र, बर्बर, स्वार्थलोलुप और मानवद्रोही बनने की प्रेरणाएँ दी जाती है। ये सर्वविदित तथ्य है, मन से गढे हुए नहीं। इस समय विश्व-साहित्य में जो महान् प्रतिभा के स्रष्टा है, वे मार्क्स और मार्क्सवाद से प्रभावित है या उससे सहानुभूति रखते है और जनता के साथ उनकी कला का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अमरीका के होवर्ड फास्ट, डेनमार्क के एन्डरसन नीक्सो, जर्मनी के टामस मान, आयलैंड के ओ केसी, फ्रास के लुई अरागाँ, तुर्की के कवि नाजिम हिकमत, चिली के कवि पैब्लोनरुदा, दक्षिण भारत के महाकवि वल्लाथोल, हिन्दी के महाकवि निराला और पन्त, और पिछली पीढ़ी के गोर्की, बर्नार्ड शॉ, लू सून, मायाकोव्सकी, कॉडवल, रेल्फ फॉक्स, रोम्याँ रोलाँ, हेनरी बारबूज़, रवीन्द्र ठाकुर, शरत्, इकबाल, प्रेमचन्द आदि महान् कलाकारों ने मार्क्स से किसी-न-किसी रूप में प्रेरणा पाई है। अन्त में एक बात और। मार्क्स स्वयं अपने समय तक के विश्व-साहित्य और संस्कृति की जीवन्त परम्पराओं और महान् कृतियों के मर्मज्ञ अध्येता थे। शेक्सपियर, बाल्ज़क, गेटे, हाइने, शिलर, इब्सन आदि महान् लेखकों और ग्रीक साहित्य और कला के सम्बन्ध में उन्होंने यदा-कदा जो विवेचनात्मक मन्तव्य प्रकट किये, वे इतने मौलिक और वस्तुनिष्ठ थे कि उनके आधार पर एक ऐसे नये सौन्दर्य-शास्त्र और नई समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ है, जो प्राचीन और अर्वाचीन काव्य, साहित्य, कला और संस्कृति का सही वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में समर्थ है। इस मार्क्सीय समीक्षा-पद्धति और सौन्दर्य-दृष्टि के अनुसार प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकृति अपने युग की वास्तविकता के सार-तत्त्व का कोई-न-कोई पहलू अवश्य प्रतिबिम्बित करती है। कलाकार अपनी प्रतिभा से युग की मौलिक समस्याओ से और मनुष्य की चेतना और जीवन में अपना समाधान पाने के लिए उठने वाले उन केन्द्रीय प्रश्नों से उलझता है, जो मनुष्य के ऐतिहासिक संघर्षों को प्रतिबिम्बित करते है। सच्चा कलाकार सत्य का अन्वेषी होता है, इसी कारण वर्ग-समाज के सभी महान् कलाकार अपने समय के प्रह्लाद और प्रोमेथिमस थे, या है। सत्य का अन्वेषी होने के कारण ही कलाकार और उसकी कला जानिबदार होती है, तटस्थ और ग़ैर-जानिबदार नहीं, क्योकि एक वर्ग-समाज में जिस प्रकार शोषक और शोषित वर्गों की दो संस्कृतियाँ होती है, उसी प्रकार सत्य भी एक नहीं होता। एक सत्य उस वर्ग का होता है, जो इतिहास-पट पर अपनी लीला समाप्त करता हुआ मरणोन्मुख होता है और दूसरा सत्य जनता का होता है, जो इतिहास, कला और

संस्कृति का वास्तविक निर्माता है। यही वास्तविक सत्य है। यह सत्य इसी कारण अनैतिक नहीं हो सकता कि इसकी नैतिकता के मान-मूल्य जन-हित से ही सम्बन्धित होते हैं। मार्क्स और मार्क्सवाद इस आधार पर सत्य, एक मानववादी और कर्मप्रेरक नैतिकता से कला का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ता है।

कवि पन्त ने इसी मार्क्सीय विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है : "सत्य नही वह, जनता से जो नही प्राण-सम्बन्धित"। एक भ्रामक आरोप लगाया जाता है कि मार्क्सीय विचारधारा संस्कृति-विरोधी है, कलाकार की कला पर आर्थिक मतवाद का अकुश लगाती है और इस प्रकार कला-सस्कृति का हनन करती है। यह आरोप कितना हास्यास्पद है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है, क्योंकि अपने दीर्घ इतिहास-काल मे मनुष्य कभी संस्कृति के बिना नहीं रहा। संस्कृति का निर्माण ही उसने इसलिए किया कि वह अधिक समृद्ध, मुक्त और मानवीय जीवन बिता सके। मार्क्स के उदात्त विचारो से प्रेरित होकर विश्व की जनता समता और आज़ादी जिस मानवीय समाज का निर्माण कर रही है, या उसके लिए संघर्ष कर रही है, वर्ग-समाज की यन्त्रणाओ और अनाचारो से खडित मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णतः विकसित करके, उसे सकल विश्व और प्रकृति का स्वामी बनाने के लिए जो भगीरथ प्रयत्न कर रही है, वह क्या कला और साहित्य की मुक्तिदायी प्रेरणाओं की उपेक्षा करके सम्भव हो सकेगा ? सोवियत यूनियन, चीन और अन्य नये जनवादी देशों की वैज्ञानिक आर्थिक सफलताओ से ही नहीं, बल्कि उनकी सांस्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक सफलताओ से भी हमारे देश का शिक्षित और प्रबुद्ध समुदाय काफ़ी परिचित हो चुका है, और उनसे प्रेरणाएँ ले रहा है। अतः ऐसे भ्रामक आरोप मार्क्स और मार्क्सवाद पर असत्य का पर्दा नहीं डाल सकते। मार्क्स हमारे देश के आधुनिक साहित्य की भी प्रेरक शक्ति है। साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन इसका ज्वलंत प्रमाण है।

—अक्तूबर १९५२

१७

काश्मीर

दुनियाँ मे सभी देश सुन्दर है—कौन सा नही है ? यदि कोई देश सचमुच असुन्दर होता तो वहाँ मनुष्य न रहते। किन्तु इस बात को उलटकर कहना ही अधिक उपयुक्त होगा कि जहाँ कही मनुष्य का वास है, वह देश सुन्दर है। क्योंकि जिस देश की भी सम या विषम भौगोलिक परिस्थितियों के निरन्तर संसर्ग में रहकर मनुष्यो ने दीर्घकाल से अपना जातीय जीवन बिताया है, जहाँ के पेड़-पौधों, फल-फूल, पशु-पक्षियों के वे चिर-सहचर है, जहाँ की जलवायु और ऋतुओं—वर्षा, आतप, शीत के वे अभ्यस्त है, जहाँ के नदी-नालों, गिरि-बनों, सागर-झीलो और खेत-खलिहानों से उनके जातीय इतिहास की स्मृतियो और उनके दैनंदिक सामान्य कर्म-जीवन के अर्थ-सम्बन्ध और राग-तन्तु इतने गुंफित और भाव-प्रवण हो गये है कि वे प्रकृति के समस्त प्रकोपो और स्वेच्छाचारिता के बावजूद उसके साथ तादात्म्य और सामंजस्य स्थापित कर चुके है—वह देश कुल मिलाकर उन्हे सुन्दर ही लगता है। इसी लिए ध्रुव प्रदेश के असह्य शीत, सहारा के मरुस्थल और भूमध्य-रेखा की असह्य गरमी झेलने वाले प्राणी भी अपने देश को उतना ही प्यार करते है जितना कि विश्व के सुन्दर कहे जाने वाले प्रदेशो के निवासी। देश हो या और कुछ, मनुष्य से ही उनकी सुन्दरता और गरिमा है। मनुष्य का सामाजिक जीवन ही इन गुणों का प्रमाण और प्रतिमान है। विभिन्न प्रदेशों की विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों में रहने वाले मनुष्यो में आदि-काल से ही वस्तुओं के साथ-साथ अपने-अपने अनुभवो का भी आदान-प्रदान और विनिमय होता रहा है, जिससे मानव-जीवन की अपेक्षा में प्रकृत और मनुष्य-कृत वस्तुओ के मूल्य बनते गये है और उनमें तुलना करना संभव हो सका है। इसी लिए ऐसे वाक्यो में सार्थकता है कि 'काश्मीर पूरब का स्विट्ज़रलैण्ड है,' 'बाग़े-अदन है' या 'अर्ज़ीजन्नत' अर्थात् 'भू-स्वर्ग है'। इन वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ केवल इतना है कि मनुष्य ने अपने दीर्घकालीन और विश्व-व्यापी अनुभव से पाया है कि काश्मीर की तुलना या तो स्विट्ज़रलैण्ड और बाग़े-अदन से की जा सकती है या फिर कहना चाहिए कि पृथ्वी पर उससे सुन्दर और रमणीक देश दूसरा नहीं है। मुझे स्विट्ज़रलैण्ड या बाग़े-अदन देखने का सौभाग्य नहीं मिला, केवल पुस्तकों में ही उनके बारे में पढ़ा है या वहाँ के यात्रियो के मुख से उनके सौन्दर्य की महिमा सुनी है, और मुझे स्वयं अपनी मातृ-भूमि ब्रज-प्रदेश से हार्दिक

अनुराग है, जिसकी कुञ्ज-गलियों और करील-कछारों की मदिर सुन्दरता के गीत भारत के अगणित कवियों ने गाये हैं—फिर भी काश्मीर में लगातार चार वर्ष बिताकर और दुनियाँ के अन्य देशो के बारे में बहुत-कुछ पढ़-सुनकर आज मैं आपके सामने प्रथम चीनी यात्री ह्वान सांग और ओ-कॉग से लेकर अब तक काश्मीर गये असंख्य यात्रियो और दर्शको के विवरणो मे निरपवाद रूप से स्वीकार की गई इस बात में अपनी साक्षी भी जोड़ना चाहता हूँ कि काश्मीर वास्तव में एक अर्जीजन्नत या भू-स्वर्ग है—इस दृष्टि से नहीं कि वहाँ के निवासी ज्ञान-विज्ञान में सब से बढ़-चढ कर है और उनके देश मे इतना धन-धान्य पैदा होता है कि प्रत्येक काश्मीरी का जीवन संस्कृत और साधन-सम्पन्न है। इस दृष्टि से न तो बाहर के लोग ही और न काश्मीर के निवासी ही अपने देश पर अभी गर्व कर सकते है। इसके हेतु ही तो उनका 'नया काश्मीर' निर्माण करने का संघर्ष है जो अभी जारी है। किन्तु इस अर्थ मे काश्मीर अवश्य एक भू-स्वर्ग है कि उस पर प्रकृति ने मुक्त करो से अपना अपार वैभव, अपनी अनन्त सुषमा, अपना अनिंद्य सौन्दर्य निछावर किया है, जिससे उसकी भूमि का कोना-कोना स्वयं अपनी मिसाल बना हुआ है। काश्मीर जाने से हमारी सौन्दर्य-भावना कोमल और व्यापक बनती है। जिन्होने काश्मीर देखा है—दुर्भाग्य से ऐसे भाग्यशीलों की संख्या नगण्य है—उनकी मधुर स्मृतियो को जगाने के लिए, और जिन्होने नहीं देखा है, और अपने जीवन की विडम्बनाओ के कारण जो शायद ही कभी काश्मीर-यात्रा के लिए साधन और अवकाश जुटा सके, उन असख्य जनो के लिए आज मैं इस दर्शनीय भू-स्वर्ग की एक झाँकी दिखाना चाहता हूँ।

विशाल हिमालय प्रदेश मे काश्मीर की घाटी की स्थिति अपूर्व है। यह घाटी अगम अण्डाकार है और उसको चारो ओर से घेरने वाली हिम-किरीट-धारी पर्वत-मालाएँ भी असम अण्डाकार है, जैसे यह प्रकृति का विशाल एम्पीथियेटर हो। यदि पर्वत-शिखिरो से जोड़े तो इस घाटी की लम्बाई ११६ मील और चौड़ाई ४० से ७५ मील है। अन्यथा घाटी का निचला और अपेक्षाकृत समतल भाग दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम तक ८४ मील लम्बा और २० से २५ मील तक चौड़ा है। घाटी का समतल भाग कहीं भी समुद्रतल से ५ हज़ार फुट से नीचा नहीं है। इस विशाल उपत्यका के चारों ओर अँगूठी की तरह पर्वत-मालाओ का गहन, अटूट घेरा है। दक्षिणतम स्थान के कुछ भाग को छोड़कर हर दिशा मे ये पर्वत १० हज़ार फुट से अधिक ऊँचे है। अधिकतर उनकी ऊँचाई १३ हजार फुट से ज्यादा है और कहीं-कहीं पर उनके शिखर १८ हज़ार फुट की ऊँचाई तक पहुँचते है। दक्षिण मे बानहाल दर्रे से पीर पंचाल की हिमाच्छादित पर्वत-माला दक्षिण-पश्चिम से लेकर उत्तर-पश्चिम तक घाटी को अपनी विशाल भुजा मे घेरती है। पूर्वोत्तर, उत्तर और

उत्तर-पश्चिम से उच्च पर्वतीय श्रृंखला की एक दूसरी अटूट शाखा काश्मीर की घाटी को घेरता है, जिसमें कोहनहार, अमरनाथ, हरमुकट और काजनाग नाम के पर्वत और शिखर है, तथा लद्दाख जाने के लिए जोजी-ला और बलतिस्तान और गिलगित जाने के लिए राजदअन और दुदखुत के प्रसिद्ध दर्रे है। इस अँगूठीनुमा घाटी के मध्य के मैदानो की ओर पहाड़ो के जो ढलाव है, उनसे होकर सैकडो नदियाँ, नाले और झरने बहते है और घाटी के भीतर ही कही न कहीं वितस्ता (झेलम नदी) में जाकर गिरते है। पार्श्व की जिन छोटी-बडी उपत्यकाओ में से होकर ये सहायक नदियाँ बहती है उन पर सुन्दर देवदार के बनो का सघन आवरण छाया है और इन बनो से भी ऊपर उच्च पर्वतीय मार्ग अर्थात् मैदान और चरागाह है जो चिरस्थायी हिम से मंडित शिखरो तक फैले हुए है। काश्मीर को चतुर्दिक से घेरने वाले पर्वतो की महान् श्रृंखला में केवल एक दरार है। यह निकास घाटी के पश्चिमोत्तर सीमान्त में उस स्थान पर है जहाँ से सारी घाटी का पानी बटोरकर वितस्ता (झेलम) बारामूला के निर्गम-मार्ग से सिन्धु नदी मे मिलने के लिए बाहर को बह जाती है।

अनुमान कीजिए कि वैदिक सस्कृति से पूर्व मोहेन-जो-दाड़ो की अतीत-कालीन सभ्यता के समय से चली आनेवाली काश्मीरी जाति की सस्कृति की चारित्रिक विशेषता का रूप-निर्माण करने में चारों दिशाओं में प्रहरी रूप में खड़े इन पर्वतो की अभेद्य सुरक्षा-पांत ने कितनी सशक्त और अटूट प्रेरणा न दी होगी? काश्मीर घाटी की विलक्षण भौगोलिक स्थिति की इस बाह्य रूपरेखा को ध्यान मे रखना चाहिए, क्योंकि सहस्रों वर्षों से वहाँ के निवासी अपने चरणों से उसके दुर्गम पर्वतों और सुरम्य घाटियो के ओर-छोर नापते आये है। अपने विस्मय, जिज्ञासा और अनुराग-भरे हृदय से उन्होंने प्रत्येक स्थान का नामकरण किया है। सहस्रों वर्षों के सामाजिक साहचर्य्य और राग-सम्बन्धो का इतिहास इन स्थानों और उनके नामो से संबद्ध है। उनके इतिहास की इस दीर्घ सांस्कृतिक परम्परा को जाने बिना ही श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव, अमरनाथ आदि का भ्रमण करके लौट आने वाले यात्री केवल 'जो-है' वही देख आते है। किन्तु 'जो-है' वह पहले 'क्या-था' और आगे 'क्या-हो सकेगा'—इस भूत और भविष्य की झाँकी उन्हे देखने को नहीं मिलती। ऐसा देखना तो वस्तुतः ऐसी परिसीमित और एकांगी दृष्टि से देखना हुआ जिसमे चीजें अचल अवस्था में ही दीखती है, अपने गतिशील सजीव रूप में नही अर्थात् उनका अतीत हमसे कुछ नही बोलता, उनका वर्तमान हमारे लिए अपने ऐतिहासिक विकास और परिवर्तन की कोई मूर्त्त सार्थकता नहीं रखता और न भविष्य की ओर इशारे ही करता है। इससे काश्मीर-यात्रा का मूल्य तात्कालिक आमोद-प्रमोद तक ही सीमित रह जाता है। किन्तु यदि आपको ज्ञात हो कि काश्मीरी भाषा में कूकरनाग, वेरीनाग

अनन्तनाग आदि नामों के पीछे लगे 'नाग' शब्द का अर्थ साँप नहीं बल्कि 'चश्मा' है, और काश्मीर में ऐसे असंख्य चश्मे हैं, संभवतः प्रत्येक गाँव में हैं, और यह भी ज्ञात हो कि काश्मीरियों की दृष्टि में ये चश्मे, झीलें, झरने और नदियाँ स्वयं-भू देवी-देवता हैं, तो आपको उनके आर्थिक सामाजिक महत्त्व के साथ-साथ उनके अतीत इतिहास का भी अनुमान लग सकेगा। काश्मीर के अधिकाश प्राचीन, सांस्कृतिक और धार्मिक केन्द्र बड़े-बड़े चश्मों के स्थान पर है। काश्मीर में शायद ही कोई मन्दिर, मठ, विहार मस्जिद, मक़बरा या ज़ियारत होगी जिसमें स्वच्छ, निर्मल, मधुर जल का चश्मा न हो। धार्मिक भावना से मुक्त होने पर भी जब मैं काश्मीर के गाँव-गाँव में स्थित अपने देखे ऐसे सहज-सुन्दर पवित्र स्थानो की वहाँ की पुराणों और माहात्म्यो में बखान की गई अनुश्रुत धार्मिक महिमा का वर्णन पढ़ता हूँ तो काश्मीरियों के अतीत इतिहास के इस रहस्य पर विस्मय किये बिना नहीं रहता कि उन्हे किस प्रकार आदि-काल में ही इन चश्मो, नदियों, झरनो और झीलो की उपयोगिता का अनुभव करके ही अपनी सरल कल्पना से उन्हे मानव-गुण सम्पन्न व्यक्तित्व की महिमा से मंडित करना पड़ा होगा—तभी तो वे देवी-देवता, अर्थात् मानवीय कर्म, विवेक और नैतिक आचरण के प्रतिनिधि और साधारण जनो के सच्चे मित्र, सहचर और नेता के रूप में उनकी कल्पना में साकार हो सके। उनकी आधिदैविक उत्पत्ति के उपाख्यान उस अतीत की निशानी है जब लोक-चेतना, दैवी चमत्कार और धर्म में मनुष्य की आस्था के माध्यम से ही व्यक्त होती थी। जो भी हो, यह विस्मय-भावना उन सहज-सुन्दर स्थानों की सौन्दर्यानुभूति को हमारे अन्दर और भी व्यापक और गहरा बना देती है।

आप यदि सड़क के मार्ग से जायें और बानहाल दर्रे की सुरंग के भीतरी द्वार पर खड़े होकर नज़र दौड़ाएँ या हवाई जहाज़ से नीचे झाँककर देखें, या गुलमर्ग से, या महादेव की चोटी से या श्रीनगर स्थित गोपादरी (शकराचार्य) की पहाड़ी से खड़े होकर घाटी पर विहगम दृष्टि डाले तो आपको काश्मीर की अण्डाकार घाटी का विशाल ऐम्फीथियेटर एक विचित्र रंग-बिरगी आभा में ढँका दिखाई देगा। इतनी हरियाली आपको अन्यत्र देखने को शायद न मिले। घाटी के निचले मैदान से लेकर पार्श्व की करेवा-भूमियों पर से होकर पहाड़ियो और पर्वतो तक फैले हुए स्वच्छ-जल में डूबे हुए धान के हरे-पीले-लाल-काले खेत ऐसे लगते है जैसे अनन्त सोपानो की एक जटिल शृंखला सामने हो। फिर श्याम रंग के घने वनो की दीर्घ करधनी और उनके भी ऊपर आँखो को चकाचौंध करने वाला बर्फ का चमचमाता विस्तीर्ण आँचल है, जिसके हिमशिखरों की लम्बी पाँत को काश्मीरी अपनी भाषा में 'संगरमाल' कहते है, जिसे सूर्य की किरणें सबसे पहले उषा की लाली में रगकर प्रतिभासित कर

देती है और जिसके पीछे संध्या का सूर्य गिरते-गिरते घाटी में ऐसा अबीर छिटका जाता है कि पृथ्वी और आकाश लाल रग मे नहा जाते है, और सूय की इस चुहल पर सहसा इकबाल का यह शेर याद आजाता है कि

सूरज ने जाते जाते शामे-सिय कबा को।
तश्ते उफक से लेकर लाले के फूल मारे ।।

[अर्थात्—श्याम रग के वस्त्रो मे सजी सध्या सुन्दरी को सूरज ने जाते-जाते अरुण क्षितिज की तश्तरी से उठाकर गुलेलाला (लाल रग का काश्मीरी वन-कुसुम) फेंक मारे।]

और सर्दियो में जब वहाँ प्रकृति बर्फ की श्वेत चादर ओढकर धीर-गंभीर मुद्रा में वसन्त और ग्रीष्म की अपनी उन्मादकारी रंगरेलियो की टीसभरी याद सँजोये शान्त बैठी बिसूरती रहती है, उस समय लगता है मानो उस पर वैधव्य छा गया है। परन्तु अपनी इस निढाल, निश्चेतन अवस्था में उसका व्यक्तित्व और भी शुचितर, पुनीत और उदात्त हो जाता है। ये सारे मनोरम दृश्य किसी भी व्यक्ति को आनन्द-विभोर और विमुग्ध करने के लिए पर्याप्त है।

बानहाल का दर्रा पार करते समय बायीं ओर पीर पंचाल की पर्वत-माला की १५ हज़ार फुट ऊँची तीन चोटियाँ नज़र आती है। इन्हे काश्मीरी 'अमसकल' कहते है, जिसका अर्थ हुआ 'ब्रह्म-शिखर'। काश्मीर की नीलमत पुराण के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने इन शिखरो पर चढकर घाटी में रहने वाले दानव 'जलोद्भव' से संघर्ष किया था। इनमें से अन्तिम चोटी प्रसिद्ध नौ-बन्धन तीर्थ का स्थान है। नीलमत और भारतीय प्रलय-कथा के अनुसार विष्णु ने अपने मत्स्य अवतार के समय अपना जलयान (अर्थात नौ') इसी शिखर से बाँधा था। दुर्गा ने प्राणि-जाति को प्रलय से बचाने के लिए इस शिखर के रूप मे अपने को परिवर्तित कर लिया था। इस शिखर के चरण में उत्तर-पश्चिम की ओर दो मील लम्बी एक पहाड़ी झील है, जिसका नाम कौसरनाग है, अर्थात् क्रमसरस या क्रमसार, जिसका अर्थ हुआ कि यह विष्णु का एक क्रम (चरण-चिन्ह) है। नौ-बन्धन यात्रा का यही वास्तविक स्थान है। बाहर से जाने वाले यात्री अमरनाथ तो जाते है, लेकिन नौ-बन्धन तीर्थ की ओर नहीं जाते, यद्यपि इसके मार्ग में भी अनेक अनुपम दृश्य है, जिनमें काश्मीर का सबसे सुन्दर और दर्शनीय अहरबल का आबशार (जल-प्रपात) है, जिसकी चौड़ी-मोटी धारा दो सौ फुट की ऊँचाई से नीचे गिरती है और समीपवर्ती वन-गिरि-प्रान्तर में जिसका उछलता-बलखाता गर्जनकारी संगीत निरंतर गूँजता और प्रतिध्वनित होता रहता है। इसके लिए मार्ग 'शोपियाँ' के नगर से होकर जाता है जो मुग़लकालीन मार्ग पीर पंचाल के दर्रे के चरण में रम्बियार नदी की घाटी के मुख पर स्थित है।

दस-पन्द्रह दिन का अवकाश निकालकर काश्मीर गये यात्री के सामने श्रीनगर पहुँचकर एक धर्म-संकट-सा उपस्थित हो जाता है। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि कहाँ-कहाँ जाये। वह श्रीनगर से बाहर पीर पंचाल की गोद में फैले मैदान गुलमर्ग की सैर को जाये, जो विदेशी राज के दिनों अंग्रेज़ों का ग्रीष्म-निवास था, जहाँ के उच्च पर्वतीय मैदान को चारो दिशाओं से देवदार-वृक्षों की पाँत घेरती है, जहाँ यात्रियो के लिए गोल्फ, सिनेमा, नृत्य-क्लब आदि सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद की आधुनिक सुविधाएँ प्राप्त है, जहाँ से संध्या के समय पश्चिमोत्तर बल्तिस्तान मे स्थित २६ हज़ार फुट ऊँचे नंगा पर्वत की बरफाने बादलो मे घिरी विराट चोटी दिखाई देती है और जहाँ से पीर पंचाल के एक और उच्च पर्वतीय मैदान खेलनमर्ग और उससे भी ऊपर उसके हिमांचल में फैली अलपत्थर झील के अद्भुत दृश्य देखने को जाया जा सकता है। या फिर वह लिदर नदी की घाटी में स्थित पहलगाँव जाये, जिसके मार्ग में पाम्पुर के केसर के विस्तीर्ण, समतल खेत आते है, अवन्तीपुर में अवन्तीस्वामी के विशाल मन्दिर के ध्वंसावशेष सड़क के किनारे ही देखने को मिलते है—जिसे नवीं शताब्दी में यशस्वी राजा अवन्तीवर्मन ने बनवाया था, फिर अनन्तनाग या इस्लामाबाद का नगर आता है, जहाँ के खिलौने, स्त्रियो के प्रसाधन की रंग-बिरंगी काश्मीरी वस्तुएँ, गब्बे और लोइयाँ प्रसिद्ध है और गन्धक के बड़े-बड़े चश्मे है और ऐश मुक़ाम आता है, जहाँ पहाड़ी पर कबीर जैसे संत-कवि शेख़ नूरुद्दीन के शिष्य की अत्यन्त भव्य ज़ियारत है, जिसमें एक गहरी कन्दरा के भीतर ऐश साहब की क़ब्र है। और फिर पहलगाँव—जहाँ पहुँचकर प्रकृति के एक विचित्र सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है, जहाँ दो घाटियों से आई धाराओं का संगम है और पानी उच्छल गति से अविराम कल-कल करता बहता है और देवदार के वनों की सनसन बहती पवन में एक मादक सुरभि भरी रहती है—जहाँ से एक धारा के सहारे चलकर हमें चन्दन-बाड़ी, शेषनाग, पंचतरणी, वायुजन और अमरनाथ के प्रारंभ में हरे-भरे किन्तु बाद में उजाड़ और उदास शिलाओं और तुषार-नदों के दर्शनीय स्थान मिलते है, दूसरी ओर लिदर नदी की धारा के सहारे चलकर हम लिदरवत पहुँचते है जहाँ से कोलाहाई का विस्तीर्ण तुषार-नद शुरू होता है। या फिर वह अनन्तनाग से आगे एक दिशा में हटकर स्थित मटन के तीर्थ को देखने जायें, जहाँ के पण्डे काशी और मथुरा के पण्डों की ही तरह अपनी सात पुश्तो में पहली बार काश्मीर गये यात्री को भी पोथियों में से निकालकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चला आया यजमान सिद्ध करने में प्रवीण है और जहाँ से लगी हुई करेवा भूमि पर स्थित मार्तण्ड के विशाल मन्दिर का ध्वंस है जो प्राचीन काश्मीरी स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है। या वह अनन्तनाग से आगे बढ़कर एक तिकोनी पहाड़ी के चरण में स्थित अच्छाबल के मुग़लकालीन बाग की सैर को

जाये, जहाँ के चश्मे का मधुर धातु-मिश्रित पानी स्वास्थ्यवर्धक है। या फिर वह अनन्तनाग से ही एक ओर दिशा में मुड़कर वेरीनाग जायँ जिसका विशाल हरे रंग का पक्का चश्मा वितस्ता का उद्गम-स्थान है, जिसमें असख्य रग-बिरंगी मछलियाँ क्रीड़ा-कौतुक करती रहती है, जिन पर पड़ने वाली सूर्य-रश्मियाँ पानी के अन्दर छोटे-छोटे इन्द्रधनुष बनाती-बिगाड़ती रहती है—इस दृश्य को यदि उसके पास केमरा है तो फिल्म पर, नहीं तो अपने हृदय-पट पर सदा के लिए अंकित कर लाये। या फिर वह इन सब स्थानो का प्रलोभन छोडकर पश्चिमोत्तर दिशा में गाँदरबल होता हुआ सिन्धु-गगा की सुरम्य घाटी में भ्रमण के लिए निकल जाय, जहाँ कगन के मैदान में पिकनिक करे, या और आगे बढ़कर गुलमर्ग जैसे ही एक दूसरे पर्वतीय मैदान सोनमर्ग में जाकर अपना तम्बू गाड़ दे, जहाँ भूर्जपत्र के वृक्ष एक अनोखा ससार बसाते है, जहाँ से हरमुख (हरमुकट) पर्वत की विशालता का संपूर्ण दृश्य मन-प्राण पर छा जाता है। या फिर वह सोनमर्ग न जाकर, यदि मौसम ठीक हो तो हरमुख पर्वत पर ही क्यों न चढ़े, जिस पर काश्मीर के अनेक प्राचीन तीर्थ-स्थान है, जहाँ १३ हज़ार फुट की ऊँचाई पर गंगबल की झील है जो सिंधु-गंगा का उद्गम स्थान है और नन्दकोल नाम की झील है, जिसका प्राचीन नाम नन्दीसरस है और जो उपाख्यानो के अनुसार शिव और उनके नदी का निवास-स्थान है। नंदी-क्षेत्र की झीलो से निकलने वाली नदी कानकनई (कनकवाहिनी) की घाटी मे ही बुथिशेर (शिव भूतेश्वर) और ज्येष्ठेश्वर के प्राचीन मन्दिरो के ध्वसावशेष है। या फिर वह यात्री घाटी के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित काश्मीर की सबसे बड़ी झील वूलर झील की विशालता का आनन्द लेने जाये, जहाँ किसी सागर के किनारे खड़े होने का भ्रम होता है और जिसमें तीसरे पहर बल्लिस्तान के नंगा पर्वत की ओर से आये तीव्र प्रभंजन से ऐसी उत्ताल तरंगें उठती है कि भीषण तूफ़ान का समा बँध जाता है—या फिर वह लोलाब की सुन्दर घाटी में घूमने के लिए निकल जाय, जो प्रेमियो के एकान्त भ्रमण के लिए सबसे उपयुक्त और मनोरम घाटी है।

इस कल्प-विकल्प मे कि कहाँ जाया जाय और कहाँ न जाया जाय, अक्सर यात्री कोई निश्चय न कर पाकर श्रीनगर की डल झील या सर्पाकार बल खाती हुई झेलम नदी की सुन्दर-सुहानी हाउस-बोटो की आरामदेह ज़िन्दगी को ही काश्मीर यात्रा की चरम-पूर्ति मानकर वहीं टिक रहते है, और अधिक से अधिक श्रीनगर के दर्शनीय स्थानो, जैसे मुग़लकालीन चश्माशाही, निशात, शालीमार और नगीन बागों को देख आते है, हारवन की झील और बौद्धकालीन खडहरों का चक्कर लगा आते है, शाह हमदान और जामा मस्जिद की सुन्दर स्थापत्य-कला के दर्शन कर लेते है और गोपाद्री की पहाड़ी पर स्थित शंकराचार्य के प्राचीन मन्दिर से सारी घाटी और

श्रीनगर पर एक विहगम दृष्टि डालकर अपनी तृप्ति कर लेते हैं। किन्तु इतने से ही सन्तोष करके लौट आना काश्मीर न जाने के बराबर है। काश्मीर जाने वाले यात्री को तो ऐसे विकल्पो का सामना करना ही पड़ेगा, क्योंकि वहाँ की प्रत्येक उपत्यका, प्रत्येक स्थान अनुपम रूप से सुन्दर है।

—दिसम्बर १९५१

मूल्यांकन

१८

मौत और दोशीज़ा

[रहमान राही]

१

इक बार शाहे ज़ार मात खा के कारेज़ार से
चन्द इक बचे-खुचे मुशीर हमसफर लिए हुए
इक गाँव में से आ रहा था नामुराद लौट के
ग़ुस्से में ग़र्क़ दिल को बरअफरोख़्ता किये हुए
इतने में इक शजर की ओट से किसी दोशीजा का जवान कहकहा उठा
और शाह के जिगर मे जैसे आग सी लगा गया
जोशे गज़ब से लाल अबरूओ की वह कमानियाँ कडक गयी
और शह का राहवार दफअतन उधर को पिल पडा,
यह देख के मुसाहिबीने शाह भी
उसी तरफ झपट पडे ।
अपने लिबासे अस्करी को खडखडा के शाह चीख चीख उठा
और उस दोशीज़-ए-जमील पर वह यूँ बरस पडा,
'फूहड ! निकालती है दाँत अब भी तू, यह किस पै हँस रही है यूँ मनहूस की तरह ?
क्या देखती नही मुझे मेरे हरीफ ने
मैदाने कारज़ार मे क्यूँकर हरा दिया ?
जाँ बाज़ मेरे ढेर हो गये है और बेशुमार फौज हाथ से गयी
पलटा हूँ घर की ओर कुमक साथ ले चलूँ
मै तेरा शाहे ज़ार हूँ और तू मेरी मुसीबतो पै कुडकुडा रही है इन्बिसात से ?'
सुनकर यह बदकलामियाँ वह पैकरे जमाल
अपनी जवान उभरी छातियो पै इक नकाब डालने लगी

शाहे ज़ार=लाल क्रान्ति से पूर्व रूस का सम्राट्; कारज़ार=जग; मुशीर=सलाहकार, बरअफरोख़्ता=जला-भुना; शजर=सुन्दर वृक्ष, दोशीजा=युवती, कुमारी; अबरू=भौहे, राहवार=तेज़ रफ़्तार घोड़ा; दफअतन=अचानक, हठात्; लिबासे अस्करी=ज़िरहबख़्तर; जमील=ख़ूबसूरत, हरीफ=दुश्मन; इन्बिसात=अपार ख़ुशी, बदकलामियाँ=अपशब्द, गाली-गलौज; पैकरे जमाल=हुस्न या सौन्दर्य की प्रतिमा ।

शर्मिन्दगी के दाग़ से महफ़ूज शादमानियाँ
अब भी टपक रही थी उसकी एक-एक बाल से
"मेरे बुज़ुर्गवार शाहे ज़ार अपनी राह लें
मैं अपने दिलरुबा से हमकलाम हूँ
और दोनो शादमाँ है हम ।
इस इश्को-आशिकी मे भला किसको शाह का ख्याल
हँसते है ज़ार या उन्हे आया है कुछ मलाल ?
कन्दीले ज़ौफेगन वह मकामाते पाक की
है मान्द सारी शम-ए-मुहब्बत के सामने ।"
कहरो गज़ब से शह के तन बदन मे आग लग गयी
और काँपते हुए कडक के बोल उठा,
"इस बे-अदब को करलो गिरफ्तार, या अभी,
हाँ हाँ अभी, यही पै घोट के गला
बतलाओ इसे कि हद से बढने वाले बेवकूफो की सज़ा भी होती है बडी ।"
इस पर जो शाह के मुसाहिबीने पुरगरूर के
तेवर बिगड के रह गये तो फूँक मार के चिरागे हुस्न को बुझा दिया,
बदबख्त भूत टूट पडे जैसे एक साथ
यूँ उस दोशीज़-ए-जवाँ को ठूँस कर फना की गोद मे खामोश कर दिया ।

२

मौत हमेशा से है बदकिरदार के ताबे मगर
आज उसमे भी हुआ बेदार एक बागी खरोश
आज उसके भी दिले वीराँ मे जमकर जी उठे
बीज इश्को-जिन्दगी के और बहारो की जवानी को हँसी आने लगी
हर घड़ी सडती हुई लाशों में उठना बैठना
रात-दिन बस रीगती बीमारियो से खेलना
कितने बेहूदा मशागिल ।

महफूज़=सुरक्षित, शादमानियाँ=चरम खुशियाँ; दिलरुबा=महबूब, प्रेमी; शादमा=बेहद खुश, कन्दीले ज़ौफेगन=रोशनी फैला रहे झाड-फानूस, मकामाते पाक=पवित्र स्थान (गिरजाघर), मान्द=बेनूर, मन्द ।

बदकिरदार=बुरे काम करने वाला, खरोश=स्पन्दन; मशागिल=काम-धन्धे ।

काश, मैं इनसे खलासी पा सकूँ,
मौत के जी में ज़रा आराम से जीने की ख्वाहिश जी उठी
गिरिय-ए-दहशतफजा—
हर किसी का इत्तेसाले आखिरी मे तर्जे तस्लीमात होता है यही
कर चुकी अब वह बशर की ज़ूद अजामी का मातम बे-हिसाब
दहशते, नौहे, जनाज़े, अश्कबारी, मकबरे
मुन्हमिक मसरूफ और इक सै-ए-ना-मसऊद मे
रतबोयाबिस से ज़मी को पाक करने मे बड़ी मश्शाक है
और फिर पहलू-तीही से मावुरा
लेकिन इस सारी मशक्कत का एवज़
बददुआ-ए-इब्नेआदम के सिवा कुछ भी नही,
मौत इस लानत-मलामन से बडी रजीदा होकर कारवाने ज़ीस्त पर
और बेदरदी से धावा बोलती है कत्लोगारद के लिए
और कभी इस आलमे कहरोगज़ब मे चूक कर
ज़ैद के बदले उमर या बकर को देती है पैगामे फना
अब भी क्या शैता से रखकर अहदे-उल्फत उस्तवार
मौत को अपने जिगर की गर्मजोशी के लिए
हिद्दते दोज़ख मे दम लेते ही रहना चाहिए ?
अब भी क्या इस ज़िश्त सूरत काले शैता से उसे
अपने दामन को छुडाने पर न आना चाहिए ?

३

जुर्रत से इन्तज़ार में मनहूस वार के
जुर्रत से देखती है वह दोशीजा मौत को

खलासी=छुटकारा, गिरिय-ए-दहशतफजा=भयकारी रोना-धोना, इत्तेसाले आखिरी=आखिरी मुलाकात (मौत के समय), तर्ज़े तस्लीमात=आदाब (अभिनदन) का ढग ; बशर=इन्सान, ज़ूद अजामी=क्षणभगुरता, नौहे=मरने पर रोना, मुन्हमिक=दत्तचित्त, मसरूफ=व्यस्त, सै-ए-ना मसऊद=अप्रिय चेष्टा, रतबोयाबिस=कूडा-करकट, मश्शाक=निपुण, पहलू-तीही=कन्नी कतराना, मावुरा=ऊपर, बालातर, एवज़=पुरस्कार, बदला, इब्नेआदम=इन्सान, कारवाने ज़ीस्त=जिन्दगी का कारवा, कहरोगज़ब=क्रोध; अहदे उल्फत=प्रेम-बन्धन, उस्तवार=दृढ, हिद्दते दौजख=नरक की ज्वाला; ज़िश्त सूरत=वीभत्स आकृति वाले ।

श्रौर मौत अपने सैदे बे-खता पै रहम खा के आहे-सर्द भर के बोल उठी,
"अफसोस तू अभी बहुत सगीर सिन है, हाय हाय,
क्यो तू ने शाहे जार को गुस्ताखियो से अपनी यूँ नाराज़ कर दिया ?
हाँ अब तो मुझ पै फर्ज है कि छीन लूँ यही पै तेरी जिन्दगी।"
यह सुन के वह जमाले बेमिसाल चहचहा उठी
हो जैसे पुरमज़ाक बात कोई छेडछाड की
"औरो को देखे कोई भला क्यो हो बदगुमान ?
उस सब्जाजारे पुरबहार में, वहाँ पै हाँ वहाँ
मै अपने दिलरुबा से ले रही थी अव्वलीन बोस-ओ कनार
क्या उस समय मै सोच भी सकती थी शाहे जार
आया वह मात खा के आ रहा है खश्म से भरा ?
बेशक मै हमकलाम शाह से हुई
लेकिन सुनो तो मैने उससे क्या कहा,
"मेरे बुजुर्गवार शाहे जार अपनी राह ले"
मै समझी मेरा तर्जे तकल्लुम है खुशगवार
मेरे तो दिल में कोई शक व-शुबह भी न था
इतनी सी बात थी मगर देखो तो इसका क्या बतगडा बना के रख दिया
अब तुझसे छूटने की भी हर राह मुझ पै बन्द है
और तू यह जानती है कि तकमीले-इश्क के बगैर मौत कितनी सख्त है,
ऐ प्यारी मौत ! इज़्न दे कि एक बोसा और लूँ
बस एक बोसा और फिर यह खंजरे-अजल जो चाहे कर चले।"
नयी थी मौत के लिए यह भोली खुश-बयानी उस हसीन-ए-जवान की
किसी ने आज तक कभी भी मौत से
न की थी इस तरह की कोई इल्तिजा
वह सोचने लगी कि "जी सकूँगी किस तरह मै जब
वह मस्ते बोस-ओ-कनार होगे और उनका वह लतीफ लम्स···"

सैदे बे-खता = बेगुनाह शिकार, सगीर सिन = बाला उमर; बोस-ओ-कनार = चुम्बन और आलिगन, खश्म = गुस्सा, तर्जे तकल्लुम = बात करने का ढग, तकमीले-इश्क = प्रेम की पूर्ति, इज़्न = इजाजत, खजरे अजल = मौत का खजर, इल्तिजा = प्रार्थना, दरखास्त; लम्स = स्पर्श।

यह सोच के जो उसकी बूढी हड्डियों में एक आँच-सी उठी
तो मौत अपने साँप को सकूत का इशारा दे के बोल उठी.
"जा मेरी खूबरू ! तू आज रात ऐश से गुज़ार
जा सुबह तक ले अपने दिलरुबा से बोस-ओ-कनार
यह रात तेरी रात है जा इसकी कद्र कर
मैं पौ फटे ही माँग लूँगी तुझसे तेरी ज़िन्दगी।"
यह कह के मौत बैठी एक सगे गर्म का सहारा ले के जिसमे आँच थी .
श्वाए आफताब की
जब साँप खजरे अजल पै दाँत फेरने लगा
और वह दोशीज़-ए-हसी खुशी से झूम-झूम उठी
तो बूढी मौत बडबडाई, "जा री जा, कि वक्त मुख्तसर है जा।"

४

हल्की-हल्की सेक देकर मीठी-मीठी धूप ने
मौत को आहिस्ता से मस्ती पै मायल कर दिया
फेंक कर गन्दे पुराने पूले अपने एक ओर
वह बडे आराम से उस बेजरर पत्थर पै खुल कर सो गयी
लेकिन इक ख्वाबे परीशा ने उसे अफसुर्दा खातिर कर दिया
देखती क्या है कि काबील, उसका बाप
अपने बेईमान ठिठ्राते हुए पोते के साथ
इक सधाये साँप की सूरत उस अनजानी बुलन्दी की तरफ
रींगता है अपने जौफौनातवानी का पता देता हुआ
आसमा की ओर अफसुर्दा नजर बाँधे हुए

सकूत=खामोश रहने का; खूब रू=सुन्दर मुख वाली; सग=पत्थर; श्वाए आफनाब=सूर्य किरण; मायल=प्रवृत्त।

पूले=घास के जूते, बेज़रर=जो तकलीफ न दे, अफसुर्दाखातिर=व्यथित हृदय, काबील=(नाम) इस्लामी पुराणो के अनुसार प्रथम पुरुष आदम के दो बेटे थे, काबील और हाबील। काबील ने अपने भाई हाबील की हत्या करके सब से पहले मौत को जन्म दिया था, इसलिए वह मौत का बाप कहा जाता है, काबील का पोता यहूदा था जो ईसा का शागिर्द था लेकिन उसने ईसा को धोखा देकर बेच डाला था, जौफोनातवानी=कमज़ोरी, क्षीण शक्ति; अफसुर्दा=ग़मगीन, दुखी।

गिड़गिडाया बूढा काबील, "ओ खुदा ! मेरे खुदा !"
"ओ खुदा !" वह दूसरा बदकार पोता भी दुहाई दे गया
जिसकी नज़रो से था धरती का कलेजा दाग दाग
और ऊपर वह सरे कोहसार पर गुलरग बादल के सगिस्ताँ मे खुदा
बैठकर आराम से
पढ रहा है इक वसी और इक दुरख्शन्दा किताब
तारे है अल्फाज़ जिसके और कारी की बसीरत को बढा देते है जो
और यह सारी कहकशाँ बस इक वरक।
एक आलीशा फरिश्ता अपने गोरे-गोरे हाथो मे लिए
बर्क का कोदा सरे कोहसार पर इस्तादा है
उसने इन आवारा राहगीरो को यह फरमा दिया
"दूर हट जाओ, खुदा का तुम से कोई काम क्या ?"
"रहम मीकाईल हम पर रहम !" बूढे ने यह चिल्ला के कहा,
"मै हूँ किस दरजे का पापी यह मुझे मालूम है
मेरी बदकारी पै शाहिद है सभी मारे गये
मै वह बदबख्तो लई हूँ जिसके हाँ से मौत ने पाया जनम।"
"रहम मीकाई !" यहूदा भी उज्र खाँ हो गया,
"हाय मेरे पाप तो काबील से भी बढ के है
हाँ हाँ मेरी ही दगाबाज़ाने जुम्बिश के तुफैल
मेहरसूरत वह खुदा का लाल भी मारा गया।"
और फिर दोनो ने मीकाईल से की एक होकर इल्तिजा,
"प्यारे मीकाईल ! मालिक तक हमारी यह गुज़ारिश ले के जा
एक बार उस आलमे अकदस से हम पर रहम का इक लफ्ज़, हाँ हाँ
रहम आसार इक झलक नाज़िल करे।"

कोहसार=पहाड, संगिस्ता=सगमरमर की चट्टान जो जल से ऊपर निकली हो; वसी=व्यापक, दुरख्शन्दा=चमकती हुई, कारी=पाठक, बसीरत=ज्ञान की रोशनी, कहकशा=आकाश-गगा; बर्क=बिजली, सरे कोहसार=पहाड़ की चोटी; इस्तादा=खडा; मीकाईल=खुदा का प्रहरी फरिश्ता, शाहिद=गवाह; लई=धिक्कार के पात्र; हा से=कोख से; उज्र खा=माफी चाहने वाला ; जुम्बिश=इशारा, सकेत, तुफैल=वजह से; मेहरसूरत=सूरज की शकल वाला, खुदा का लाल=ईसा मसीह; आलमे अकदस=पवित्र नगर ; नाज़िल=डाल देना।

सुन के यह अर्ज़े गुनहगाराँ, फ़रिश्ता ने कहा,
"तीन बार अब तक मै कह आया हूँ मालिक से तुम्हारी रुएदाद
पहली दो बार तो वह ऐसी खामोशी में रहा
जैसे कुछ सुनने मे आया ही न हो
और जब आखिर मे सुन पाया तो यो गोया हुआ,
"याद रख ले मौत का जब तक रहेगा ज़िन्दगी पर अख्तियार
ना तो वह काबील और ना ही वह उसका हमनवा
छूट पायेगा कभी,
दर खुरे अफ़वो इनायत है वह फातेह बन के जो
मौत के हाथो से छीनेगा हमेशा के लिए
खंजरे मर्ग आफरी।"
इस पै वह पोता, वह गद्दारे अज़ल
जिसने बेचा था खुदा के लाल को
और बिरादरकुश वह, काबीले लईं
जिसके हाँ से मौत पाई थी जनम
अपनी बदहाली पै कराहते हुए
लड़खडा कर गिर प े दोनो वह उस कोहसार से
और नीचे इक अफूनत से भरे दलदल में ग़ोते खा गये
इस पै इब्लीस और उसके साथियो ने झूम कर
उनकी वह दुर्गत बनायी जिसके वह हकदार थे
और भी नीचे धँसा के उस सियह दलदल में उन पर अपनी शोलाबारियाँ भी थूक दी।

५

जवान हो चुका था दिन कि मौत ख्वाब से उठी
"कहाँ है वह दोशीज़ा ?" मौत इक नज़र घुमा के ढूंढने लगी
और ऊँघते में बडबड़ाई 'हत्तेरे की बदतमीज़ !
यह इतनी रात और यह सुबह भी थी जैसे मुख्तसर !'
ग़ुनूदगी में इक गुले सितारा तोड कर वह सोचने लगी

रुएदाद=कहानी, हमनवा=साथी; दरखुरे अफवो इनायत=बख्शीश के लायक;। फ़ातेह=विजयी, मर्ग आफरीं=मौत लाने वाला; अज़ल=चिरकालिक, बिरादरकुश= भाई की हत्या करने वाला; अफूनत=सडांध, इब्लीस=Devil, गुमराह करने वाला शैतान; शोलाबारियाँ=हिक़ारत की चिनगारियाँ। ग़ुनूदगी=उनींदी हालत

कि आफताब इसके सिर पै कैसे बुन रहा है एक दायरा-सा नूर का
वह कैसे अपनी शोला-सा श्वा से चुन के इसके बर्गे रेशमी
वह कैसे इनमे रग भर रहा है रंग-रंग के
यह बात मौत की समझ से कुछ बुलन्द इक अनोखी बात थी
तमाज़ते श्वाए आफताब से भडक के मौत गा उठी,

"इन्सान बडी बेदर्दी से
अपने ही अज़ीज़ इन्सानो का
ख़ुद ख़ून बहाया करते हैं
और ज़ेरे ज़मी दफना के उन्हे
बख़शिश के जनाज़े पढते हैं,
'मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !'
इन्सा को समझना मुश्किल है
इन्सा को समझना मुश्किल है
ज़ालिम और जाबिर हुक्मरवा
ख़ुद अपने ही ख़ूनी हाथो से
देता है उन्हे भर-भर के सज़ा
पर जब उसकी मौत आती है
यह लोग मतानत से उसको
दफना के दुआएँ देते है,
'मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !'
झूठा हो कोई, सच्चा हो कोई
इज़हार है मातम का यकसाँ
गूँज उठते है इक जैसे मंतर,
'मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !'

शोला-सा=शोला जैसी; श्वा=किरन; बर्गे रेशमी=रेशम-जैसी पखडियाँ, तमाज़त=गरमी; मरहूम=हुतात्मा; रहमत=दया, जाबिर=जब्र करने वाला; हुक्मरवा=निरकुश; मतानत=गभीरता।

अहमक हो कोई; हैवा हो कोई
या ज़ानिये ज़हर आलूदा कोई
जब हुक्म से मेरे मरते है
उस वक्त भी यह बेहूदा भजन
गूँज उठता है उनके होठो पर
"मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !"

६

ख़त्म होकर गीत फिर से मौत के गुस्से ने ली अँगडाइयाँ
इस दोशीजा ने तो अपनी रात से भी बढ के और इक दिन से अफज़ूँ वक्त को अपना लिया
इस गलतकारी पै पछताना पड़ेगा अब उसे
मौत से बर्दाश्त ऐसी दिल्लगी होती नहीं
ख़श्म से झल्ला उठी मौत और पूले खीचकर
पिंडलियो पर बाँध ली फटी-पुरानी पट्टियाँ
इन्तजारे आमदे माह के बग़ैर
वक्त का नुकसान करने के बिना
मौत अपनी राहे-बदआसार पर बढने लगी
पूरे इक साअत बदिक्कत चलते चलते आखिरश
उसने इक जगल के सब्ज़ाज़ार मे
चाँदनी की दिलकुशा फ़ुहार मे
लहलहाती घास पर फूलो के खेमो के तले
अपनी दोशीज़ा को देखा जैसे मदहोशी मे देवी हो कोई
उसकी अरमाख़ेज़ उभरी छातियाँ थी बेहिजाब
आमदे फसले बहारा के लिए जैसे बिरहना बाग हो
उसके रेशम जैसे जिस्मे नाज़नी पर किस तरह
जगमगाते है सितारो की तरह चिपके हुए बोसे तमाम
सुर्ख़तर दो और तारे छातियो पर ज़ौफिशा

ज़ानिये ज़हर आलूदा=विषभरी कुलटा ।

अफज़ूँ=ज्यादा, बढकर; माह=चॉद, राहे-बद-आसार=बुरे मार्ग पर, साअत=घडी या घटा, अरमाख़ेज़=कामना जगाने वाली; बेहिजाब=नगी, ज़ौफ़िशा=रोशनी फैलाते हुए ।

नीलगूंतर और दो तारे वह उसकी शर्मगी दो अँखडियाँ
जाती है जिनकी निगाहे पुरसकूँ
आसमा के नीले रस्तो से बहुत बाला परे अफलाक मे
दोनो आँखो के तले दो हल्के हल्के नीले दाग
तमतमाते है वह उसके सुर्ख दो चूमे हुए शीरीनलब
जिनमे उसके दिलरुबा ने चूम कर
एक दर्देवज्दआवर सा जगा कर रख दिया
और खुद सर रख के उसकी गोद मे
लुत्फो इत्मीना से बे खुद हो गया।
देख कर इस आलमे उल्फत में उस दोशीज़ा को
मौत का गुस्सा भी धीरे-धीरे मध्यम पड गया
और उसके कासए सर मे गज़ब के आखिरी शोले ने बुझकर हू का आलम कर दिया
"तूने क्या हव्वा के मानिन्द जान कर
खा लिया है दान-ए-गन्दुम कि यूँ
आड लेकर एक झाडी की छिपी बैठी है अल्लाह की निगाहो से परे ?"
आसमा की तरह उस दोशीज़-ए-मासूम ने
चाँद तारो की ज़िया मे जगमगाते अपने सीने को झुका कर चेहर-ए-दिलदार को
मौत की खुबती निगाहो से बचा कर रख दिया
और फिर जुर्रत से यूँ गोया हुई
"झिड़कियाँ रहने दे और हाँ देख इसे चौका न दे
अपने इस झनकारते खजर को रख दे इक तरफ
मै अभी इस दिलरुबा से छूट कर इस कब्र मे सो जाऊँगी—
काश, तू इसको बड़ी मुद्दत तलक लेने न पाये,
देर मुझसे हो गयी बेशक मुआफी चाहिए
मैने सोचा मौत हर्गिज़ दूर हो सकती नही
इससे पहले ही कि छिन जाये यह मेरी मुख्तसर-सी जिन्दगी
इज़्न दे, ऐ मौत! अपने दिलरुबा से एक बार
आखिरी बार इससे हम-आगोश हूँ

नीलगूंतर=गहरे नीले; अफलाक=आकाश; शीरीन=मधुर; लब=ओठ; वज्दआवर=उन्मादक, कासए सर=खोपड़ी, गज़ब=क्रोध; हू=शून्य, सन्नाटा; हव्वा=(Eve या इड़ा), ज़िया=रोशनी।

कितने पुरदर्द और शीरी हैं ये बोसे इश्क के
देख किस दरजा हसी है आह ! मेरा दिलरुबा !
यह चमकते दाग सारे, हाँ हाँ सारे इसके है
देख मेरी छातियो पर और रुख़सारो पै यह किस शान से
फूलते है नव दमीदा और घने लालो की मानिन्द, देख ले !"
"जान पडता है कि तू खुरशीद से हमबोसा थी !"
मौत ने शरमा के हँसते में कहा,
"लेकिन ऐ मेरी हसीनो ख़ूबरू !
मेरे हिस्से मे नही बस एक तू
मेरी ताराजी तबहकारी के है लाखो निशा
वह घडी जब मैने पहले पहल इसे अपना लिया
तब से मै मसरूफ हूँ इस फर्ज़ की तकमील मे
अब तो इस धन्धे मे मेरी हड्डियाँ
भद्दी बेरस हो गयी और बाल भूरे पड गये
मै तो इक लमहे का भी नुकसान कर सकती नही
आओ अब, ऐ ख़ूबरू, मै काम अपना कर चलूँ।"
सुन के यह दावा दोशीज़ा के जिगर से हूक उठी,

"न अब यह ज़मी और न यह आसमा
मेरा दिलरुबा राह पाये कहाँ ?
है शादा मेरी रूह मे आग जो
भुलसती है वह खौफे तकदीर को
हमे आज इन्सा की हाजत नही
नही अब खुदा की ज़रूरत नही
हमारी यह बच्चो की जैसी खुशी
जो आज़ाद हर रज से हो गयी
इसे अब नही ग़म किसी बात का
ख्याल अपनी इक शादमा ज़ात का
मुहब्बत मे चलती यही रीत है,
मुहब्बत मुहब्बत ही की मीत है।"

नव दमीदा=नये खिलते; खुरशीद=सूर्य, ताराजी=बरबादी; तकमील=पूरा करना; लमहा=क्षण, हाजत=ज़रूरत।

मौत साकित है तफक्कुर मे पडी सामित खडी
सुन रही है गीत लेकिन रोक इसे सकती नही
गीत, कैसा गीत ! जो सूरज से बढकर जौफिशा
जो खुदाओ की भी आगाही से बाला-ओ-बुलन्द
आग से भी है तवानातर मुहब्बत, जो इसे
बख्श देती है बडी ताबो तबा

७

और फिर इस खामशी मे मौत कैसे खिल उठी
एक रश्क आमेज़ हिद्दत के तुफैल
उसकी बेरस हड्डियो मे गर्मजोशी आ गयी
अब यह ठडी पड गयी और अब बुखार आने लगा
मौत पर यूँ इस तरह से कोई छा जाने लगा
आज दुनियाँ मे हुआ यह किस नये दिल का ज़हूर
माँ, नही, और मौत भी हरगिज नही
हाँ फकत औरत तवानातर दिमागो-दिल से है
यूँ दिले वीरा में उसके इश्क राह पाने लगा
बीज रहमो-आरजूमन्दी के भी बढने लगे
जिनको इस इश्के-तवाना का पता मिल जायेगा
ख्वाह कोई आसीबे बदअजाम हो
जिसको नाउम्मीद कर डाला हो अपनी ख्वाहिशे बदफाल ने
उन सभो को शब के सन्नाटे मे बतलायेगी इसकी दिलकुशा सरगोशियाँ
इन्बिसाते अमन क्या शय है, किसे कहते है सेहत का सरूर ?
"खैर अब क्या सोचना है", मौत आखिर कह उठी,
"इस अचभे ने मुझे अधा बनाकर रख दिया
मै तुझे अब इज्न देती हूँ, जियो जीती रहो !

तफक्कुर=सोच, सामित=अवसन्न, आगाही=ज्ञान; तवानातर=अधिक बलवान, ताबो तबा=सहन-शक्ति ।

रश्क आमेज़=ईर्षाजनक, हिद्दत=गरमी, उष्णता, तुफैल=ज़रिये; ज़हूर=प्रकटीकरण, आसीब=दुर्दैव, बदफाल=बुरी, सरगोशियाँ=कानाफूसियाँ; इन्बिसात=मसर्रत ।

हाँ मगर इक बात है, अब तू हमेशा के लिए
अपने पहलू में मुझे भी पायेगी
ताकि दरगाहे मुहब्बत से कभी जो कुछ मिले
वह सँभाले ले चलूं ।"
तब से यह दोशीज़ा और यह मौत बहनो की तरह
दोनो ही इक साथ है गर्मसफर
आगे आगे तो कदमज़न है दोशीज़ा और नक्शे गाम पर
मौत खँजर को घसीटे जा रही है सुस्त रफ़्तारी के साथ
इक सौतेली बहन अपनी मेहरबाँ हमशीरा के अक्से कदम पर गामज़न,
उस पै खुद उसकी रज़ामन्दी से हमशीरा का जादू चल गया
उसने दोशीज़ा की शादी को रचा कर मस्तोशादाँ कर दिया
और यूं वह अपनी उस मजिल पै पहुँची, पहले जिसके रश्क ने
गुदगुदाया था उसे ।
मौत ने आखिर मुहब्बत को सहारा दे दिया,
और मसर्रत में मसर्रत का इज़ाफा कर दिया ।

दरगाह=पवित्र स्थान; नक्शेगाम=पदचिन्ह ।

बहस[1]

निर्दोष—'राही' ने एक लासानी नज्म (अद्वितीय कविता) लिखी है जिसने मुझ पर जादू-सा कर दिया है। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि नज्म में 'इश्कोमुहब्बत' का जो अफसाना दुहराया गया है, आज उसका क्या इफ़ादी (उपयोगी) पहलू है ? यह उल्फ़त के बोसे (प्रेम के चुम्बन) और मोहब्बत की हमआगोशियाँ (आलिंगन) मौजूदा जद्दोजेहद (संघर्ष) में क्या हमारे काम आ सकती है ?

अम्बारदार—नज्म में तरक़्क़ीपसन्द नजरिया (प्रगतिशील दृष्टिकोण) हो या न हो, लेकिन मैं इतना महसूस (अनुभव) कर चुका हूँ कि यह नज्म बेइन्तिहा तासीर (अत्यधिक प्रभावकारी) की हामिल है। मैं समझता हूँ कि जिस कविता में इस दरजा गहरा असर हो वह जरूर एक कामयाब नज्म है। इस नज्म का एक इफ़ादी पहलू यह भी है कि यह हमारे दिल को तसल्ली देती है और हम मसर्रत (परितोष) के सरचश्मे की तरह फूट बहते हैं। यह नज्म पढ़ने वाले को एक दोस्त और साथी का सहारा दे सकती है।

प्राणनाथ जलाली—मेरे जेहन (मन) में इस नज्म ने एक तजाद (अन्तर्विरोध) सा पैदा किया है। अगर मजमूई असर (समग्र प्रभाव) देखा जाय तो वह साफ तौर पर यही है कि जिन्दगी की कूवतें (ताकतें) मौत पर फतेह पाती है और इस सारी चीज को पूरे शायराना अन्दाज़ (काव्यमय ढग) में पेश किया गया है। इस लिहाज़ से नज्म कामयाब है। लेकिन मोहब्बत के बारे में जो तस्वीर पेश की गयी है, उसके मुताल्लिक (सम्बन्ध) में मेरा जेहन साफ नहीं। नज्म की 'दोशीजा' (युवती) अपने महबूब (प्रेमी) के लिए जिस तरह एकतरफा कुरबानी देती है वह सामन्ती दौर की मोहब्बत की आईनादारी (प्रतिनिधित्व) करती है। इस तरह इस नज्म मे मोहब्बत की एक रजतपसन्द (प्रतिक्रियावादी) तस्वीर पेश की गयी है।

राजबंस—क्या आप तरक़्क़ीपसन्द मोहब्बत (प्रगतिशील प्रेम) (?) की तारीफ (व्याख्या) कर सकते है ?

प्राणनाथ जलाली—मोहब्बत की रजतपसन्द और तरक़्क़ीपसन्द तस्वीर में एक इम्तियाज (भेद, फरक़) तो यह है कि रजतपसन्द तस्वीर में मोहब्बत करने वाले मर्द और मोहब्बत करने वाली औरत में दरजे की एकसानी (समानता) नहीं

---

१. काश्मीर के प्रगतिशील लेखक सघ मे इस नज्म पर जो बहस हुई उसकी रिपोर्ट।

होती। इसके बरक्स (विपरीत) मोहब्बत की तरक़्क़ीपसन्द तस्वीर में मर्द और औरत दोनों एक जैसा मर्तबा (हैसियत, महत्त्व) रखते हैं। दोनों के हक़ायक और फ़रायज (अधिकार और कर्त्तव्य) यकसां होते हैं। सामन्ती दौर की मोहब्बत के मुताबिक़ मर्द ब-अख्तियार (सर्वेसर्वा) है और औरत मजबूर, मातहत (अधीन) है। मर्द आजाद है और औरत पर ही सारे फरायज और पाबन्दियां अयाँ (लागू) हैं। अगर क़ुर्बानी की जरूरत पेश आती है तो औरत को आना होता है। लेकिन नयी और तरक़्क़ीपसन्द तस्वीर में दोनो अपने फरायज का ऐहसास (चेतना) रखते हैं और दोनो अपनी जिम्मेदारियां पूरी करते हैं। इस नज़्म में मुझे मोहब्बत का वही पुराना और ग़लत तसव्वुर (विचारकोण) नज़र आता है।

महाराज किशन—इस हद तक मैं प्राणनाथ से इत्तेफाक रखता (सहमत) हूँ।

प्राणनाथ जलाली—एक और चीज़ जो इस नज़्म की कमज़ोरी ज़ाहिर करती है वह यह है कि ज़िन्दगी अपनी कूबत से नही, बल्कि मौत के रहमोकरम (दया-कृपा) की वजह से जीत जाती है। नज़्म में 'दोशीज़ा' और 'मौत' के दरम्यान (बीच) झगड़ा होता है जो आख़ीर में 'दोशीजा' की फतेह ज़ाहिर करता है। लेकिन सवाल यह है कि फ़तेह किन ताकतों के बलबूते पर हासिल होती है। इन्सानियत की जद्दोजेहद से नहीं, बल्कि बोसा-ओ कनार (चुम्बन-आलिंगन) से। इसके अलावा नज़्म में मौत का एक नग्मा (गीत) है, जो इसे और भी ज्यादा रजतपसन्द बना देता है। इस नग्मे की रू से मौत इन्सानियत का मज़ाक उड़ाती है। इन्सान जिन ख़राबियों में गिरफ़्तार हैं, उनके लिए ख़ुद इन्सान ही ज़िम्मेदार क़रार दिया गया है जो सरासर एक रजतपसन्द ख़्याल है।

महेन्द्रनाथ—लेकिन मौत तो उन बुरी रस्मों का ही मजाक उड़ाती है जिनमें इन्सान गिरफ़्तार हो जाता है, और अपना बुरा-भला भी नहीं पहचानता।

प्राणनाथ जलाली—यहाँ तो रस्मो की बुराई के साथ-साथ 'इन्सानियत' की भी तज़हीक (मख़ौल उड़ाना) की जाती है, और वह भी मौत की ज़बानी। मेरे ख़्याल में यह सख़्त किस्म की रजतपसन्दी है।

निर्दोष—जहाँ तक मै समझता हूँ 'राही' ने बड़े दक़ियानूसी ख़्याल को नज़्म किया है। अगर 'दोशीजा' की बजाय उन्होने तहरीक (आन्दोलन, के एक कारकुन को दिखाया होता, तो नज़्म सही मायने में एक लाजबाब चीज़ बनती। नज़्म में जो यह 'बोसा-ओ-कनार' का बराबर ज़िक्र आता है वह पढने-सुनने वालो पर बोझ-सा लगता है। इसमें सिर्फ़ मोहब्बत के ज़रिये मौत पर फतेह दिखायी गयी है।

महेन्द्रनाथ—मैं समझता हूँ कि 'निर्दोष' का ऐतराज दुरुस्त है कि मौत सिर्फ़ जिन्दगी का हुस्न देखकर हार जाती है। यह दुरुस्त है कि मोहब्बत तवाना

(महत्तर) है, लेकिन ऐसा महसूस होता है कि मौत ज़िन्दगी की महज (केवल) रंगीनियों में खो गयी है।

प्रो० कामिल—मेरे ख़्याल मे मौत जिन्दगी की क़ूवतों से हार जाती है, क्योंकि मोहब्बत जिन्दगी ही का नाम है।

महेन्द्रनाथ—लेकिन जिन्दगी सिर्फ मोहब्बत ही तो नहीं है ?

प्राणनाथ जलाली—निर्दोष का ऐतराज मुझे भी दुरुस्त लगता है। मौत जिन्दगी की तरफ सिर्फ बोसा और आग़ोश की बिना पर मायल हो जाती है, गोया ऐसी हालत में कहना दुरुस्त होगा कि मौत पर फतेह हासिल करने के लिए 'बोसा-ओ-कनार' काफी हैं, हालांकि यह जद्दोजेहद के बारे मे निहायत ही गलत नजरिया होगा। मौत पर फतेह पाने के लिए चूमाचामी नही, एक बाकायदा जद्दोजेहद की ज़रूरत होती है। एक और बात दिखायी है; वह यह है कि इसमें मौत मर नहीं जाती, हालाँकि जिन्दगी की भरपूर फतेह के लिए उसे मर ही जाना चाहिए था।

राजबंस—जहाँ तक जद्दोजेहद (सघर्ष) का ताल्लुक (सम्बन्ध) है हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तबकाती जद्दोजेहद (वर्ग सघर्ष) उस वक्त से शुरू हुई है जब दुनिया मे मुख्तलिफ मुल्कों का जहूर हुआ। लेकिन इससे पहले भी एक बहुत ही तवील (लम्बा) जमाना बीत चुका है जिसमें न तबके (वर्ग) थे और न मुल्कों की बाहमी कशमकश (आपसी विरोध)। उस वक्त की जद्दोजेहद आज की जद्दोजेहद से मुख्तलिफ रही होगी। इसी तरह आज दुनिया का एक अजीम (महान्) मुल्क सोवियत् रूस बड़ी तेजी से इश्तराकियत (साम्यवाद) की आख़िरी मंजिल की तरफ दौड रहा है जहाँ यह सारे तबके (वर्ग) मुकम्मल तौर पर (पूर्ण रूप से) खत्म हो जायेंगे, और जद्दोजेहद की सारी तवय्यत (रूप) ही बदल जायगी। अगरचे हम इस मजिल से अभी दूर हैं लेकिन पहुँचना सारी दुनियाँ को वहीं है। जब वह नया ज़माना आयेगा, उस वक्त इन्सानी जद्दोजेहद की कूवतें मौत पर गलबा (क़ाबू) पाने के लिए वक़्फ (लग) हो जायेंगी, और साइंस (विज्ञान) के तमाम ज़रियो (साधनों) को क़ुदरत पर ज्यादा से ज्यादा काबू हासिल करने के लिए इस्तेमाल किया जायेगा। मैंने इसी नुक़्ता-ए-नज़र (दृष्किोण) से इस नज्म को सुनना शुरू किया था। अव्वल अव्वल तो मुझे महसूस हुआ कि ज़िन्दगी और मौत के दरम्यान आख़ीर पर बड़ी सख्त क़िस्म की टक्कर होगी, लेकिन नज्म के आख़िरी हिस्से ने मायूस कर दिया। वहाँ पहुँचते-पहुँचते जिन्दगी और मौत की यह जंग मद्धिम पड गई है। 'राही' की यह नज्म सुनते-सुनते मुझे एक यूनानी शायर की नज्म 'प्रोमेथियस' याद आ गयी। पहला हिस्सा सुनकर मैं ऐसा ख़्याल करने लगा था कि 'राही' की नज्म भी मज़कूरा (ऊपर ज़िक्र की गई) नज्म की तरह तस्वीरकशी के जलाल और जमाल (महानता

और सौन्दर्य) को पा लेगी। लेकिन आखीर पर इब्तदा (प्रारम्भ) की शान बाकी न रह सकी। फिर भी इसमें जो मुख़्तलिफ Touches है वह इस क़दर ख़ूबसूरत हैं कि दाद के काबिल है। आख़ीर पर मैं प्राणनाथ और निर्दोष के ऐतराजो को दुहराता हूँ जो उन्होने जिन्दगी की तस्वीरों के बारे में पेश किये है, और मै समझता हूँ कि ये ऐतराज दुरुस्त है।

प्राणनाथ जलाली—राजबंस ने भी जो यह बात कही है कि तबकात (वर्गों) के ख़ात्मे पर इन्सानियत की तमामतर जद्दोजेहद कुदरत पर गलबा हासिल करने पर सर्फ़ होगी, इससे भी यही बात ज़ाहिर होती है कि मौत पर फतेह पाने की ख़ातिर हमें 'बोसा-व-कनार' की बजाय साइन्स से काम लेना होगा। अगर हमारे हाथों में साइन्स का हरबा (अस्त्र) नहीं होगा तो कुदरत को ज़ेर करना नामुमकिन होगा। इस लिहाज़ से देखा जाय तो पता चले कि नज़्म में जो बोसे वग़ैरह का जिक्र है, और जो तसव्वुर पेश किया गया है वह एक दकियानूसी तसव्वुर है, जिसमें Scientific approach (वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति) नही है।

राजबंस—मुझे प्राणनाथ के इस ख्याल से पूरा इत्तफाक (सहमत) नहीं। हमने अपनी सदियों की जद्दोजेहद मे जो चन्द रिवायाती (रूढिगत) Symbols (प्रतीक) पैदा किए है उनको कतई (बिलकुल) तौर पर नजरअन्दाज करना ठीक नही है। रिवायाती अन्दाज में (रूढ़िगत ढंग से) बात कही जाये तो ज्यादा पुरअसर (प्रभावपूर्ण) बनती है। प्राणनाथ ने अभी मोहब्बत के नज़रिये पर तकज़िया (विवेचन) करते हुए कहा है कि मोहब्बत मे जिम्मेदारी का ऐहसास होता है। मै इसके मुत्तफ़िक (सहमत) हूँ। लेकिन मुहब्बत में कुर्बानी का भी ऐहसास होता है। हमें इसे नहीं भूलना चाहिये। अगर इस ऐहसास को मोहब्बत से अलग किया जाये, तो मोहब्बत मोहब्बत नहीं रहती। एक कामरेड का भी अपने कामरेड के बारे में यही रवैया होता है। किसी ख़तरे के वक्त दोनो की यही कोशिश रहती है कि 'मेरी जिन्दगी अगर जाती है तो जाये, लेकिन दूसरा सलामत रहे।'

अख्बारदार—'निर्दोष' ने अपने एक ऐतराज में नज़्म की तशबीहात (उपमाओं) और किनारियो (सकेतो) को भी मोरदेऐताब (रोष का लक्ष्य) बनाया है। मै समझता हूँ कि ऐसा करके शायर की कुव्वते बयाना (वर्णन-शक्ति) पर नाक़ाबिले बर्दाश्त पाबंदियाँ आयद करना चाही है।

शिवदानसिंह चौहान—मै बड़े गौर से इस बहस को सुनता रहा हूँ। इसके पहले कि मै 'राही' की तर्जुमानी (पक्ष समर्थन) करते हुए यह कहूँ कि क्योंकर इस नज़्म में मुहब्बत के बारे में एक नया और सही रवैया पाया जाता है, मअन्द एक और बातें भी कहना ज़रूरी समझता हूँ।

यह दुरुस्त है कि मुहब्बत के सवाल पर पुराने नज़रिए तबकाती समाज के आईनादार है लेकिन आप याद करें तो आपको मालूम होगा कि हमारे यहाँ की तरक़्क़ीपसन्द शायरी में मोहब्बत के जो नज़रिए रहे हैं उनकी बुनियादें भी इन्सानी और वैज्ञानिक नहीं हैं। यह नजरिए ज्यादातर मुतवस्त (मध्यम वर्ग) तबक़े के रुझानात (प्रवृत्तियो) से पैदा हुए हैं। हमारी तरक्कीपसन्द शायरी में अक्सर यह नज़रिया पेश किया गया कि चूंकि हम मजदूर तबके के साथी और इन्कलाबी बन गये हैं इसलिए पुराने तबके के साथ रहकर हमने मुहब्बत का जो तसव्वुर क़ायम किया था, सिर्फ वही ग़लत नहीं 'मुहब्बत' करना भी गलत है। या कम-से-कम यह ख्याल राह पा गया कि औरत हमें इन्कलाब से दूर हटाती है। अली सरदार जाफ़री, फिकर तोसवीं और दीगर शोअरा की बहुत सी नज्में इस रवैये की आईनादार हैं। कभी यह ख्याल आया कि हमें इन्कलाब बरपा करना है इसलिए मुहब्बत नही की जा सकती। इसका मतलब यह कि मुहब्बत और इन्कलाब दो मुतजाद (परस्पर विरोधी) चीजें हैं जिनमें से दोनों का ही जिन्दगी से कोई ताल्लुक नही। गरज यह कि इस गलत नज़रिये को मुख्तलिफ शायर मुख्तलिफ रंगो में पेश करते आये हैं। लेकिन इन सब की तह में वही पुरानी बुर्जुआ (पूँजावादी) जेहनियत (विचारधारा) काम करती है जो औरत को पापी और मायाविनी समझती है और मुहब्बत को नापाक तसव्वुर करती है। इन्कलाब के नाम पर औरत के बारे में यह ग़लत और फरसूदा (सडा-गला) ख्याल हमारे शायरो को मुहब्बत के सवाल पर गुमराह करता आया हैं और इन्क़लाब में औरत की हैसियत को हिक़ारत की नज़र से देखता आया है।

आज की इस नज्म मे यह बात नहीं है। इसमे मुहब्बत के बारे में एक सही नज़रिया ज़ाहिर किया गया है।

यहाँ जितने ऐतराजात किये गये हैं उनका इस नज्म से बहुत कम ताल्लुक़ है। एक सवाल यह उठाया गया है कि आज इस नज्म की क्या इफादियत (उपयोगिता) है ? मै पूछना चाहता हूँ कि हम नज्म को क्या समझते है ? क्या नज्म महज़ सियासी दस्तावेज हो तभी उसकी फन्नी (कलात्मक) इफादियत हो सकती है ? या उसकी इफादियत इस बात के मद्दे-नजर जांची जाती है कि वह किस क़दर हमारे ऐहसासात (अनुभवों) को वुसअत (व्यापकता) बख्शती है और कितनी शिद्दत से हमारे इन्सानी जज्बात (भावनाओं) को झकझोरती है ! मेरे ख्याल में अगर कोई नज्म पढने और सुनने वालों के ऐहसासात को बेदार (सचेतन) और वसीह (व्यापक) बनाती है और जज्बात को इन्सानियत-परवर (मानवीय) बनाती है तो वह कामयाब नज्म है, और बड़ी इफादी है।

आप दोस्तों के ऐतराज़ कुछ अजब क़िस्म के है। किसी को शिकायत है

कि ये उल्फत के बोसे मौजूदा जद्दोजेहद में क्या हमारे काम आ सकते हैं ! किसी को शिकायत है कि अपने महबूब (प्रेम) के लिए नज्म की दोशीज़ा एकतरफा कुर्बानी देकर सामन्ती दौर की मुहब्बत की रजतपसन्द रिवायात को क्यो ताज़ा कर रही है ! किसी को शिकायत है कि दोशीज़ा इन्सानियत की जद्दोजेहद से नही बल्कि बोसा-ओ-कनार के बलबूने पर ही क्यो मौत पर फतेह हासिल कर लेती है ! किसी को शिकायत है कि इन्सान जिन खराबियो में गिरफ्तार हैं उनके लिए खुद इन्सान को जिम्मेदार करार देने का हक मौत को क्यो दिया गया ? इन्सानियत का मजाक और वह भी मौत की जुबानी ! किसी को शिकायत है कि मौत से लडने के लिए साइन्स को सामने लाना चाहिए था न कि मुहब्बत को। और इसके लिए उन्होंने तबकाती जद्दोजेहद की तवारीख बयान करके हम सबकी जानकारी में इजाफा करने की कोशिश की है। और भी ऐसे ही बहुत से ऐतराज़ इस नज्म पर उठाए गये हैं। कुछ दोस्तो ने शायर को कुछ ऐसे सुझाव भी दिये है जिनको अगर नज्म मे शामिल कर लिया जाय तो बहुत से ऐतराज़ वापस ले लिये जायँ। एक सुझाव तो यह है कि दोशीजा की बजाय किरदार (पात्र) के रूप मे शायर को चाहिए था कि वह तहरीक (आन्दोलन) का कोई कारकुन पेश करता और बोसा-ओ-कनार की बजाय साइन्स का हरबा (अस्त्र) इस्तेमाल कराता और ज़िन्दगी की भरपूर फतेह के लिए मौत को कतई तौर पर मार देता। इसमें शक नहीं कि शायर इन सब नेक सलाहो के लिए अपने को मश्कूर समझ रहा होगा। लेकिन मैं सिर्फ इतना अर्ज करूँगा कि ये सुझाव इस नज्म को और बेहतर बनाने के लिए नहीं हैं, बल्कि एकदम कोई नई नज्म लिखने की तवक्को (अपेक्षा) करते हैं। यह सारे ऐतराज इसलिए नहीं पैदा हुए लगते कि इस नज्म मे शायर ने जो तसव्वुर पेश किया है उसमे कोई खामी है बल्कि इसलिए कि ऐतराज करने वाले दोस्तो की पहले से तै-शुदा (पूर्व निश्चित) ख्वाहिशात हैं जिनको वे ज्यो का-त्यो हर नज्म में पूरा होते देखना चाहते हैं। इसलिए एक हकीकतनिगार (यथार्थवादी) की तरह वह ज़ेरे-बहस नज्म को एकदम नजरअन्दाज करके अपनी ही हांके जाते हैं। ऐतराज करने वालो मे से किसी साथी ने ठहरकर एक लमहे (क्षण) के लिए भी यह नहीं सोचा कि जिस मौज़ू (विषय) को लेकर यह नज्म कही गई है, क्या शायर उस तसव्वुर का पूरी तरह निबाह कर सका है और क्या फन्नी नुक्तेनिगाह से यह एक मुकम्मल चीज है ! जहाँ तक इफादी पहलू का ताल्लुक है, तमाम ऐतराज करने वाले दोस्तो ने, मेरी नजर में, इन्सानी कद्रो की बेकद्री की है। इसकी वजह सिर्फ यह है कि हम ज़िन्दगी को जिन्दगी के रूप मे, एक ठोस हकीकत के रूप में नही देखते बल्कि ख्याल से पैदा की हुई, एक बेजान, बनावटी हकीकत के रूप में देखते हैं। क्या हमारे ऐहसासात और जज्बात बर्फ की तरह जमकर इतने सर्द

हो गये है कि यह भी नहीं महसूस कर सकते कि मुहब्बत और मौत जिन्दगी की दो ठोस हकीकतें है जिनके साथ इन्सान के जज्बात हमेशा से वाबस्ता (सम्बद्ध) रहे है और हमेशा वाबस्ता रहेंगे ? महब्बत वह शय है जिसमें जिन्दगी का हुस्न अपने पूरे जलाल पर निखरता है। मुहब्बत दो दिलो को जोडकर एक करती है। मुहब्बत इन्सानी कद्रों का सरचश्मा है। मुहब्बत इन्सान-दोस्ती का पैगाम है। वह भरपूर इन्सानी जिन्दगी का सिम्बल (Symbol) है। इसके बरक्स (विपरीत) मौत इन्सान की तमाम उम्मीदो, हसरतो और तमन्नाओ की कब्र है। तरक्की के रास्ते बन्द करने वाली, जिन्दगी की दुश्मन और इन्सान के मासूम ख्यालो को रौंदकर पामाल करने वाली ऐसी हकीक्त है जो इन्सान को इन्सान से अलग करती है। इन दोनो हकीकतो के साथ इन्सान के जज्बात कुछ इसी तरह कुदरती तौर पर वाबस्ता हो गये है। इसीलिए अगर मोहब्बत एक जिन्दगी-आमेज हकीक्त है, तो मौत इन्सान-दुश्मन हकीक्त है। अफसोस है कि इस बात को भी आज दुहराने की जरूरत पड गई है क्योकि हम अपने महदूद नजरिये की वजह से अक्सर इस बात का इम्तयाज (भेद) भी भूल जाते है कि क्या चीज इन्सानी है और क्या गैर-इन्सानी। और इन्सानी कद्रो की ही बेकद्री करने लगते है। आखिर इस नज्म मे महब्बत और मौत के बीच जिस जद्दोजेहद की तस्वीरकशी हुई है क्या वह हमारे एहसासात को बुलन्द नही बनाती ? और खास तौर पर आज जब दुनिया की रजतपसन्द ताक्तें, यानी साम्राजी जगबाज, तीसरी जग की तैयारी करके सारी दुनिया को मौत की गोद में सुला देने की साजिश कर रहे है, ऐसे वक्त इस मासूम दोशीजा की कामयाब जद्दोजेहद का यह प्यारा सा अफसाना क्या हमारी हिम्मत-अफजाई नही करता और क्या इस बात का ऐहसास नही जगाता कि यह जिन्दगी, जिसे अपनी जद्दोजेहद से ज्यादा-से-ज्यादा जीने लायक और पुर-मुहब्बत बनाया जा सकता है सब कुछ कुर्बान करके भी महफूज की जानी चाहिए ? और क्या यह ऐहसास बुनियादी तौर पर अमन की आलमगीर जद्दोजेहद को तकवियत (शक्ति) नहीं पहुँचाता ! इस नजर से यह नज्म अमन की नज्म है।

जो ऐतराजात उठाये गये है वे मुझे बेमानी लगते है, क्योंकि शायर के तखय्युल (कल्पना) मे जो मौजू था, ये सारे सुझाव और ऐतराज उससे कोई ताल्लुक नहीं रखते। दोशीजा जारशाही के जमाने की एक लडकी है, सोवियत-यूनियन की कम्यूनिस्ट लड़की नहीं। उसका सारा तखय्युल और तसव्वुर उसी माहौल का होना लाजिमी था, जिस माहौल की वह पैदावार है।

आखीर में, यह बताना जरूरी है कि इस नज्म के बारे में अपनी राय देते हुए का० स्तालिन ने कहा है कि ··

राजबंस—(ताज्जुब से) अच्छा ! राही साहब की नज्म कामरेड स्तालिन

तक भी पहुँच गई ?

शिवदानसिंह चौहान—जी हाँ, कामरेड स्तालिन ने कहा—यह नज्म मौत पर मुहब्बत की फतेह के मौज़ू के मुतल्लिक गेटे के फास्ट (Faust) से भी ज्यादा ताकतवर है। यह गोर्की की नज्म Death and the Maiden का तर्जुमा है।

—फरवरी १९५१

टिप्पणी

आज मै हिन्दी पाठको के सामने गोर्की की कविता Death and the Maiden का उर्दू अनुवाद और उस पर काश्मीर के प्रगतिशील लेखक सघ मे जो बहस हुई थी उसकी विस्तृत और प्रमाणिक रिपोर्ट पेश कर रहा हूँ। कविता का अनुवाद मेरे आग्रह से काश्मीर के तरुण कवि रहमान 'राही' ने किया था। और मेरे ही कहने पर उन्होने मीटिंग के सामने इस अनुवाद को अपनी मौलिक कविता के रूप मे उपस्थित किया था।

दुर्भाग्य से कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले संकीर्ण मतवादी दोस्तो ने साहित्य और कला को समझने और उसका रसास्वादन करने की रुचि को भी असस्कृत और छिछला बना दिया है, जिसका ही परिणाम है कि तरह तरह के मनगढन्त मापदण्ड साहित्य की परख के लिए प्रयोग मे आने लगे और साहित्य के मूल्याकन का प्रश्न नजरअन्दाज कर दिया गया। मेरा विचार है कि यह बहस इस भोडी हकीकत को उघाडकर हमारे सामने रख देती है कि हमारे अनेक साथी कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के बुरी तरह शिकार हो गये है जिसके कारण साहित्य और कला के जीवनदायी तत्त्वो को भी वह पहचान नही पाते और उनकी तमाम प्रतिक्रियाएँ एकागी और यान्त्रिक होती है। स्वतन्त्र रूप से जसे वे सोचना ही नही चाहते। इस बहस के अन्त मे जब मैने कहा कि यह गोर्की की कविता का अनुवाद है तो जैसे आक्षेपकर्त्ताओ पर वज्रपात हो गया, और उन्होने रोषपूर्वक यह प्रकट किया कि मैने उनकी परीक्षा ली है और उन्हे धोखा दिया है! लेकिन मेरे यह पूछने पर कि यदि उन्हे पहले से बता दिया गया होता कि यह गोर्की की कविता है तो क्या वे इतना खुलकर बहस करते, वे साथी चुप हो गये। और साथी राजवश ने बाद मे राही से यह भी स्वीकार किया कि "गोर्की को मै उनसे कुछ सीखने के लिए पढता हूँ उनकी आलोचना करने के लिए नही।" अर्थात् अगर उन्हे मालूम होता तो वे विज्ञान के स्थान पर मुहब्बत को मौत के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे उपस्थित करने वाले सोवियत यूनियन के ही महानतम कलाकार गोर्की की इस 'हेरेसी' को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते! यह कुत्सित और यान्त्रिक दृष्टिकोण सकीर्ण मतवादियो का है जो ...

का मूल्य आँकने से पहले लेखक का नाम जान लेना अनिवार्य समझते है क्योंकि वह नाम ही उस रचना की स्तुति गाने या निन्दा करने के लिए उनके निकट एक अवसरवादी मापदण्ड बन जाता है। रचना को समझना उनकी संकीर्ण और कुत्सित समझ से बाहर है। उनकी भावप्रवणता और कला-रुचि भी नामो की बैसाखी लगाकर ही खडी हो पाती है, अन्यथा वह एक पंगु की तरह लडखडाकर गिर पड़ती है। यह उनकी बौद्धिकता का आडम्बर रचने वाली (Philistine) मनोवृत्ति का परिचायक है। प्रगतिवादी आलोचना और प्रगतिशील साहित्य उस समय तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक इस मनोवृत्ति के विरुद्ध सजग सघर्ष न किया जायगा। इसीलिए इस बहस की रिपोर्ट तमाम पाठको और साथी लेखको के लिए आत्यन्तिक महत्त्व रखती है।

यहाँ यह कह देना जरूरी है कि काश्मीर का सास्कृतिक आन्दोलन (प्रगतिशील लेखक सघ, काश्मीर भी जिसका अग है) सकीर्णतावादी पथो पर नहीं भटका। इसीलिए वहाँ के लेखको और कवियो ने मौन रहकर ही इस बहस को सुना या कवि अम्बारदार और प्रो० कामिल की तरह दो-एक बार आक्षेपो का विरोध किया। आक्षेपकर्त्ता अधिकतर राजनीतिक कार्यकर्त्ता ही थे। कोरे राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की साहित्यिक रुचि कितनी विकृत होती जा रही है किन्तु फिर भी वह अपने असाहित्यिक पूर्वग्रहो को कवि और लेखक पर किस उद्धत भाव से थोपने की कोशिश करते है, यह सब को मालूम है। इस बहस को पढकर उन्हे भी अपने दामन में मुँह डालकर अपनी खामियो को देखने की प्रेरणा मिलेगी, ऐसी आशा मुझे है। क्योकि मेरा आग्रह केवल इतना ही है कि हमारे राजनीतिक मोर्चो पर काम करने वाले साथियो की कलाभिरुचि को अधिक परिष्कृत, सचेतन और व्यापक रूप से संवेदनशील होना चाहिए। तभी वह लेखको के मानस में मानव-सस्कृति के प्रहरी और उन्नायक 'हीरो' बन सकते है।

शिवदानसिंह चौहान

—अक्तूबर १९५१

१६

सुमित्रानन्दन पन्त—युगवाणी और ग्राम्या

अब तक पाठक पन्त जी को छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में ही जानते थे, लेकिन 'युगान्त' के पश्चात् उनका विकास प्रगतिवाद के दृष्टिकोण की तरफ़ रहा है और 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे आकर यह दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से परिपक्व हो गया है। इस लेख में मेरा उद्देश्य 'पन्त' के इस अन्तिम विकास का ही विवेचन करना है।

'युगवाणी और ग्राम्या' में श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कविता का विकास एकदम नये ढग का हुआ है। आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में यह विकास बेजोड़ है।

छायावादी कविता ने रीतिकालीन नख-शिख-शृङ्गार की सकीर्ण, रूढ़िग्रस्त, स्थविर काव्य-परिपाटी के बन्धनो से उन्मुक्त हो व्यापक दृष्टिकोण और प्रगतिशील भावनाओ की अभिव्यञ्जना की। सामन्ती युग की समाज-शृङ्खलाओ और रूढि-बन्धनो ने मनुष्य के जिस व्यक्तित्व का अपहरण कर लिया था, उस व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके छायावादी कविता ने स्वतन्त्रता की भावना का पोषण किया। लेकिन आधुनिक जीवन की असगतियो, उसकी विषमताओ और विडम्बनाओ ने छायावादी कवि के उन्मुक्ति-उल्लास, श्रेष्ठ, स्वतन्त्र-जीवन के सुख-स्वप्नो को तोड़-मरोडकर मसल डाला। इस वीभत्स वास्तविकता के प्रति छायावादी कवियो ने अपने गहरे प्रतिवाद की अभिव्यक्ति की, अपने असन्तोष की घोषणा की। लेकिन क्रूर सामाजिक सम्बन्धो ने उनके हृदय की अन्तर्तम शक्तियो तक को शृङ्खलाबद्ध कर दिया, और चूंकि वे आधुनिक जीवन को इतना निर्मम और कठोर बनाने वाली शक्तियो के उन्मूलन की आवश्यकता की चेतना प्राप्त नहीं कर पाये इसलिए वे सामाजिक कार्यशीलता से तटस्थ होते गये और कविता और जीवन का व्यवधान बढ़ता गया। इस प्रकार अनेक छायावादी कवि निराशावादी और अहवादी हो गये, वे कला के लिए कला की सृष्टि करने लगे। उनके समाज-विरोधी दृष्टिकोण ने उन्हे विक्षिप्त, विषादमय, करुण, निरुपाय और एकान्त-प्रिय बना दिया। और उनकी कविता इस विषम जीवन को ही गौरवान्वित करने लगी, उसमें आत्म-समर्पण, आत्म-पराजय और आत्म-विस्मृति के भावो ने प्रधानता ले ली। लेकिन विश्व-क्रान्ति की शक्तियो के प्रचण्ड वेग ने और शोषित श्रमिको के तुमुल घन-नाद ने छायावादी

उसकी विचारधारा से परिचित है इसलिए वे क्रान्ति की सही रूपरेखा नही बना पाते। वे समझते है; कोई प्रचण्ड ज्वालामुखी फूटने को है जो अपने तप्त आग्नेय लावा से विश्व के विषाद, उसके चीत्कार को भस्म कर देगा। उसके बाद क्या होगा, वे अभी अनुमान नहीं कर पाये। उनकी अवचेतन अन्तर्वृत्तियाँ अभी सचेत नही हुई है। भगवतीचरण वर्मा 'बादल' को सम्बोधित करते हुए लिखते है—

गगन पर घिरो मण्डलाकार
अवनि पर गिरो वज्र सम आज
गरज कर भरो रुद्र हुँकार
यहाँ पर करो नाश का साज
नष्ट-भ्रष्ट प्रासाद पडे हो जल-प्लावित ससार
शून्य कर रहा हो पागल-सी लहरो का अभिसार
नीचे जल हो, ऊपर जल हो, ऐ जल के उद्गार
बरसो-बरसो और सघन घन महाप्रलय की धार

इस सांकेतिक पदावली-द्वारा उन्होने आकाक्षा प्रकट की है कि 'प्रतिहिंसा' के 'प्रतिघात' बनकर 'उल्कापात' की तरह ये 'सघन घन' 'उत्पीडन' पर बरस पडे, ताकि उसमें 'जग का कलुषित हाहाकार' डूबकर विलुप्त हो जाय। लेकिन इसका परिणाम क्या होगा ? संसार जलप्लावित हो जाय, और सारी सृष्टि प्रलयमग्न हो विराट् शून्य की गोद में सो जाय !

इसी तरह दिनकर की क्रान्ति-कल्पना रचनात्मक नही, ध्वसात्मक है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दो मे, 'हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता मे इस समय दिनकर कर रहा है।' इस तरह का दावा इस बात का द्योतक है कि बेनीपुरी स्वयं आवेशपूर्ण भावनात्मक सहानुभूति की प्रेरणा से क्रान्ति का पक्ष-समर्थन कर रहे है, आवश्यकता की चेतना उनमें भी जाग्रत नही हुई है। इसीलिए अनिश्चित, अस्पष्ट भावनाओ की प्रधानता रखने वाली ध्वसात्मक कविता के प्रति उनका इतना अनुराग है। किन्तु चेतना-प्राप्त कोई भी प्रगतिवादी आलोचक दिनकर की कविता की सीमाओ को स्पष्ट देख लेगा। दिनकर मे साम्यवादी चेतना का अभाव है। इसमे सन्देह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या जातीयता की भावनाओ से ओत-प्रोत है। किन्तु राष्ट्रीयता या जातीयता की कोई भिन्न विचारधारा नहीं होती, कोई भिन्न जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण नही होता, कोई भिन्न समाज-दर्शन नही होता। उसमें केवल बलिदान होने की उत्कट अभिलाषा स्वतन्त्र होने की हार्दिक कामना रहती है। दिनकर के अन्दर भी इसी भावना का प्राधान्य है। उनके मानस के अन्धकार में अनजान अन्ध-शक्तियाँ ही प्रेरक बनकर उनके हृदय को चिर-व्याकुल किये रहती है।

जिस समय दिनकर 'सुधा-वृष्टि' के बीच अपने 'क्लान्त मन-प्राण' जुड़ा रहे थे कि सहसा किसी अपरिचित मोहनी शक्ति का आह्वान सुनायी पड़ने लगा। उन्होंने सोचा, क्या कल्पना की इस रमणीय वाटिका को छोडकर जाना होगा ? उन्होंने कुछ अस्त-व्यस्त होकर पूछा—

तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय
सुधा-मधु का अक्षय भण्डार
एक मेरे ही हेतु अदेय ?

वासन्ती मलयानिल का मर्मर, कोकिला के गान, लताओ का नया शृङ्गार, विस्तृत आकाश का सौन्दर्य, प्रकृति की अभिनव सुषमा कवि का हृदय आकर्षित करती है, उसके रोम-रोम में पुलक पैदाकर उसे क्रीड़ा-कौतुक के लिए आमन्त्रित करती है, लेकिन यह 'असमय आह्वान' ? नहीं, कवि स्वप्नो के आलोक-जगत में विचरण नही करेगा। वह गरजकर कहता है—

फेकता हूँ मै तोड-मरोड
अरी निष्ठुर ! वीन के तार
उठा चाँदी का उज्ज्वल शङ्ख
फूँकता हूँ भैरव हुँकार
नही जीते जी सकता देख
विश्व मे झुका तुम्हारा भाल
वेदना मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल.

यह प्रतिवाद की भावना मध्यवर्गी-भावना है। दिनकर की 'हाहाकार' कविता में इस सत्य की पुष्टि और भी स्पष्ट हो जाती है। दिनकर के प्रति 'नियति' इतनी विषम है कि उनकी कविता उन्हे मनुष्य के विषाद की करुण कथा लिखने के लिए प्रेरित करती है और उन्हे सृष्टि-ताप में अपने कोमल हृदय को दग्ध करना पड़ता है। दिनकर का यह दुर्भाग्य है कि वे जीवन के सुखद-उपादानो से वञ्चित हैं और उनकी कल्पना रमणीय सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करती। इसलिए वे कविता के प्रति अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए लिखते है—

वही धन्य जिनको लेकर तुम
बसी कल्पना के शतदल पर
जिनका स्वप्न तोड पाती है
मिट्टी नही चरण तल बजकर

और दिनकर उसके सामने आकांक्षाओ से भरा अपना हृदय खोलकर रख देते है—

मेरी भी यह चाह विलासिनि
सुन्दरता को शीश झुकाऊँ
जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो
उधर वसन्तानिल बन धाऊँ

और

जनारण्य से दूर स्वप्न मे
मै भी निज ससार बसाऊँ
जग का आर्त्तनाद सुन अपना
हृदय फाडने से बच जाऊँ

किन्तु निरुपाय दिनकर क्या करें ? जीवन के अनुभव ने जो कुछ भी चेतना उन्हे प्रदान की है, वह आकाश मे उनकी कुटी नही बनने देती और अगर वह बन भी जाती है तो तुरन्त वास्तविकता अपना अग्निबाण छोडकर उसे भस्म कर देती है। पंखहीन खग की तरह दिनकर फिर पृथ्वी की हलचल मे गिर पडते है और पृथ्वी की वास्तविकता कैसी है ? यहाँ 'निज सिह-पौर' पर आधुनिक 'सस्कृति' 'दलित-दीन' की 'अस्थि-मशालें' जलाती है, कृषक अविश्राम परिश्रम करते है, माताओ के स्तन मे दूध नहीं है, बालक बिलख-बिलखकर मर जाते है, इन बालको की कब्रो से रोती, भूखी हड्डी की 'दूध-दूध' की सदा सुनायी पडती है !

दिनकर इस हाहाकार चीत्कार को अपनी नजरो से ओझल नहीं कर पाते और वे तिलमिलाकर उठ खड़े होते है और निश्चय करते है—

'दूध-दूध !' फिर सदा कब्र की
आज दूध लाना ही होगा
जहाँ दूध के घडे मिले
उस मञ्जिल पर जाना ही होगा

और वे कब्र मे सोये बालको को आश्वासन देते हुए कहते है—

हटो व्योम के मेघ पथ से
स्वर्ग लूटने हम आते है
'इधर इधर !' ओ वत्स तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते है

'दिगम्बरि' मे दिनकर ने क्रान्ति के आगमन के पूर्व-चिन्हो की कल्पनात्मक तस्वीर खीची है। 'तलातल से उभरती' 'कोई आग' आ रही है और उसके आगमन

का आभास पाकर तरुणों की टोलियो में बलिदान देने की आकाक्षा उमड़ पड़ी है, दिशाएँ गूंज गयी है और व्योम मे उल्लास छा गया है। युगो से मनुष्य अनय का भार ढोते, अपने को मिटाते चले आ रहे थे, वे अब दानवो को अपना रक्त पिलाने को तैयार नही है, बल्कि आज वे अपने प्रतिशोध के स्वत्व का प्रयोग करने पर तुल गये है। इस क्रान्ति के इशारे पर वे सारी धरा को फूंक देने का निश्चय कर चुके है।

इसके बाद दिनकर ने 'विपथगा' मे क्रान्ति की कल्पना की है। उनकी क्रान्ति 'विपथगा' है, 'विपथगा' इसलिए कि वह कहीं भी, कभी, किसी रास्ते से पहुँच जाती है, उसकी गति-चाल अनिश्चित है। इस क्रान्ति का स्वरूप क्या है? दिनकर के ही शब्दो में—

सहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मै छूम-छनन !
मै निस्तेजो का तेज, युगो के मूक मौन की बानी हूँ,
दिलजले शासितो के दिल की मै जलती हुई कहानी हूँ।
सदियो की जब्ती तोड जगी मै उस ज्वाला की रानी हूँ,
मै जहर उगलती फिरती हूँ, मै विष से भरी जवानी हूँ।
भूखी बाघिन-सी बात-क्रूर, आहत भुजङ्गिनी का दसन!

इस 'विपथगामिनी' की गति-विधि अनियन्त्रित है—

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी,
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर मे आग लगाऊँगी।
आँखो को कर बन्द देश मे जब भूकम्प मचाऊँगी,
किस का टूटेगा शृङ्ग, न जाने किसका महल गिराऊँगी।
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन गर्जन!

सोहनलाल द्विवेदी ने 'तरुणो के प्रति' कविता मे तरुणो से माँग की है कि वे अपने कठोर कर में राष्ट्र की बागडोर लेकर दम्भी का नाश कर दें, पाखण्ड तोड़ दें और देश-देश के घर-घर मे किरुणा, शान्ति और स्नेह की वर्षा कर दें।

उनकी 'किसान' कविता में किसान की मेहनत, हिकमत, कूवत और दौलत से निर्मित सभ्यता-सस्कृति और विश्व-वैभव का विशद चित्रण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी के कई बडे-बड़े लेखक-कवि क्रान्ति की आकांक्षाओ की अभिव्यञ्जना करने लगे है।[1] इस नयी काव्य-धारा की क्या-क्या विशेषताएँ और सीमाएँ है? इसकी विशेषताएँ है—

---

१. लेखक का आशय हिन्दी की प्रगतिशील कविता का क्रम-बद्ध विवेचन नही था, इस कारण 'प्रवृत्तियो' का निरूपण करने के लिए कतिपय उदाहरण दिये गये है।

(१) इन कविताओ मे छायावाद की अन्तर्मुखी, व्यक्तिवादी, केवल सौन्दर्यो-पासक, समाज-विरोधी कविता से पृथक् होकर प्रतीकवादी-यथार्थवाद (Symbolic Realism) की शैली के प्रारम्भ की झलक है।

(२) इन कविताओ मे क्रान्ति को गौरवान्वित किया गया है।

(३) इन कविताओ मे जिस अनीति, हाहाकार, वैषम्य, उत्पीड़न या आर्त्तनाद के विरुद्ध क्रान्ति या परिवर्तन का ओजपूर्ण आह्वान किया गया है, वह इसी समाज की देन है; अर्थात् पूँजीवादी समाज और भारत की परतन्त्रता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इसलिए ये कविताएं वर्तमान समाज-व्यवस्था और देश की गुलामी के विरुद्ध जन-मत का सगठन करने मे सहायक सिद्ध हो रही है।

(४) इन कविताओ मे गहरा विद्रोह है और ये एक मूलगत सास्कृतिक परिवर्तन की द्योतक है। उनके नाशवाद की तह मे गहरे मानववाद का स्रोत है।

इस नयी काव्यधारा की सीमाएँ भी है—

(१) इन कविताओ का जन्म बुद्धि-तत्त्व और भाव-तत्त्व के सामञ्जस्य से नही हुआ है, बल्कि भावात्मक आवेश के गर्भ से ये उत्पन्न हुई है।

(२) ये कवि नयी प्रगतिशील कला के रूप-निधान या शैली और उसके विषय, बुद्धि-तत्त्व या वस्तु के प्रति पूर्णतः सचेत नहीं है।

(३) इन कविताओ मे व्यक्त भावनाएँ जीवन या क्रान्ति की आवश्यकताओ के प्रति सचेत नहीं है, इसलिए वे ध्वसात्मक या नाशवादी है, नवांकुरित-जीवन और गर्भजात-भविष्य की रूप-रेखा के विशिष्ट सौन्दर्य की कल्पना का उनमे अभाव है।

(४) इन कविताओ मे आधुनिक जीवन की जिन प्रतारणाओं के विनाश की कामना और जिस सुख, शान्ति, करुणा और स्नेह से परिपूरित स्वतन्त्र जीवन की आकाक्षा की गई है, उनकी आकाक्षा मध्यमवर्ग की आकाक्षा है, और उनकी स्वतन्त्रता की कल्पना वर्तमान समाज-व्यवस्था की ही आदर्शवादी कल्पना है। स्पष्ट विचारधारा के अभाव के कारण सुख, शान्ति, न्याय, प्रेम और स्वतन्त्रता की उनकी कल्पना अधूरी, अस्पष्ट, अमूर्त्त एव आदर्शवादी है, इसलिए नये जीवन की कल्पना करने में असमर्थ है। उसका आधार अवचेतन भावनाएँ है।

(५) इन कविताओ में जिस क्रान्ति का वर्णन किया गया है वह वास्तव मे क्रान्ति नही अराजकता है। क्रान्ति मे सगठित एवं स्व-उत्पन्न असगठित शक्तियो का

अत सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नरेन्द्र शर्मा, आदि उच्चकोटि के कवियो की कविताओ के यदि उदाहरण नही दिये गये है तो इसका यह अर्थ नही कि लेखक उनके महत्त्व को गौण समझता है। —ले०

सामञ्जस्य रहता है, अराजकता में आतंकवाद और व्यक्तिवाद की प्रमुखता होती है। क्रान्ति के विध्वस में नव-जीवन की रूपरेखा समायी रहती है, अराजकता में केवल सहार-प्रवृत्ति ही प्रधान होती है। क्रान्ति, क्रान्ति या परिवर्तन-वाहक है, अराजकता समाज के नष्ट-सन्तुलन को और भी नष्ट कर पुराना समाज-सन्तुलन ही स्थापित करती है। अतः वह पूँजीवाद का नाश कर पूँजीवाद की ही पुनर्स्थापना कराती है। इसीलिए इन कविताओ मे क्रान्ति की स्पष्ट कल्पना का अभाव है, केवल नयी-नयी अतिशयोक्तियो की सृष्टि कर क्रान्ति का चित्रण किया गया है। उनमें क्रान्ति का विध्वसात्मक रूप मूर्तिमान् है, रचनात्मक रूप अगोचर है। अतः वे यद्यपि विस्फोटक 'विद्रोह' की द्योतक है पर क्रान्तिकारी नहीं है। उनका नाशवाद मूलतः मानववादी होते हुए भी सस्कृति-विरोधी है।

(६) इन कविताओ मे यथार्थवाद का भी अभाव-सा ही है, क्योंकि उनमें विराट् प्रतीको का प्रयोग अधिक किया गया है, जीवन की अनुभवगत वास्तविकता का यथार्थवादी चित्रण कम। श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाडी' कविता एक अपवाद है। 'भैंसागाडी' एक यथार्थवादी कविता है और उसमें भाव और वस्तु का सुन्दर समन्वय हुआ है। अन्यथा अधिकाश कविताएँ उद्बोधनात्मक है।

(७) विचारधारा के अभाव के कारण चूँकि इन कवियो मे क्रान्ति की आवश्यकताओ की चेतना का अभाव है, इसलिए वे वास्तव में अन्त तक क्रान्ति का स्वागत करते जायँगे, इसमें सन्देह है। जब तक क्रान्ति आ नहीं जाती उस समय तक उसके आगमन की पग-ध्वनि सुनकर उल्लसित होना आसान है। लेकिन यदि क्रान्ति-उपासक चेतनाहीन है, न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के विचार जीवन में कार्य-परिणत होकर कैसा व्यावहारिक रूप धारण करेंगे, यदि उसके अन्दर इसकी कल्पना अस्पष्ट है, नव-जीवन के नव-सगठन की नव-रूप-रेखा की कल्पना का यदि उसमें अभाव है, स्वय क्रान्ति प्रतिदिन की बदलती परिस्थितियो में कौन-कौन से रूप धारण कर सकती है, यदि इसके विषय मे उसका साधारण अनुमान सकीर्ण है, तो किसी भी समय, क्रान्ति के आगमन पर, वह क्रान्ति-विरोधी बन सकता है। और इन कवियो की यही सबसे बडी कमजोरी है। इस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के जमाने मे वे शीघ्र ही प्रतिक्रिया की शक्तियो के बहकावे में आ सकते है। इस खतरे के सकेत-चिह्न प्रकट होने लगे है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'नया वर्ष' कविता 'विशाल-भारत' मे लिखी है। इस कविता में उन्होने वर्तमान यूरोपीय युद्ध का वर्णन करते हुए प्रश्न किया है कि क्या दुःख-पीड़ित मानवता को कभी शान्ति और हर्ष प्राप्त होगा, और हिसा के ताण्डव-नर्तन का कभी अन्त होगा, क्या गांधी का अहिंसा का सन्देश ससार को त्राण दिला सकेगा,

या फिर वे हिटलर, स्टैलिन ही
अपनी हिंसा की बर्बरता
को ही रक्खेंगे यहाँ अमर ?

अचेतन विचारधारा ने भगवती बाबू को साम्राज्यवादी प्रचार का निरुपाय शिकार बना दिया है। उन्होंने फ़ासिस्ट हिटलर और कम्युनिस्ट स्टैलिन को एक ही कोटि में रख दिया है। एक साम्राज्यवादी स्वार्थों के वशीभूत होकर लड़ रहा है, दूसरा क्रान्ति के प्रतीक साम्यवादी राष्ट्र की रक्षा के निमित्त। लेकिन उनकी प्रेरणा के स्रोत ब्रिटिश-साम्राज्यवादी प्रचार-केन्द्र ने तो इस भेद पर असत्य की यवनिका डाल रक्खी है, फिर विचारधारा की रोशनी कहाँ कि भगवती बाबू इस यवनिका के पीछे छिपे सत्य को देख लें। वे क्रान्ति के सूक्ष्म द्वन्द्वात्मक रूप को नही समझ सकते जिसके कारण किन्हीं परिस्थितियो में—विशेषकर आज फासिज्म के उदय के कारण—श्रमजीवी क्रान्ति 'प्रजातन्त्रवाद की रक्षा' का स्वरूप धारण कर सकती है। यह भेदाभेद उनके लिए अगम है, वे आधुनिक जीवन की वास्तविकता को केवल विभिन्न चौरस-स्तरो या समतलो के रूप में ही देख सकते है, जब कि वह वास्तव मे त्रिगुणात्मक (three dimensional) है और भूत-वर्तमान-भविष्य का द्वन्द्वात्मक प्रवाह है। विचारों की यही अपरिपक्वता इस काव्य-मनोवृत्ति के लेखको को क्रान्ति-विरोधी बना सकती है। और विचारो की इसी अपरिपक्वता ने इन कवियो की कविता के चारो ओर संकीर्ण परिधि खींच दी है। जहाँ तक क्रान्ति के प्रति अस्पष्ट, अतिशयोक्ति-पूर्ण भावात्मक अनुराग प्रदर्शन करने का प्रश्न है, वे स्वच्छन्द रूप से ऐसा कर सकते है, लेकिन वे इस युग के राजनीतिक-सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन के संघर्षों की अभिव्यंजना नहीं कर सकते, क्योकि इन सघर्षो की पूर्ण चेतना उन्हे प्राप्त नही है।

क्रान्ति की आकांक्षाओ की अभिव्यञ्जना करने वाली दूसरी काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व श्री सुमित्रानन्दन पन्त कर रहे है।

पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविता साहित्य में 'भविष्यवाद' की कविता है। रूसी समाजवादी क्रान्ति के समय वहाँ 'भविष्यवाद' की कविता सर्वप्रधान थी। क्लेब्नीकॅव और मयकॅवस्की प्रभृति कवियो ने 'भविष्यवाद' की कविता का विकास किया था। इस कविता ने प्रतीकवादी प्रवृत्ति की कविताओं की सौन्दर्य-प्रियता और रहस्यवादी शैली का विरोध कर क्रान्ति की रूप-रेखा का चित्राङ्कन किया। रूसी क्रान्ति के समय 'भविष्यवाद' की कविता ने खुलकर क्रान्ति का पक्ष-समर्थन किया। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताओं में रूसी भविष्यवाद की कविताओ-की-सी मांसल-रक्तिम कला नही है; लेकिन उनमे नूतन की बौद्धिक कल्पना अवश्य है।

युगवाणी : 'युगवाणी' की कला बुद्धिजीवी है । उसमें भावना-तत्त्व का अभाव-सा है । क्यो ? क्योकि छायावाद की जीवन से भाग निकलने वाली कविता स्पष्ट दृष्टिकोण से रहित, मुख्यत भावना-प्रधान थी, उसके कवियो की अन्तर्वृत्तियाँ अवचेतन एव असगठित, वैयक्तिक एव असामाजिक थी और इस अबुद्धिवादी कविता के प्रति प्रतिक्रिया बुद्धि-प्रधान ही हो सकती थी । इसलिए 'युगवाणी' मे हमे नये विचारो, नये भावो, नये सौन्दर्य-मूल्यो, नये जीवन-सम्बन्धो के बारे मे वक्तव्य मिलते है ।

पन्त जी के सम्बन्ध मे यह बात उल्लेखनीय है कि वे प्रारम्भ से ही प्रगति के समर्थक रहे है, जीवन-सघर्ष से भागने की प्रवृत्ति उन पर अधिकार न कर सकी । 'पल्लव' मे भी उन्होने परिवर्तन का स्वागत किया है और 'गुञ्जन' में उनके 'विदग्ध हृदय की भावुकता और कोमल कल्पना का लय आत्म-चिन्तन और लोक-कल्याण की भावना' में हो गया था । यद्यपि 'गुञ्जन' मे वे नवजीवन की विकसित कल्पना नहीं प्राप्त कर सके और न उस समय तक जीवन-वैषम्य के मूल कारणों की चेतना प्राप्त कर पाये थे, जिसके कारण उन्होने 'सुख' और 'दुख' की नित्यता स्वीकार करके उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर मानव-जीवन की अपूर्णता और उसके उत्पीड़न को दूर करने की कोशिश की थी, लेकिन उस समय भी उन्हे विश्व प्रिय था, तृण-तरु, पशु-पक्षी, नर-सुरवर सभी के प्रति उनका अनुराग था । 'गुञ्जन' मे पन्त जी ने कहा भी है—

मै प्रेमी उच्चादर्शो का
सस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शो का
जीवन के हर्ष-विमर्शो का
लगता अपूर्ण मानव जीवन
मै इच्छा से उन्मन-उन्मन

और चूंकि मानव-जीवन की अपूर्णता की चेतना उन्हे 'इच्छा' से 'उन्मन-उन्मन' बनाये रहती थी इसीलिए उच्चादर्शो के प्रेमी पन्त अपने मार्ग को प्रशस्त करते आगे बढते आये और आज वे प्रगतिशील शक्तियो के साथ है । उस समय भी उनकी कामना थी कि—

नव छवि, नव रँग, नव मधु से
मुकुलित, पुलकित हो जीवन

युगवाणी में उनकी चेतना परिपक्व हो गयी है । आत्मचिन्तन और कठोर अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् पन्त जी को मानव-विकास का एक मात्र मार्ग मिल गया है, वह मार्ग है साम्यवाद का । इस चेतना के प्राप्त करते ही उन्हे स्वय अपनी कविता के बन्धन टूटते नज़र आये है—

खुल गए छन्द के बन्ध
प्रास के रजत् पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।
बन गए कलात्मक
जगत के रूप नाम
जीवन सघर्षण देता सुख
लगता ललाम।

इसलिए अब वे सुख और दु.ख की नित्यता मे विश्वास नहीं करते और न उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करने की चेष्टा में ही सलग्न है। अब उन्हे इस बात की चेतना प्राप्त हो गयी है कि—

जगजीवन के तम मे
दैन्य, अभाव शयन मे
परवश मानव !

इस 'परवश मानव' का उद्धार तभी होगा जब नयी मानवता की रचना की जायगी। इस नयी मानवता का एक नयी सस्कृति के अन्दर ही निर्माण किया जा सकता है। इस नयी संस्कृति की क्या रूप-रेखा होगी ? पन्त के अनुसार इस नयी संस्कृति में मृत-आदर्शों का बन्धन न होगा, रूढि और रीतियों की आराधना न होगी, उसमें मनुष्य श्रेणी-वर्ग में विभाजित न होगे, और न उसमें धन-बल से जन-श्रम-शोषण होगा। उसमें जीवन सक्रिय होगा, और जीवन को उन्नत बनाने वाले सभी प्रयोजन-साधन उपस्थित होगे। ऐसी नव सस्कृति में वाणी, भाव, कर्म, मन तो सस्कृत होगे ही, जनवास, वसन और मनुष्य के शरीर भी सुन्दर होगे। पन्त की नव-संस्कृति की कल्पना अतिशयोक्तियो या वर्तमान के तिरस्कार पर ही अवलम्बित नहीं है, वरन् उसमे नव-सस्कृति की रचनात्मक विशेषताओ की छवि भी मौजूद है।

'शिल्पी' कविता मे पन्त जी ने मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाने, उसकी अवचेतन अन्तर्वृत्तियो को चेतन और उसके भावो को सगठित करने में कवि की जो भूमिका होती है उसका वर्णन किया है—

निर्माण कर रहा हूँ जग का
मै जोड-जोड़ मनुजो के मन
मे काट-काट कटु घृणा कलह
रचता आत्मा का मनोभवन
मै जग-जीवन का शिल्पी हूँ

जीवित मेरी वाणी के स्वर
जन-मन के मास खण्ड पर
मुद्रित करता हूँ सत्य अमर

यद्यपि इस कविता का दृष्टिकोण आदर्शवादी है, क्योकि 'मन' को जग-जीवन का अवलम्ब माना गया है, तो भी इसमे सत्य का अश बहुत ज्यादा है। जब तक 'जन मन के मास खण्ड' पर 'अमर-सत्य' मुद्रित नही किया जायगा, उस समय तक मनुष्य का भाव-जगत, उसका आध्यात्मिक जीवन क्षुद्र और सकीर्ण ही बना रहेगा। लकिन यह 'अमर-सत्य' क्या है ? क्या यह वर्ग-सत्य तो नही है ? नहीं,

सत्य नही वह, जनता से जो
नही प्राण-सम्बन्धित

इस प्रकार पन्त जी ने अनुभव किया है कि जीवन के वर्तमान वर्ग-मूल्यो का परित्याग करके नये मूल्यो की सृष्टि करनी होगी, क्योकि

आज असुन्दर लगते सुन्दर
प्रिय पीडित, शोषित जन

अतएव,

आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गो में है सीमित
ऊर्ध्व मूल सस्कृति को होना
अधो मूल है निश्चित।

यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'कला, कला के लिए' के समर्थक आज वर्ग-कला का निर्माण कर रहे है किन्तु यह कला पृथ्वी पर सिर के बल खडी है, अगर सस्कृति और कला का विकास होना है, तो सस्कृति और कला को उलटकर पैर के बल खड़ा करना होगा, ऐसा करने पर जीवन-मूल्यो मे भी परिवर्तन करना होगा। ये जीवन-मूल्य सौन्दर्य-तत्त्व की उपेक्षा नही करेंगे, बल्कि उनका सौन्दर्य-तत्त्व अधिक व्यापक और सर्व-जन-सुलभ होगा। इसलिए पन्त जी कहते है—

रम्य रूप निर्माण करो हे
रम्य वस्तु परिधान,
रम्य बनाओ गृह, जन पथ को
रम्य नगर, जन स्थान

किन्तु जब तक पुरुष परवश और बन्धन-ग्रस्त है उस समय तक नयी सभ्यता, नयी सस्कृति और नये जीवन का निर्माण नही हो सकता। इस आधुनिक सस्कृति और समाज ने मनुष्य की मनुष्यता का अपहरण कर लिया है और उसमें अनेकानेक

भेदभाव उत्पन्न कर उसे अलग-अलग बाँट दिया है। इसलिए पन्त जी का आदेश है—

आज मनुज को खोज निकालो
जाति वर्ण सस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो

मनुष्य के वर्ग-समाज ने नारी जाति को सदैव दासता के बन्धन में जकड़कर रखा है। पन्त जी उसे अब ऊँचा उठाकर स्वतन्त्र जीवन प्रदान करना चाहते है। उनका आदेश है—

मुक्त करो नारी को मानव!
चिर बन्दिनि नारी को
युग-युग की बर्बर कारा से
जननि, सखी, प्यारी को।

आज इस बन्दिनी की क्या करुण दुर्दशा है—

वह नर की छाया नारी!
चिर नमित नयन, पद विजडित
वह चकित भीत हिरनी-सी
निज चरण चाप से शङ्कित!
मानव की चिर सहधर्मिणि
युग-युग से मुख अवगुण्ठित
स्थापित घर के कोने में
वह दीप शिखा-सी कम्पित!

परन्तु स्त्री-पुरुष तभी स्वतन्त्र हो सकते है जब उनके जीवन के अन्धकार, भेदभाव, पाशविकता, बर्बरता आदि जीवन के कुत्मित रूप मिट जायें और नये विचार, नयी सस्कृति की रोशनी उनमें पैदा हो जाय। इसलिए—

कातो अन्धकार तन-मन का,
नव प्रकाश के रजत स्वर्ण मे
बुनो तरुण पट नव-जीवन का।

पर इसका यह अर्थ नही कि पुरातन की जीवित निधियाँ भी हम नष्ट कर दें या देश-देश की सास्कृतिक विशेषता को एकदम मिटा दे, नही—

सजा पुरातन को कर नूतन
देश-देश का रग अपनापन
निखिल विश्व की हाट-बाट
मे लेन-देन हो मानवपन का।

पन्त जी की नव-जीवन की यह कल्पना उस समय तक कार्य-रूप में परिणत नही हो सकती जब तक वर्तमान पूँजीवादी समाज स्थापित है, उसके विनाश पर ही नव-संस्कृति, नव-मानवता पल्लवित-फलित हो सकती है। इसलिए वे आधुनिक जीवन में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते है। क्रान्ति के कृष्ण घन को उठते देख वे कहते है—

मुस्काओ हे भीम कृष्ण घन !
गहन भयावह अन्धकार को
ज्योति मुग्ध कर चमको कुछ क्षण
दिग् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन,
चीर तडित से अन्ध आवरण,
उमड-घुमड फिर झूम-झूम हे
बरसाओ नव-जीवन के कण

'पन्त' की क्रान्ति के प्रतीक 'कृष्ण घन' भगवतीचरण वर्मा या दिनकर के बादलो की तरह केवल सहार और प्रलय के वाहन नहीं है, बल्कि नव-जीवन के कणो की भी वर्षा करते है।

इसलिए उनकी क्रान्ति एक ही साथ विनाशमयी और सृजनमयी है। पन्त के ही शब्दो मे—

तुम चिर विनाश, नव सृजन गोद मे लाती
चिर प्राकृत, नव सस्कृत के ज्वार उठाती
× ×
जीवन वसत तुम, पतझड बन नित आती।

इस क्रान्ति का संगठन कौन करेगा ? या पन्त जी भी भगवतीचरण वर्मा, दिनकर और 'अज्ञेय' की तरह क्रान्ति को 'विपथगा' मानते है, जो कहीं भी, किसी व्यक्तिविशेष के रूप मे स्वयमेव प्रकट हो जायगी ? नहीं, पन्त जी क्रान्ति की आवश्यकताओं की चेतना से अनभिज्ञ नहीं है। उन्होने 'घननाद' सुना है—ठङ्·· ठङ् ठन ! और उन्हे ज्ञात है कि—

अग्नि स्फुलिंगो का कर चुम्बन
जाग्रत करता दिग्-दिगन्त घन
जागो श्रमिको बनो सचेतन
भू के अधिकारी है श्रम जन !

इस घननाद ने विश्व के श्रमिको को अपनी सामूहिक शक्ति की चेतना प्रदान कर दी है, और चेतना-प्राप्त संगठित श्रमजीवी ही—

लोक क्रान्ति का अग्रदूत
नव सभ्यता का उन्नायक
जीवन का शिल्पी।

पन्त जी की 'कार्ल मार्क्स', 'भौतिकवाद', 'साम्राज्यवाद' 'समाजवाद-गांधीवाद', 'धनपति', 'मध्यमवर्ग', 'कृषक', और 'श्रमजीवी' आदि कविताओ में आधुनिक जीवन-सम्बन्धो की वास्तविकता की व्याख्या की गयी है। इन कविताओं में वर्ग-संस्कृति और समाज के प्रति पन्त जी ने अपनी स्थिति तो स्पष्ट की ही है, वर्गो की वस्तु-स्थिति की छिद्रान्वेषी व्याख्या भी की है। उनकी पैनी दृष्टि से कुछ छिपा नही मालूम पडता, उन्हे ज्ञात है कि—

मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष वर्षण
अन्तिम रण को है सचेष्ट, रच निज विनाश आयोजन।
विश्व क्षितिज मे घिरे पराभव के है मेघ भयकर
नवयुग का सूचक है निश्चय यह ताण्डव प्रलयङ्कर।

इस नवयुग की सूचना उन्हे अनायास ही नही प्राप्त हो गयी है, बल्कि उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण ने उन्हे सूचना दी है—

साक्षी है इतिहास,—आज होने को पुन युगान्तर,
श्रमिको का शासन होगा अब उत्पादन यन्त्रो पर।
वर्गहीन सामाजिकता देगी सब को सम साधन,
पूरित होगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन।

इस प्रकार हम देखते है कि पन्त की 'युगवाणी' की 'विचार-वस्तु' हिन्दी काव्यसाहित्य मे एकदम नयी है। 'युगवाणी' में प्रकट विचारो मे गूढ-चिन्तन, अध्ययन और अनुभव की झलक है। उनमे परिपक्वता और सारपूर्ण व्यापकता है। क्रान्ति की आकांक्षाओ की अभिव्यंजना करने वाले किसी अन्य कवि की विचार-वस्तु इतनी परिष्कृत, समन्वित एवं प्रगतिशील नहीं रही है।

पन्त जी की युगवाणी का हिन्दी मे स्वागत भी हुआ है और विरोध भी। विरोधियो के मुख्य तर्क कुछ इस प्रकार के है—(१) युगवाणी में पन्त जी की कला का ह्रास हुआ है, क्योकि उन्होने कल्पना के रजत-पखो पर उडना छोड दिया है। (२) युगवाणी में बुद्धिवाद की प्रधानता ने गद्य को ही कविता का जामा पहना दिया है, भाव और अनुभूति का पन्त जी में लोप हो गया है। (३) पन्त जी की काव्य-सरिता शुष्क हो गयी है, और लोक भावना का आश्रय लेकर उन्होंने स्वयं ही अपनी कविता की भावमयता को नष्ट कर दिया है। (४) पन्त जी की भाषा उनकी लोक-भावना के अनुकूल नहीं है, और ऐसी दुरूह भाषा में लिखकर वे अपने उद्देश्य

का स्वयं ही हनन कर रहे हैं, आदि।

इस लेख मे पन्त की युगवाणी के कलापक्ष अर्थात् शैली की एकाग्रता, रस-रमणीयता, पदविन्यास गुण-प्रकाशन की क्षमता, शब्द चयन, उपमा-रूपक आदि भाव-प्रकाशन की प्रणालियो, सौन्दर्य सृष्टि की रीतियो, सगीत एव ध्वनि आदि का निरूपण करना मेरा उद्देश्य नही रहा है, किन्तु तो भी आक्षेपो के उत्तर मे कुछ कहना आवश्यक है। मेरा अपना विचार है कि युगवाणी में जहाँ-जहाँ काव्य-कला के हमें दर्शन होते है, वहाँ हम उमे अत्यन्त उन्नत रूप मे पाते है। श्रेष्ठ कला की दृष्टि से 'चीटी', 'पुण्य प्रसू', 'आम्रविहग' ··! 'कृष्णघन', 'खोज', 'लेन-देन', 'वाणी' और 'युग-नृत्य', 'गगा की साँझ' आदि कविताएँ उल्लेखनीय है। इनमे से कुछ कविताएँ तो पन्त की पहली सभी कविताओं से श्रेष्ठ है। इन कविताओ में पन्त ने जिस नयी टेकनीक, जिस नये संगीत, जिन नयी ध्वनियों का सृजन किया है, उससे आक्षेपको की शकाएँ निर्मूल हो जानी चाहिए कि पन्त अब नये भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करने में असमर्थ हो गए है। किन्तु जिनका पन्त की कविता के प्रति आमूल विरोध है, उन्हे इस युग के प्रतिनिधि कवि पन्त से भविष्य मे कोई आशा न रखनी चाहिए। पन्त ने रहस्यवाद-छायावाद की शृखलाएँ तोड दी है और वे कदाचित् उन्हे फिर कभी धारण नही कर सकेंगे, क्योकि आज उनका मन सचेत है। रहा भाषा का प्रश्न, तो यह आक्षेप एक प्रकार से सही है, 'जन-मन के जाग्रत गीत-यान' बनाने के लिए उन्हे सरल, सुबोध भाषा का विकास करना ही अपेक्षित है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि युगवाणी की कविता बुद्धि-जीवी या बुद्धि-प्रधान है और उसमें भावात्मक तन्मयता का अभाव-सा है। उसका मख्य कारण यह है कि क्रान्ति की आकाक्षाओ की अभिव्यञ्जना करने वाली कविताओ में भावना-तत्त्व की प्रधानता तो थी लेकिन उसका बुद्धि-तत्त्व अत्यन्त अस्पष्ट एव कमजोर था—मानो उसमें रीढ की कमी थी। इसलिए 'युगवाणी' मे पन्त जी का उद्देश्य इस नवीन कल्पना को रीढ प्रदान करना था, उसे एक स्पष्ट, दार्शनिक दृष्टिकोण देना था। दूसरे, पहली कविता केवल विध्वंसात्मक थी, उसमें नव-जीवन के सौन्दर्य का अभाव था। अत. युगवाणी में पन्त जी का उद्देश्य उसे सृजनात्मक-तत्त्व प्रदान करना था। इस कार्य मे उन्हे सफलता अवश्य मिली, लेकिन यह सफलता सर्वागीण नही हो सकी, क्योकि पहली कविता यदि वास्तविकता के एक अङ्ग पर जोर देकर एकाङ्गी थी, तो पन्त जी की कविता उसके दूसरे ध्रुव-केन्द्र पर जोर देकर एकाङ्गी हो गयी। उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए दोनो का समन्वय करना जरूरी है।

इसके अतिरिक्त पन्त की युगवाणी की कविता यूटोपियन है, यद्यपि उनका यूटोपियनिज्म समाजवादी है, इसलिए प्रगतिवादी है। वह यूटोपियन इसलिए है कि

वे एक आदर्श उच्च जीवन, नये समाज, नयी सस्कृति की कल्पना करते है, और आज के समाज की संघर्षमय वास्तविकता, उसके अन्तर्गत बहने वाली नवजीवन की धाराओ, उसके गर्भ में पडे नव-जीवन के बीज, समाज-परिवर्तन की शक्तियो की अपने ऐतिहासिक-कार्य के प्रति जागरूकता और चेष्टा ने उनके मन में इस विश्वास की पुष्टि कर दी है कि यह यूटोपिया अवश्य कभी-न-कभी, कदाचित् शीघ्र ही, फलित होगी। इसलिए वे नूतन की मधुर कल्पना मे ही तन्मय हो जाते है, उसके रचनात्मक-तत्त्व को ही देखते हैं, और उसके दूसरे आवश्यक अङ्ग, विध्वंसात्मक-तत्त्व को नज़रन्दाज़-सा कर जाते है। लेकिन विध्वसात्मक-तत्त्व के बिना क्रान्ति सफल नहीं हो सकती और नूतन जीवन सफल नही हो सकता। यूटोपियन होने के कारण ही पन्त जी की कविता यथार्थवादी न होकर, आदर्शवादी है।

किन्तु आधुनिक प्रगतिशील-वास्तविकता का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण, उसके विध्वसात्मक एव सृजनकारी दोनो तत्त्वो का सामञ्जस्यपूर्ण चित्रण आदर्शवादी शैली में नही किया जा सकता। जहाँ तक शोषित मनुष्य के व्यक्तिगत हर्ष-विमर्ष, प्रेम-विरह, जीवन के अभाव और असहायता की प्रगतिशील अभिव्यञ्जना करनी है, छाया-वाद की शैली उसका तीव्र संवेदनात्मक चित्रण करने मे सफल हो सकती है और किसी प्रगतिशील कवि को छायावाद की अति-उन्नत, परिमार्जित विकसित शैली का इस आधार पर तिरस्कार नही करना चाहिए कि उसमे अब तक जीवन की कठिनाइयो से पराङ्मुख होने वाली भावना की ही अभिव्यक्ति की जाती थी। शोषित मानवता भी व्यक्तियो की समष्टि से निर्मित हुई है और इन व्यक्तियो के सुख-दुःख, प्रेम और विरह के चित्र उच्च वर्गो के व्यक्तियो के सुख-दुःख और प्रेम-विरह से कही अधिक तीव्र, सत्य और सुन्दर होगे, क्योकि उनमे हमे मानवता के यथार्थ रूप का दर्शन मिलेगा, जो वैभव-विलास के नीड़ मे पले उपजीवियो की कृत्रिम, स्व रचित वेदना मे कदापि नही मिल सकता। अत. छायावाद की शैली के नितान्त परित्याग के हम समर्थक नहीं। किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। प्रगतिशील काव्यशैली छायावादी शैली तक ही अपने को सीमित नही रख सकती। क्योकि आधुनिक जीवन की सघर्षमयी वास्तविकता के अनुभव, अपने विनाश से बचने के लिए मरणोन्मुख साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की अन्तिम रण-चेष्टा की विकरालता, क्रान्ति की शक्तियो की कठिनाइयाँ, उनकी शक्ति-सञ्चय एव ऐक्य-स्थापन की अनवरत चेष्टा, उनके विरोधियो की हिंसा, क्रूरता और बर्बरता, और नये समाज की प्रसव-वेदना के अनुभव का भावपूर्ण, कल्पनात्मक, कलापूर्ण अभिव्यञ्जना छायावाद की आदर्शवादी शैली द्वारा नहीं की जा सकती, वह इस कठोर अनुभूति का भार नही उठा सकती। प्रतीको का प्रयोग वास्तविकता का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण नहीं कर सकता। इसलिए पन्त की कविता

में एक और ऐतिहासिक विकास का आवश्यकता है—वह है आधुनिक वास्तविकता के अनुकूल ही छायावाद के टेकनीक के उत्कृष्ट गुणो से विकसित एक नयी यथार्थवादी शैली का विकास।

मेरा कथन बुद्धिगम्य है। भाव-विचारो के अनुकूल ही उनके प्रकाशन की शैली भी होनी चाहिए। जिस समय शृङ्गार-काल की कविता का परित्याग करके छायावादी कवियो ने कविता मे नये भाव, रस और विचार। की सृष्टि की थी, उस समय उन्होने शृङ्गार-कविता की रीति-शैली का भी परित्याग किया था। इसी प्रकार आज जब फिर कविता में युग-परिवर्तन हो रहा है और उसमे नये भाव-विचार प्रवेश कर रहे है, तो इन नये भाव-विचारो का केवल छायावाद की आदर्शवादी शैली में ही प्रकाशन कर हम 'मासल-रक्तिम' कला उत्पन्न नही कर सकते। छायावाद की कविता वैयक्तिक-भाव-प्रकाशन की कविता है, इसलिए उसमें व्यक्तिगत अनुभव की ही अभिव्यञ्जना हो सकती है, मनुष्य के सामूहिक अनुभव की अभिव्यक्ति उसमे नही की जा सकती। युगवाणी की एक कमी यह भी है कि पन्त जी ने नई विचारधारा के अनुकूल शैली को यथार्थवादी नही बनाया। ग्राम्या मे यह दोष अशतः, केवल अशतः ही दूर हो गया है और युगवाणी मे भी 'दो लड़के' जैसी अभिनव शैली की कविताएँ है। कदाचित् पन्त जी अपनी कविता के इस अभाव के प्रति सचेत है। उन्होने स्वय प्रश्न किया है—

> कवि नवयुग की चुन भाव राशि
> नव छन्द आभरण, रस विधान
> तुम बन न सकोगे जन मन के
> जाग्रत भावो के गीत यान ?

इसके अतिरिक्त 'जन मन का गीत-यान' कवि तभी बन सकता है जब वह कविता के विनष्ट मूल-तत्त्व, सामूहिक-भावना की अभिव्यक्ति को पुनः प्रतिष्ठित कर दे। 'खोज' और 'लेन-देन' कविताओ मे हमे इस दिशा में किये गये प्रयत्न का आभास मिलता है, क्योकि इन दो कविताओ मे कबीर, सूरदास और मीरा के पदो-की-सी सामूहिक गेयता का तत्त्व वर्तमान है।

पन्त जी की नवीनतम काव्य-कृति 'ग्राम्या' है। 'ग्राम्या' मे पन्त जी की कला का विकास स्पष्ट है। 'युगवाणी' मे 'दो लडके' के अतिरिक्त और कोई ऐसी कविता नहीं है जिसमे वास्तविक जीवन का यथार्थवादी चित्रण मिलता हो। जैसा हम ऊपर कह चुके है, 'युगवाणी की अधिकांश कविताओ मे हमे 'नये विचारो, नये भावों, नये सौन्दर्य-मूल्यो और नये जीवन सम्बन्धो' के बारे में वक्तव्य मिलते है। 'ग्राम्या' मे पन्त जी ने 'ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति' प्रकट की है। 'ग्रामीणो के प्रति'—ग्रामीणो के प्रति भी बौद्धिक सहानुभूति उस समय तक प्रकट नही की जा

सकती जब तक इन ग्रामीणो के जीवन, उनके दु:ख-सुख, उनके हर्ष-विमर्श, उनकी यातनाम्रो-विडम्बनाओं का अनुभव लेखक को न हो। 'ग्राम्या' में हमें इस अनुभव का चित्रण मिलता है। पन्त जी के प्रगतिशील विकास का यह दूसरा चरण है, दूसरा रूप है। 'युगवाणी' में यदि शुष्क सिद्धान्तवाद ने उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का शिलान्यास किया था तो 'ग्राम्या' मे 'यथार्थ चित्रण' ने उनके दृष्टिकोण को अंशतः जीवन-प्रकृति रूप दे दिया है। ग्राम्या में दार्शनिकता है तो उससे भी अधिक कवित्व है—

पन्त जी का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ।

'ग्राम्या' में ग्राम्य जीवन का चित्रण कैसा है? 'ग्राम चित्र' और 'भारत ग्राम' में भारत के ग्रामो का चित्र मिलता है। इन ग्रामो में 'अन्न-वस्त्र पीड़ित असभ्य निर्बुद्धि पङ्क में पालित' मनुष्य रहते हैं।

> झाड-फूँस के विवर,—यही क्या जोवन शिल्पी के घर?
> कीडो से रेगते कौन ये? बुद्धि प्राण नारी नर?

यह भारत ग्राम—रवि-शशि का लोक, जहाँ पक्षियो की चहचहाहट से सारा वातावरण मुखरित रहता है, जहाँ खेतो की हरियाली से पृथ्वी पर मखमल-सी बिछी हुई है, जहाँ फूल, ओस, कोकिल, आम की डाली, नीला नभ, बोई धरती, सूरज का चौड़ा प्रकाश और ज्योत्स्ना का नीरव प्रसार सभी कुछ है; जो प्रकृति धाम है, जहाँ का तृण-तृण, कण-कण प्रफुल्लित और जीवित है लेकिन—

> 'यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत।।'

केवल ग्राम ही नहीं, वरन् समूचा भारत आज इन्हीं जीवन्मृत निवासियो का महाग्राम बना हुआ है जिनका आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास रुका हुआ है। इस महाग्राम मे 'सामाजिक जन' नही वरन् अहकाम व्यक्ति' निवास करते है, जिनकी चेतना क्षुद्र है, जो व्यक्तिगत राग-द्वेष से पीडित है, जो परम्परा-प्रेमी, अन्ध-विश्वासी, परिवर्तन-विमुख, भाग्य के क्रीत दास और पाप-पुण्य से सत्रस्त है। इन मनुष्यो मे आज भी आदि-मानव ही निवास करता है। वे सभ्य नही है, उनके वेश चाहे सभ्य क्यो न हो। किन्तु अब युग परिवर्तन समीप है क्योकि—

> ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
> मानव को निर्मित करना होगा नव समाज
> विद्युत औ' वाष्प करेगे जन निर्माण काज,
> सामूहिक मगल हो समान

अतः पन्त जी ग्रामो के जीवन के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं प्रदर्शित करते, 'विषण्ण-जीवन्मृत' मनुष्य को देखकर दया और करुणा से ही नही

भर जाते, बल्कि परिवर्तन की अनिवार्यता की ओर भी इशारा करते है, जिसके बिना उसमें पुनर्जीवन नही उत्पन्न हो सकता। यद्यपि यह सच है कि इस 'अहंकाम', 'संत्रस्त', 'अन्ध-विश्वासी', मानव (अर्थात् भारतीय किसान) को उसके खण्ड-खण्ड कमज़ोर रूप में देखना मध्यमवर्गी मनोवृति है, जिसके कारण पन्त जी यह नही देख पाये कि आज जग को यदि 'भौतिक विज्ञान' ललकार रहा है जिसके कारण 'युग-परिवर्तन' समीप है, तो यह 'भौतिक विज्ञान' बिना इस 'विषण्ण जीवन्मृत' मानव के सामूहिक सघर्ष के 'युग-परिवर्तन' कर ही नही सकता। अत· खण्ड-खण्ड, व्यक्ति रूप में यदि यह मानव कमजोर और अन्धविश्वासी है तो समूह के रूप मे वह क्रान्ति और मौलिक परिवर्तन की शक्तियो का ज्वालामुखी भी है, अतः उसके सामूहिक संगठित 'अमल' के अन्दर जो शक्ति गर्भजात है उसे स्वीकार न करना इस मानव का उपहास-चित्र खीचना भी हो सकता है—

इन ग्रामो के निवासी कैसे है—

उन्मद यौवन से उभर
घटा-सी नव असाढ की सुन्दर,

एक ग्राम-युवती का चित्र है। कितनी क्रियाशील, यौवन के सहज उत्साह से कितनी उल्लसित-चकित, हर काम में कितनी दत्तचित्त, किन्तु अपने यौवनोल्लास के कारण कितनी विरक्त! उसका वह खल-खल हॅसना, वह मटकना, लचकना, पनघट पर केलि करना, उसका वह यौवन-उन्माद!

रे दो दिन का उसका यौवन!

× ×

दुखो से पिस, दुर्दिन मे घिस
जर्जर हो जाता उसका तन!

और ग्राम नारी? वह वर्ग-नारियो की तरह न 'सुज्ञ' है, न 'सस्कृत', न उसके 'कपोल', 'भ्रू', 'अधर', रगे हुए है और न उसके अंग 'सुरभित वासित' है। न वह उनकी तरह 'रङ्ग प्रणय' की कला में कुशल है, क्योकि सम्मोहन, विभ्रम, अङ्ग-भङ्गिमा उसे आती ही नहीं। वह तो सरल, अबोध स्त्री है, जिसकी मासपेशियो में दृढ़ कोमलता भरी हुई है, जिसके अवयव सुगठित है, 'उरोज' 'अश्लथ' है। उसमें न कृत्रिम रति की आकुलता है न कल्पित मनोज उसके मन को उद्दीप्त करता रहता है। सच तो यह है कि—

वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीडित

कर रही मानवी के अभाव की 'आज पूर्ति
अग्रजा नगरी की,—यह ग्राम बधू निश्चित्।

पन्त ने क्यो इस ग्राम-नारी की इतनी प्रशसा की है ? क्योकि यद्यपि वह सुसस्कृत नही है; पर अमानवी भी नही है, उसमें एक मानवी के गुण अभी मौजूद है, जिनको प्रकाश में लाकर एक श्रेष्ठ, भावी मानवी की जीवित प्रतिमा ढ ली जा सकती है।

'कठपुतले', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा' और 'वे आँखे' कविताएँ यथार्थवादी-चित्रण की श्रेष्ठ नमूना है। इन कविताओ में पन्त जी ने ग्रामीण जनो का जो चित्र खींचा है वह एक लकीर की तरह पाठक के हृदय पर भी खिंच जाता है। उन्हे भुलाया नही जा सकता। ग्राम्य-युवती' और 'ग्राम-नारी' का चित्र हम देख चुके। 'गाँव के लडके' उनसे किसी मात्रा मे अधिक सुखी नही है। भावी-समाज के ये जीवित-स्तंभ, ये भू-धन किस प्रकार पैदा होते है, पाले-पोसे जाते है, उन्हे भावी-समाज का भार-वहन करने के लिए कैसी शिक्षा-दीक्षा मिलती है, इनका स्वरूप क्या है ?

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,—
× × ×
कोई खण्डित कोई कुण्ठित
कृश बाहु, पसलियाँ रेखाङ्कित
टहनी-सी टाँगे, बढा पेट,
टेढे-मेढे विकलाङ्ग घृणित !

हमारे वर्ग-सौन्दर्य-शास्त्री मानव की इस विकृत पौध को, अपने सौन्दर्य जग के इस अन्तर्जगत् को देखकर क्या सिहर नहीं उठते ? इन बालको को देखकर जिनकी—

पशुओ-सी भीत मूक चितवन
प्राकृत स्फूर्ति से प्रेरित मन

जो

तृण तरुओ-से उग-बढ, झर-गिर,
ये ढोते जीवन-क्रम के क्षण !

पन्त जी के लिए उनकी यह दुर्दशा असह्य है—

इन कीडो का भी मनुज बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज,

मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन मे क्षोभ खीज !

'वह बुड्ढा'—एक भिखारी का चित्र है। इस 'जीवन के बूढ़े पञ्जर' की सिकुड़ी चमडी चिमट गयी है, उसकी सूखी ठठरी से 'उभरी ढीली नसें जाल-सो' लिपटी हुई हैं, मानो एक ठूंठ पेड़ से पतझड मे अमरबेल चिपटी हो—

उसका लम्बा डील-डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौडी
इस खण्डहर मे बिजली-सी
उन्मत्त जवानी होगी दौडी।

अपने बुढ़ापे में 'बैठ, टेक धरती पर माथा' वह सबको सलाम करता है, अपनी 'मौन त्रस्त चितवन' से वह कातर वाणी मे अपना दु.ख कहता है। भूखा है, पैसे पाकर वह घर चला जाता है। पन्त जी के अन्दर वह पैशाचिक छाया की तरह अपनी काली नारकीय छाया छोड़ गया ! शायद दुःखों से उसमें मनुष्य मर गया है।

'वे आँखें' एक विदग्ध-कल्पना की सृष्टि है। बिना उन आँखो को देखे उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। एक किसान है, जिसके लहराते खेत बेदखल हो गये हैं, जिसका जवान बेटा कारकुनो की लाठी से मारा गया है, जिसका घर-द्वार महाजन ने कुर्क करा लिया है, जिसकी बिटिया दूध न पाने से मर गई है, जिसकी लक्ष्मी-सी पतोहू कोतवाल की नृशंसता के कारण कुँए में डूबकर मर गई है—ये उसी किसान की आँखें है, उनमें कितने दुःख और कितनी यातनाएँ समा चुकी है ?

अन्धकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दु ख का नीरव रोदन !
मानव के पाशव पीडन का
देती वे निर्मम विज्ञापन !
फूट रहा उनमे गहरा आतक,
क्षोभ, शोषण, सशय, भ्रम
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन उनमे मरघट का तम !
ग्रस लेती दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन

झूल रहा उस छाया-पट मे
युग-युग का जर्जर जन-जीवन !

और क्या वे 'आँखें' अकेली है ? भारत के सात लाख गाँवो में ऐसी करोड़ों 'आँखें' हमें मिलती है जो एक-दूसरे के दारुण दु.ख की गहराई नापती रहती है, उनकी यह गहराई, यह कालिमा, यह मरघट का तम ही उन्हे एक साथ बाहर निकलने, ऊपर उठने के लिए विचलित, प्रेरित, आकुल कर रहा है।

'सन्ध्या के बाद' में कवि ने गाँव के बनिये का चित्र खीचा है, जो दिन-रात मेहनत करके भी ग़रीब है, दरिद्र है। वह बनिया अपनी दुरवस्था पर विचार करता है, सोचता है कि वह भी क्यो नही नगर के सेठो की तरह धनी बन जाता, महाजन बन जाता। क्या कारण है ? इस व्यवस्था मे कौन-सा दोष है ? क्या कोई व्यवस्था ऐसी नही हो सकती जिसमें सभी सुखी हो, सभी काम करते हो, एक सामूहिक जीवन हो, कर्म और गुण के अनुसार वितरण हो, जन का जन शोषण न करते हो—आदि। इतने ही मे—

टूट गया यह स्वप्न वणिक का
आयी जब बुढिया बेचारी
आध पाव आटा लेने,—
लो, लाला ने फिर डण्डी मारी !

यह गाँव का बनिया अपने निम्न मध्यम-वर्ग का कितना सच्चा प्रतिनिधि है ? उसके विचार कितने उदार, उसका कर्म कितना कुत्सित है, उसकी नैतिक-भित्ति कितनी डॉवाडोल है ? पन्त जी ने इन पक्तियो मे कितनी ख़ूबी से एक समूचे वर्ग की मनोवृत्ति का व्यग-चित्र खींच दिया है !

ग्राम-जीवन के ये कुछ दृश्य है, लेकिन यह केवल उसका एक पहलू है। यदि दुःख और दैन्य ही जीवन मे हो तो शायद मनुष्य के लिए वह असह्य हो जाय। सदियो से दुःख और दरिद्रता, शोषण और पराधीनता-ग्रस्त ग्राम-निवासी किसान की रीढ़ अबतक टूट गई होती, लेकिन नही, वह आज भी जीवन से चिपटा है, गिरता है, घसिटता है, उसके अङ्ग-अङ्ग छिल जाते है, रक्त-स्राव से उसकी आकृति बिगड़ गई है, लेकिन उसने जीवन का दण्ड अपने हाथ से नही छोड़ा। अपनी यातना को सह्य बनाने के लिए उसने करुण-क्रन्दन-भरे जीवन में भी मनोरञ्जन के साधन जुटाये है, नृत्य और सङ्गीत ! आत्मा की क्षुधा शान्त करने के लिए ही तो नृत्य और सङ्गीत कलाएँ है, उत्कृष्ट कलाएँ है ! ऐसी कलाएँ जो मनुष्य की कल्पना को सरस और कोमल बनाती है, उसके कार्य मे अनुराग-रति उत्पन्न करती है। जीवन-श्रम को मधुर बनाती है और आत्मा को एक आध्यात्मिक-भोजन प्रदान करती है। लेकिन ये

कलाएँ आज गाँव के निरीह, संत्रस्त मानव की आत्मचेतना कुण्ठित करने, उसके जीवन-भार को सह्य बनाने का कार्य कर रही है। तो भी ग्राम्य-जीवन को वे प्रिय है क्योकि उनके अतिरिक्त उनके हृदय को सान्त्वना प्रदान करने का कोई अन्य साधन नहीं, उनकी जीवन-रति को प्रकट करने का कोई अन्य माध्यम नही। पन्त जी ने 'धोबियो का नृत्य' और 'चमारो का नृत्य' इन दो कविताओ में ग्रामीणो की इस कला का बड़ा सुन्दर और यथार्थ चित्रण किया है। 'चमारो का नृत्य' से यह भी स्पष्ट होता है कि किस प्रकार व्यङ्ग और विद्रूप का सहारा लेकर शोषित किसान अपने शोषको के प्रति अपना प्रखर असन्तोष प्रकट करते है, और किस प्रकार उनकी इस कला, अर्थात लोकगीत लोकनृत्य के भीतर क्रान्तिकारी कला का बीज मौजूद है। इस कला मे वर्ग-कला की तरह यथेष्ठ सौन्दर्य, कोमल कल्पना या सौष्ठव नही, लेकिन उनके 'हुल्लड़-हुरदङ्ग' में उनका मृत-जीवन एक बार फिर जाग उठता है। 'कहारो का रौद्र नृत्य' मे नृत्य का वर्णन तो नही है, किन्तु उस नृत्य का कवि पर जो प्रभाव पड़ा उसका आभास हमे ज़रूर मिलता है। इस नृत्य मे प्रकट होने वाली 'जनमन की उच्छृङ्खल आकाक्षा', 'प्रखर-लालसा', 'जीवनोल्लास', 'उद्दाम-कामना' ने कवि पन्त को विचारमग्न कर दिया—

> वाद्यो के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कम्पित
> जन इच्छा का गाढ चित्र कर हृदय-पटल पर अकित
> खोल गये ससार नया तुम मेरे मन मे, क्षण-भर
> जन सस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखलाकर
> युग-युग सत्याभामो से पीडित मेरा अन्तर
> जन-मानव गौरव पर विस्मित मै भावी चिन्तन पर!

पन्त जी जनता की इस कला को पतित, निकृष्ट और कलाहीन कहकर उसे उपेक्षा की दृष्टि से नही देखते, क्योकि वे जानते है कि कला को यदि जीवित रहना है तो उसे वर्गो की सीमा तोड़कर सम्पूर्ण मानव-जाति की कला बनना पडेगा, उसे अपनी सकीर्ण परिधि को हटाकर विस्तृत और विराट् बनना होगा, और इस विस्तृत और विराट के तत्त्व ग्रामीणो की इस निकृष्ट कला मे निहित है। इसी कारण पन्त जी 'कहारो का रौद्र नृत्य' देखकर 'चिन्तन' मे डूब गए।

इसके अतिरिक्त, पन्त जी ने गाँव के प्राकृतिक चित्र भी खीचे है। 'ग्राम श्री' 'गङ्गा', 'खिड़की से', 'रेखाचित्र', 'दिवा स्वप्न', 'आँगन से', आदि कविताओ में हमें प्रकृति-चित्र मिलते है, जो अपनी ग्रामीण विशेषता के कारण पन्त जी के पूर्व प्रकृति-वर्णनो से एकदम निराले है। इससे कौन इन्कार कर सकता है कि पन्त जी प्रकृति वर्णन मे अन्यतम है?

'ग्राम-देवता' एक सुन्दर कविता है, इसमें ग्रामरूपी देवता के विकास का चित्रण है, ग्राम-देवता जिसका बाह्य रूप आदि काल में कितना 'अभिराम' था, 'मोह मुक्त' कर जिसने मनुष्य को प्रकृति के अन्ध-प्रकोपो से उबारा था, वही ग्राम-देवता सामन्त काल में 'रूढ़िधाम' बन गया, 'अस्थिर, परिवर्तन रहित, जीवन-संघर्षण से विरत, प्रगति-पथ का विराम !' और वर्तमान काल में तो यह ग्राम-देवता केवल नाम का ही देवता रह गया, पाखण्डी, आचरणहीन, पतित, अन्धविश्वासी। इसलिए—

हे ग्रामदेव, लो हृदय थाम,
अब जन स्वातन्त्र्य युद्ध की जग मे धूम-धाम
उद्यत जनगण युग क्रान्ति के लिए बाँध लाम
तुम रूढ रीति की खा अफीम, लो चिर विराम !

इस प्रकार पन्त जी ने ग्राम-जीवन के सभी पहलुओ पर ब्रश चलाया है। कोई अङ्ग अछूता या मलिन नही रहा। यह दूसरी बात है कि हम इन अङ्गो का उभार किसी अन्य प्रकार से करना चाहे, या उनमे दूसरे रङ्गो का प्रयोग करें।

इसके अतिरिक्त ग्राम्या मे 'युगवाणी' की छाया भी है, 'सौन्दर्य-कला', 'आधुनिका', 'नारी, 'मजदूरनी के प्रति', 'द्वन्द्व-प्रणय', 'उद्‌बोधन', 'वाणी' आदि कविताओ की भाववस्तु बौद्धिक है, उनमें इन विषयो पर कवि के वक्तव्य कविताबद्ध है। 'स्वीट पी के प्रति' एक सुन्दर लाक्षणिक कविता है, जिसमें 'कुलवधुओं' या वर्ग नारियो की हृदयहीनता, कृत्रिमता और अनुदारता के विरुद्ध कवि का व्यग्य छिपा है।

'महात्मा जी के प्रति' और 'बापू' दो कविताएँ महात्मा गाधी के सम्बन्ध में है। इसमें सन्देह नही कि एक समाजवादी कवि भी महात्मा जी के व्यक्तित्व की उपेक्षा नही कर सकता। महात्मा जी एक महान् व्यक्ति है। हमारे राष्ट्रीय जीवन पर उनकी छाप स्पष्ट अकित है। पन्त जी ने भी उनके इस महान् व्यक्तित्व को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, लेकिन अपनी अभिनव दृष्टि से, महात्मा जी के कार्य का मूल्य आँककर—

निर्वाणोन्मुख आदर्शो के अन्तिम दीप शिखोदय !
गत आदर्शो का अभिभव ही मानव आत्मा की जय,
अत पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल !

अन्त में हम राष्ट्रीय गीतो पर विचार करेंगे। 'भारतमाता' में भारतमाता का चित्र अंकित किया गया है। 'वन्दे मातरम्' में हमें भारतमाता के एक स्वरूप का चित्र मिलता है, उसके 'सुजलाम्, सुफलाम्, सुखदाम्' स्वरूप, उसकी 'बहुबल धारणीम्' 'रिपुदल वारिणीम्', अतुलशक्ति का परिचय मिलता है। लेकिन पन्त की कल्पना की भारतमाता एक मनोरथ सिद्ध आदर्श की वन्दनीय प्रतिमा नही है, जिसकी वर्तमान

से कोई सङ्गति न हो। पन्त की 'भारतमाता' वास्तविक भारत की माता है, वर्ग-माता नही। वह उन तीस करोड़ भारतीयो की माता है, जिन्हें हम किसान-मजदूर कहते है, जो ग्रामो मे निवास करते है, जो पीड़ित और शोषित है। पन्त की भारत-माता भी उन्ही की तरह निर्धन और पीडित है, उन्ही की तरह ग्रामवासिनी है—वह सच्ची भारतमाता की मूर्त्ति है।

भारत माता
ग्रामवासिनी !

इस भारतमाता का 'धूल-भरा मैला-सा श्यामल अञ्चल' खेतो में फैला हुआ है, 'गङ्गा-जमुना में' उसका 'आँसूजल' भरा हुआ है, वह 'मिट्टी की प्रतिमा' के सदृश 'उदासिनी' है। उसकी चितवन नत है, जिसमे दैन्य भरा है, 'अधरो' में 'चिर नीरव रोदन' है, उसका मन 'युग-युग के तम से विषण्ण' हो रहा है, आज वह अपनेही घर में 'प्रवासिनी' बनी हुई है। उसकी तीस कोटि सन्तान नग्न-तन, अर्धक्षुधित, निरस्त्र है मूढ, अशिक्षित और निर्धन है, उसका मस्तक नत है। यह प्रवासिनी माँ आज तरुतल की निवासिनी बनी हुई है !

उसकी धन-सम्पदा विदेशियो के पैरो के नीचे कुचली जा रही है, उसका सहिष्णु मन धरती की तरह कुंठित हो रहा है, उसके क्रन्दन-कम्पित अधरों पर मौन हास्य है। जो पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हास्यमयी थी वह आज 'राहुग्रसित' है !

जो कभी गीता-प्रकाशिनी थी, वह आज ज्ञान मूढ है !

लेकिन उसका तप-संयम आज सफल हो रहा है, अहिंसा का सुधोपम स्तन्य पिलाकर वह आज जनमन का भय निवारण कर रहा है, भव के तम का भ्रम दूर कर रही है !

वह जगजननी
जीवन विकासिनी !

पन्त जी का 'राष्ट्रगान' भी एक नयी चीज़ है, कवीन्द्र रवीन्द्र के 'जन गन मंगलदायक 'जय हे, भारत भाग्य विधाता', के समान ही श्रेष्ठ राष्ट्रगान है। पन्त का राष्ट्रगान वास्तव में भारत की स्वातन्त्र्य-सघर्ष निरत शोषित जनता का सामूहिक गान है। यद्यपि भाषा क्लिष्ट है, जैसी 'वन्दे मातरम्' में है परन्तु उसके अन्दर छिपी भारत की कल्पना अत्यन्त भव्य है। पन्त की कल्पना का भारत उन उच्च वर्गों का भारत नहीं है जो राष्ट्रनीति के संचालक है, वरन जनता का भारत है—उस जनता का भारत-जो जाग्रत एवं वर्ग-चेतना से संघर्ष-प्रिय है। उसकी वन्दना करने वाले भी भारत के श्रमजीवी सुत ही है। तभी—

जन भारत हे
जाग्रत भारत हे
कोटि-कोटि हम श्रमजीवी सुत
सभ्रम युत नत हे ।

इस जन-भारत का 'इन्द्र चाप मत' तिरङ्गा झण्डा है, तो श्रमजीवियों का 'रक्त ध्वज' भी उस पर फहराता है। इन दोनों झण्डो में कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे दोनो भारतीय जनता की आकांक्षाओं के प्रतीक हैं।

इस राष्ट्रगान द्वारा भारतीय जनता की अपनी आकाक्षाओ को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि मुखरित हो उठती है—

जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणि शत
रीति नीति गत हे
मानवता हैं सकल समागत
जन मन परिणत हे
वर्ग मुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत हे
जन भारत हे
जाग्रत भारत हे

इस राष्ट्रगान का एक-एक शब्द सांकेतिक है, और अब तक हमारे विचारको ने स्वतन्त्र भारत की जितनी भी कल्पनाएँ की है, उन सबसे ज्यादा जन-हितकारी आदर्शपूर्ण कल्पना पन्त के राष्ट्रगान में हमें मिलती है।

ग्राम्या पन्त जी की अनुपम कृति है।

—मार्च १९३९

२०

मधूलिका, अपराजिता और किरणवेला

"रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' नवीन हिन्दी काव्य का क्रान्तिदूत है। मै उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ, यदि स्रष्टा शब्द से केवल सृजनकर्ता का आशय हो। .. "

"क्रान्ति उसने की है छायावाद की मानवीय किन्तु अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियो द्वारा। . इस क्रान्तिदूत का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम-विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया क्रान्तिकारी सन्देश है?"—नन्ददुलारे वाजपेयी (अपराजिता की भूमिका में)

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने जिस प्रश्न की पाठको से आशा की है उसका उत्तर वे अपनी भूमिका के पहले वाक्य में ही दे चुके है। उसी को उन्होने हिन्दी काव्य की परम्परा के क्रम-विकास की विशद व्याख्या करके तर्क-सगत साबित करने की कोशिश की है। अर्थात् यह दिखाया है कि छायावाद की अशरीरी भावनाओ की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में ही अञ्चल की कविता मे स्थूल की तृष्णा और लालसा जागरित हुई है। यह एक नैसर्गिक विकास है और इसी कारण क्रान्तिकारी है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के तर्कों से पाठको को अवगत करने की आवश्यकता इसलिए पडी कि वाजपेयी जी ही हिन्दी के पहले अधिकारी आलोचक है जिन्होने अञ्चल की कविताओ को न केवल सहानुभूति प्रदान की, जब कि उनके ही शब्दो मे "इस विद्रोही के 'गदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे", बल्कि इस तथ्य का अन्वेषण भी किया कि अञ्चल की कविता में क्रान्ति का सन्देश है, और अञ्चल क्रान्ति का अग्रदूत है। 'अपराजिता' से पूर्व 'मधूलिका' प्रकाशित हुई थी, और उसके भूमिका-लेखक श्री विनयमोहन शर्मा ने 'अञ्चल' की कविता के क्रान्ति-तत्त्व की ओर कहीं संकेत नही किया; उन्होने केवल इतना ही स्वीकार किया कि 'अञ्चल' की कविता में 'यदि एक ओर यौवन का प्रचण्ड, निर्बन्ध प्रवाह है तो दूसरी ओर है अनुभूति की विचारोत्तेजक आँधी।' लेकिन वाजपेयी जी ने जब अञ्चल की कविता मे क्रान्ति-तत्त्व की अवस्थिति स्वीकार की तो नये आलोचको, विशेषकर प्रगतिवादी आलोचको के लिए मार्ग साफ़ हो गया और वे अपनी आलोचनाओं में वाजपेयी जी से भी आगे बढ़ गये।

क्योंकि जो कुछ भी हो, वाजपेयी जी ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया था कि 'अञ्चल' की कविता का क्रान्ति-तत्त्व हिन्दी-कविता में अभिव्यक्त भावनाओं के क्रम विकास के तर्क से ही निरूपित है। वास्तव में क्रान्ति क्या है, दार्शनिक अथवा सामाजिक दृष्टि से क्रान्ति की भावना क्या है, और क्या 'अञ्चल' की कविता उन भावनाओ का प्रतिनिधित्व करती है, इन मापदंडो से उन्होंने जाँच नहीं की थी। कदाचित् वाजपेयी जी इन कसौटियो पर अञ्चल की कविता को जांचना भी नही चाहते थे। अतः हिन्दी-कविता के विकास-क्रम के चौखटे के अन्दर रखकर ही उन्होने अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत कहा था। लेकिन वाजपेयी जी ने यदि हिन्दी काव्य-परम्परा द्वारा निरूपित सीमाओं में बाँधकर तृष्णा, लालसा, प्यास की प्रतिक्रिया को क्रान्तिकारी कहा था, तो नये आलोचक इन सीमाओं का विचार न करके केवल 'क्रान्तिकारी' शब्द से प्रभावित हो गये और वे अञ्चल की कविता के साथ 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग उन अर्थों में करने लगे जिन अर्थों में उसका प्रयोग समाज-शास्त्र मे अथवा आमतौर पर राजनीति में किया जाता है। परन्तु समाज-शास्त्र या राजनीति में क्रान्ति का अर्थ समाज में बहुत व्यापक और बुनियादी परिवर्तनो का सूचक होता है और अञ्चल की कविता क्या वास्तव में इन परिवर्तनो की आवश्यकता के प्रति सचेन है, यदि है तो कहाँ तक और कैसे है, इस दृष्टि से आलोचको ने जाँच नहीं की। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि अञ्चल की कविता की प्रशंसा में अन्य किसी प्रतिभावान तरुण कवि की अपेक्षा अधिक लिखा गया है, किन्तु आज भी "इस विद्रोही कवि के 'गदले गीत' अरुचिकर है।" और स्वय अञ्चल इस बात को जानते है। कारण स्पष्ट है कि आलोचको ने अञ्चल के काव्य के विकास-क्रम को स्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा नहीं की और न उनके काव्य की अपेक्षा में क्रान्ति-तत्त्व की जाँच ही की। फलत· पाठको की स्मृति में 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के अञ्चल की अभिव्यक्तियाँ ही प्रबल हो उठती है, और 'किरणवेला' या उसके बाद की कविताओ के नये घमाव दृष्टि से ओझल हो जाते है। और, जब प्रशंसक आलोचक नयी कविताओ की कुछ पक्तियो के आधार पर अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत या क्रान्ति का स्रष्टा कहते है, और अञ्चल की काव्यधारा की अभिव्यक्तियो का अस्तित्व भी नहीं स्वीकार करते, तब पाठको के हृदय में यह बात नहीं उतरती। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने, काव्य-परम्परा की सीमाओ के अन्दर बांधकर ही सही, अञ्चल के तृष्णा, लालसा और प्यास के आदर्श को सामाजिक दृष्टिकोण से न जाँचकर जो स्वीकृति प्रदान की और उससे तर्कहीन प्रशसा की जो परिपाटी चल पडी, उसने अञ्चल की काव्य-प्रतिभा के विकास का गहरा धक्का पहुँचाया, और उन्हे अपने काव्य की कलागत त्रुटियो और दृष्टिकोण की सकीर्णताओ के प्रति बेखबर कर दिया। इससे हानि अधिक हुई लाभ कम, क्योंकि

यदि अञ्चल की कविता के विकास-क्रम को देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनमें चेतना का विकास अभी एकांगी ही हुआ है। वे एक दिशा में तो काफ़ी आगे बढ़े हैं, लेकिन दूसरी दिशाओं में वे अपनी पहली जगह पर ही हैं, और इससे पाठकों के हृदय का द्वन्द्व दूर नही हो पा रहा। आलोचक जो कहते है पाठक उस पर विश्वास नहीं कर पाते। आलोचकों को इस विषम परिस्थिति को समझने की चेष्टा करनी चहिए, ताकि उनके वक्तव्य ऐसे न हों जो कवि को भी भ्रम मे रखे और पाठकों को भी और कवि का विकास ही रोक दें।

वाजपेयी जी का यह कथन सत्य है कि अञ्चल अभी मार्ग में हैं। इस कारण और भी आलोचकों को उन्हे सिद्धि-प्राप्त कवि के रूप में पेश कर उनके आगे बढ़ते क़दमों को रुक जाने की प्रेरणा नही देनी चाहिए।

अञ्चल के तीन कविता-सग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं, जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही हो चुका है। उनकी सारी कविताएँ पढ़ जाने के बाद तीन प्रश्न उठते हैं—नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण क्या है? उनके काव्य में भावनाओं की गहराई, अभिव्यक्ति की परिष्कृति कितनी है? और उनमें काव्य-गत सौन्दर्य कैसा है? पहले दो प्रश्न अञ्चल के विरोधी और समर्थक आलोचकों के कथनों से भी प्रेरित हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनकी व्याख्या अञ्चल के काव्य से ही सम्बन्ध रखती है।

नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण क्या है? नारी के प्रति इसलिए कि उनकी अधिकाश कविताओं में नारी को लक्ष्य करके ही तृष्णा, लालसा, प्यास का आदर्श निरूपित हुआ है। छायावाद की अशरीरी भावनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण के रूप में ही सब से पहले व्यक्त हुई। इस दृष्टिकोण की जाँच श्री नन्ददलारे वाजपेयी की तरह काव्य-परम्परा के क्रम-विकास की दृष्टि से ही करना त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस तरह केवल इतना ही साबित किया जा सकता है कि यह दृष्टिकोण एक प्रतिक्रिया है और इसमें नवीनता है। नारी के प्रति काव्य में एक नये दृष्टिकोण की स्थिति को स्वीकृति प्रदान करने के अतिरिक्त वाजपेयी जी की प्रणाली से अधिक प्रकाश नही पड सकता था। परन्तु नारी एक सामाजिक प्राणी है, और उसके प्रति कोई भी दृष्टिकोण कतिपय सामाजिक सम्बन्धों का निर्देष करेगा और ये सामाजिक सम्बन्ध कहाँ तक उचित-अनुचित है, सामाजिक विकास मे अवरोधक या सहायक है, इसकी जाँच किये बिना निर्णय नहीं किया जा सकता कि कोई दृष्टिकोण क्रान्तिकारी है अथवा नही। अञ्चल के पाठक अपने रूढ़ संस्कारों की चेतना से उनके नारी के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करते हैं, और उसे अनुचित मानते हैं, जब कि उनके प्रशसक आलोचक अत्यन्त सकुचित मापदंड का प्रयोग करके इस

प्रश्न को टाल देना ही उचित समझते रहे हैं। अतः यह विरोधी परिस्थिति है। वाजपेयी जी ने अपनी भूमिका में एक जगह संकेत किया है कि 'यौवन सुलभ सौन्दर्य की लालसा जहाँ वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नही है। यदि उसमें पर्याप्त निस्सगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है।' आगे उन्होने कहा कि 'सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी (?) साहित्य का' दूषण है। इन दो कसौटियों पर उन्होने अञ्चल की कविता को जाँचने की कोशिश नहीं की, उन्होने भी इसे टाल दिया है। वैसे भी 'भोग' और 'अनैतिक' की व्याख्या नहीं की है, और इन कसौटियो की सत्यता के बारे मे बहस का गुञ्जाइश रह जाती है। अत. नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचने मे आलोचको ने जो हिचकिचाहट दिखाई है, उससे अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो गई है।

'हंस' की एक टिप्पणी में मैंने यह स्वीकार किया था कि अभी तक नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण अपमानजनक रहा है। कई मित्रो ने रोषपूर्ण पत्र लिखे कि शायद मेरा सिर फिर गया है जो मै प्रतिक्रियावादियो के साथ समझौता कर रहा हूँ, या कम-से-कम उन्हे अञ्चल की कटु आलोचना करने का प्रोत्साहन दे रहा हूँ। स्वयं अञ्चल को मेरा कथन कटु लगा। लेकिन निष्पक्ष आलोचना का वातावरण यह नही है, और इसी दूषित वातावरण ने अञ्चल की प्रगति को बहुत कुछ रोका है। 'अपमानजनक' के स्थान पर यदि 'सकीर्ण' लिखता तो कदाचित् किसी को आपत्ति न होती। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचना आवश्यक है।

वाजपेयी जी ने भूमिका में लिखा है, 'स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव-संकेतो की पात्री न रहकर सामाजिक प्राणी के रूप मे प्रतिष्ठा पा रही है, यह अञ्चल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है · ' अञ्चल के काव्य की नारी क्या वास्तव मे सामाजिक प्राणी है ? 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की सभी कविताओ में नारी के साथ अञ्चल ने जिस सामाजिक सम्बन्ध की कल्पना की है वह केवल यौन-सम्बन्ध है।

एक पल के ही दरस मे अग उठी तृष्णा अधर मे
जल रहा परितप्त अङ्गो मे पिपासाकुल पुजारी
—(अन्तर्गीत मधूलिका)

'मधूलिका' की अधिकाश कविताओ में उद्दीपन का एक ही वातावरण रहता है, प्रकृति भी निर्बंध यौन-सम्बन्ध का विराट आयोजन है :

केलि-कलानत नव लतिकाएँ लिपट-लिपट तरु-तरु से
रभस-विभासित-आत्मशिथिल-सी विकल हुईं रति-सुख से
—(मधु का पापी मधूलिका)

और इस 'इन्द्रजाल' के कारण निर्बंध पिपासा छिपाये छिपती ही नहीं—

कौन जलाता रन्ध्र रन्ध्र में उच्छल रति-गति रस की,
अभी नही सतोष अभी तो अमित पिपासा बाकी,

और इस अनियन्त्रित तृष्णा का परिणाम है कि कवि बलात्कार के लिए भी तत्पर हो जाता है :

आज सोहाग हरूँ किसका लूटूँ किसका यौवन,
किस परदेसी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन?

—(आज तो : मधूलिका)

और मिलन-वेला मे तो प्यास बुझती ही नहीं—

अभी बहुत बेहोश-शिथिल होना, सुध-बुध खोना है !
अरे, अभी तो उस अनन्त आलिङ्गन मे सोना है !!

—(मेरे भोले साकी . मधूलिका)

इस प्रकार मधूलिका में तृष्णा, लालसा और प्यास का आदर्श स्त्री के साथ केवल अनियंत्रित, निर्बंध यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का आदर्श है। कवि के किसी अन्य कार्य-व्यापार में वह सहयोग-असहयोग करती नही दीखती। यहाँ तक कि मधूलिका की अन्तिम कविता 'आज मरण की ओर' में जब कवि सघर्ष या क्रान्ति की ओर बढते 'भूखे-प्यासे' लोगो का चित्र खींचता है तो उस चित्र में भी भूखे पेट को भरने के लिए स्त्री अपने रूप का व्यापार ही करती है, अपना पेट भरने का उसके पास और कोई सामाजिक साधन नही है; स्त्री के ऊपर समाज यदि अत्याचार करता है तो वह भी अनियत्रित यौन-सम्बन्ध का ही क्रय करके।

'अपराजिता' में नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण किंचित परिष्कृत रूप में वही है जो 'मधूलिका' में है। प्रेमी और ग्राहक दोनो स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध ही स्थापित करते है, स्त्री दोनो के लिए केवल योनि-मात्र ही है। प्रेम-मिलन में अथवा अत्याचार की चक्की में, दोनों स्थितियों मे पडकर उसे पुरुष की तृष्णा ही बुझानी पडती है। यहाँ तक कि प्रेमी भी उसके साथ अन्य किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहता। यह दृष्टिकोण सकीर्ण तो है ही, अपमानजनक भी है। यदि किसी संभ्रात, शिक्षित, नये स्वतन्त्र विचारो की महिला से पूछा जाय तो वह भी पुरुष के साथ केवल अनियत्रित यौन-सम्बन्ध ही स्थापित करना न चाहेगी, और ऐसा किया जाना उसे अपने नारीत्व का अपमान लगेगा, क्योकि नारी एक सामाजिक प्राणी है, और पुरुष के साथ उसके सुख-दु.ख, उत्थान-पतन और सघर्ष में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहती है। आज यदि नारी परतन्त्र है, तो केवल यौन-स्वातन्त्र्य देने से उसे स्वतन्त्र नही किया जा सकता।

'किरणवेला' में भी नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण मूलतः वही है

जो पहले था। इसे उन्होंने स्वयं अपने प्राक्कथन 'मै—अब तक' में स्वीकार किया है—'जहाँ मै बहक गया हूँ वहाँ मेरी दुर्बलता है—जीवन के क्षयी रोमांस के प्रति अवांछनीय आसक्ति है।' एक प्रतिष्ठित कवि के मुख से निकले ये शब्द महत्त्व रखते है। क्योकि, कवि अपने प्रशंसक आलोचको की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से अपनी ज़िम्मेदारी को महसूस करने लगा है। उन पाठको को भी जो अन्य रूढ कारणों से अञ्चल की कविता को अरुचिकर मानते है, कवि के इस वक्तव्य पर विचार करना चाहिए। कवि स्वयं अपने पुराने दृष्टिकोण को अनुचित मानने लगा है, और यह साधारण बात नही है। अभी कवि उस दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल पाया है या नहीं, यह बात महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि हम जानते है कि अभी तक वह इसमें सफल नहीं हुआ है लेकिन वह प्रयत्नशील है, इस बात को भूल जाना कवि के साथ अन्याय करना है।

यह 'क्षयी रोमांस' जिसके प्रति अञ्चल ने सकेत किया है, छायावाद की ही विकृति है। छायावाद मे यदि अशरीरी भावनाओ द्वारा आध्यात्मिक आधार देकर प्रेमाभिव्यक्ति की गई थी, और अञ्चल के काव्य मे स्थूल इन्द्रियता के रूप में, तो इससे दोनो मे कोई मौलिक भेद नही हो जाता। छायावाद की अशरीरी भावनाएँ भी असन्तोष को व्यक्त करती है, अन्यथा सामाजिक प्रतिबन्धो को स्वीकार कर भावनाओ मे जीवन की वास्तविकता से भागने का उपक्रम न होता। मानसिक विशृंखलता इसका परिणाम है। अञ्चल का असन्तोष सामाजिक प्रतिबन्धो और जिम्मेदारियो को ठुकराकर व्यक्त होता है। सामाजिक विशृंखलता या अराजकता इसका परिणाम है। वर्तमान सामाजिक विषमताओ और प्रतिबन्धो के प्रति विद्रोह की शृंखला के ये दो छोर है, शृंखला एक ही है। अतएव नारी के प्रति अञ्चल का अब तक का दृष्टिकोण किसी नये क्रान्तिकारी सन्देश की घोषणा नही करता। 'किरणवेला' में इस 'क्षयी रोमास' की अन्तिम विकृति भी देखने में आती है। नारी यहाँ अब वर्ग-समाज की प्राणी भी है, मजदूरिन या भिखारिन! और शोषण और दोहन के बीच पली इस नारी के जननी-रूप को कवि घृणा की दृष्टि से देखता है, उसकी बेडौल आकृति उसे और भी भद्दी लगती है, क्योकि उन्मुक्त रोमास की कल्पना की नारी सदैव अप्सरा-जैसी सुन्दर और यौवन-मदमाती होती थी। इसी कारण गर्भिणी स्त्री के ये चित्र :

पेट में भरा एक दूसरा मॉस पिड हड्डियो का निचोड।

या

उलटा टॅगा है अति पीडक झुकावन
काल का कठोर अत्याचार देखो इसकी कमर मे!

नारी की दुर्गति करने वाले समाज के शोषकों की अञ्चल ने इस कविता में भर्त्सना की है, लेकिन नारी के मातृत्व के प्रति घृणा भी दिखाई है। और यह 'क्षयी रोमांस' की विकृति है जो स्त्री-पुरुष के बीच केवल यौन-सम्बन्ध को ही स्वीकार करता है।

नई कविताओ मे नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण बदला है, यद्यपि पुराना दृष्टिकोण पीछा करता है।

'किरण-वेला' मे आकर अञ्चल की कविता मे एक नये दृष्टिकोण की सूचना मिलती है, और यह दृष्टिकोण प्रगतिवाद का है जिस पर मार्क्सवाद का प्रभाव है। लेकिन जब तक जीवन के प्रति समूचा दृष्टिकोण न बदल जाय तब तक उसमें प्रौढता नही आ पाती। अञ्चल की 'किरणवेला' की कविताओ से भी यह स्पष्ट है। 'क्षयी रोमास' की स्मृतियाँ तो प्रबल हो ही उठती है, वर्ग-सघर्ष की चेतना पा जाने पर भी क्रान्ति और जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण एक रोमांटिक क्रांतिकारी का ही रहता है। इसी कारण 'सर्वहारा' और 'शोषिता' के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करके भी कवि अकेला है, व्यग्र है, मगर 'मरण त्यौहार' नही आता।

'किरणवेला' के बाद की कविताओं में अञ्चल अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाते जा रहे हैं।

अब हम संक्षेप में अञ्चल के काव्य के कलागत सौन्दर्य पर विचार करेंगे। भावनाओ की व्यापकता, तीव्रता और गहराई कविता मे अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सौन्दर्य की सृष्टि करती है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की कविताएँ सीमित दृष्टिकोण के कारण भावनाओ के सकुचित चौखटे मे ही समा जाती है। अधिकाश कविताएँ शब्दो के परिवर्तन के साथ अपने को दुहराती है – प्रारम्भ में प्रकृति द्वारा नियोजित उद्दीपनो का जमघट, उसके उपरान्त कवि के मानस मे विरह-वेदना की टीस का उठना और तृष्णा और लालसा का उमड पडना। यह वस्तु (Content) किरणवेला तक की कविताओ मे बार-बार सामने आती है, और इसी कारण 'अन्तर्गीतो' की भरमार है। कारण, नारी के साथ केवल यौन-सम्बन्ध की कल्पना है, और यह यौन-सम्बन्ध विशेष उद्दीपन द्वारा ही व्यक्त और सुलभ होता है। 'किरणवेला' में यदि अञ्चल की प्रतिभा नये मार्ग पर न मुडती तो कदाचित् अपने को बार बार दुहराकर शुष्क हो जाती। इस कारण व्यापक दृष्टिकोण का अभाव यदि पहली दो काव्य-पुस्तको में खटकता है, तो 'किरणवेला' में आकर नये सीमांत नजर आते है, और एकरसता टूटती है। परन्तु अभी इन नये सीमातो की परिधि-रेखाओ को और भी विस्तार देने की आवश्यकता है, अनुभव की गहराई और व्यापकता द्वारा।

कविता का सबसे बड़ा गुण है सक्षेपण द्वारा भावनाओ की अभिव्यक्ति।

बिना इसके, कविता के भावात्मक प्रभाव शिथिल और विशृंखल हो जाते हैं। अञ्चल की कविता में ऐसा परिमार्जन अभी तक दिखाई नहीं पड़ रहा। यही कारण है कि इतनी प्रतिभा का कवि होते हुए भी उनकी कविताएँ किसी कोटि के पाठकों की ज़ुबान पर नही चढ पाती, अर्थात् उनका संगीत, उनकी शब्द-ध्वनि सक्षेपित भावात्मक प्रभावो द्वारा संगठित नही होती कि अनायास ही पाठको के कानो में गूँज उठे और पंक्तियाँ या कविताएँ स्मृति में घर बनालें। अञ्चल स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे है, यह उनके भावी विकास के लिए शुभ लक्षण है। शब्द योजना और भावाभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण और प्रसादगुणयुक्त होने से ही काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है, अञ्चल अब तक इस ओर अधिक सचेष्ट नहीं रहे। परन्तु अञ्चल विकास-पथ पर हैं, अभी उनकी यात्रा का आरम्भ ही है, अतः प्रारम्भिक त्रुटियो का मार्जन उनके विकास को अधिक गति ही प्रदान करेगा।

—मई १९४२

२१

प्रात-प्रदीप और ऊर्मियाँ

आधुनिक हिन्दी कवि की अपनी अनेक अक्षमताएँ है। अपनी प्रतिभा के विकास के लिए उसे जो सामाजिक परिवेश मिला है वह किसी भी प्रकार उसके प्रति, उसकी कला के प्रति सहृदय नही है। इसी कारण अधिकाश कवि, जो सामाजिक प्रगति के ऐतिहासिक पहलू से अनभिज्ञ है, समाज के इस विरोधी वातावरण को एक चिरतन स्थिति मान लेते है। यह स्वाभाविक भी लगता है, क्योकि सामाजिक जीवन की आज तक की परम्परा भी तो बहुत-कुछ ऐसी ही रही है, और वह प्रत्येक मनुष्य के सस्कारो मे पैठकर उसकी भावनाओ को, उसकी बाह्य और आन्तरिक प्रतिक्रियाओ को अपने ही अनुरूप ढालती आई है, फिर कवि तो भावनाओ की दृष्टि से अत्यन्त संश्लिष्ट कोमलता का केन्द्र अपने मे विकसित किये होता है। अतः उसकी प्रतिक्रियाएँ कोमती होती है, चाहे वह इस सामाजिक परिवेश के सम्मुख नतमस्तक रहे या उसका विरोध करे। आज के अधिकाश कवि निराशावादी है, तो उसका यह अर्थ नही कि वे असन्तोष की अभिव्यक्ति नही करते—सतुष्ट व्यक्ति निराशावादी कैसा ? अत. हमे निराशावादी कवियो के व्यक्तिगत उद्गारो का भी सामाजिक आधार ढूँढ़ना चाहिए, व्यक्तिगत उद्गार भी समाज-प्रभावित होते है और निराशापूर्ण-उद्गार क्या यह स्पष्ट नही करते कि वह समाज कैसा है जो व्यक्ति के अन्दर ऐसी अस्वस्थ विकृतियाँ उत्पन्न करता है ? श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कविताएँ इसी दृष्टि से वर्तमान समाज की कड़ी आलोचना है। वैसे कहने को कहा जा सकता है, और कहना अनुचित भी न होगा कि 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की अधिकांश कविताएँ प्रगतिशील नही है, और वे छायावाद की ही परम्परा मे आती है। 'ऊर्मियाँ' में आकर 'अश्क' छायावाद के दायरे से निकलते दिखाई ज़रूर पडते है, लेकिन अभी तक वे उस दायरे से एकदम बाहर नही आ पाये हैं। और छायावाद की परम्परा के कवि होने के कारण 'अश्क' की कविताओ की सीमाएँ भी छायावाद की है, उनकी शहज़ोरियाँ और कमजारियाँ भी छायावाद की है। अर्थात् उनकी निराशा की अभिव्यक्ति में गहराई है, हृदय को द्रवीभूत करने की शक्ति है लेकिन एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है, ऐसे दृष्टिकोण का जो नित्यप्रति के जीवन की आशा और निराशा उत्पन्न करने वाली घटनाओ के आर-पार देख सके। 'अश्क' की कविताओ में कवित्व है, हृदय की निगूढ़ भावनाओ को सरल, स्वाभाविक ढङ्ग से व्यक्त करने

की क्षमता है, और उनकी कला महादेवा जी की कला की तरह सूक्ष्मदर्शी और प्रौढ भी है। अतः यदि 'अश्क' की इन दो कविता-पुस्तको की अधिकाश कविताएँ सामान्य अर्थ में प्रगतिशील नही है, तो इसका यह तात्पर्य नही कि उनमे कवित्व की कमी है या हृदय को स्पर्श करने की शक्ति और कल्पना की ऊँची उड़ान नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमे सौन्दर्य और सत्य का अभाव है। छायावाद की या पिछले किसी भी युग की कविता के विषय में ऐसा कहना असगत और सकुचित मनोवृत्ति का परिचय देना होगा। यदि ऐसा होता तो वह हमारे हृदय को स्पन्दित न करती। छायावाद, या यहाँ पर 'अश्क' की कविता को कहाँ से सौन्दर्य और सत्य प्राप्त हुआ है ? वर्तमान समाज की असगतियो से, जिसने प्रत्येक मनुष्य का जीवन अनिश्चित बना दिया है, जिसने उसके व्यक्तित्व के विकास के द्वार बन्द कर दिये है, जिसने उसका भावनाओ को एक ऐसे ढाँचे मे ढाल दिया है कि उसका स्पन्दन समाज-विरोधी दृष्टिकोण को जन्म देता है। और चूँकि प्रत्येक व्यक्ति इन चारो दिशाओ की विषमता का अनुभव करता है, इस कारण छायावादी कवियो के नैराश्यपूर्ण उद्‌गार और पलायनवादी वृत्तियां उसे सुखकर लगती है, सत्य लगती है। और, हमारे वर्तमान समाज-सम्बन्ध इन विषमताओ को अमली जामा पहनाकर उनकी अभिव्यक्ति को सौन्दर्य प्रदान कर देते है। इस प्रकार छायावाद की कविता में हमे सौन्दर्य और सत्य दोनो दिखाई देते है, यद्यपि ये दोनो आधुनिक समाज द्वारा निरूपित है, अतएव सीमित है। इस दृष्टि से 'अश्क' की कविताओ को इस विषमता की सुन्दर अभिव्यक्ति कह सकते है। और मुझे खुशी है कि कही-कहीं इस अभिव्यक्ति में इतनी स्वस्थता भी है जो 'अश्क' को नयी दृष्टि, नये सौन्दर्य-मूल्यो और नये सत्यो के आँगन मे खींच ले जाय—कला की प्रौढ़ता के साथ।

कविताओ के कुछ टुकड़ो की बानगी दिखाकर यह सिद्ध करना आसान काम है कि देखिये 'अश्क' की कविताएँ कितनी मधुर है, उनमे कैसी सरल अभिव्यक्ति है, भावो का कैसा हृदय-स्पर्शी स्रोत बहा है, या कि वे ऐसे सुन्दर चित्र देती है कि मन मुग्ध हो जाता है। मै यह सब नही करूँगा, क्योकि इतना कहना काफी समझता हूँ कि दोनो कविता—पुस्तकें अनेक ऐसी ही पुस्तको की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर की है, और पाठक उन्हे पढ़कर उनकी कला से निराश न होगा। मै यहाँ पर यह समझने की चेष्टा करूँगा कि इन पुस्तको में व्यक्त 'अश्क' का प्रेम के प्रति दृष्टिकोण कितना स्वस्थ या अस्वस्थ है, क्योकि 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की अधिकांश कविताएँ प्रेम-सम्बन्धी है और इस जाँच से कवि और पाठक दोनो को लाभ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। यहाँ इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि 'अश्क' के अपने व्यक्तिगत जीवन के उतार-चढ़ाव की, उसके भाव-अभाव की झलक हमें इन कविताओ में मिलती

है। और, इस कारण अन्य कवियो की अपेक्षा 'अश्क' की कविताओ मे अधिक सच्चाई है। तात्पर्य यह है कि यदि 'अश्क' को विरह-वेदना सहन करनी पडी है तो उन्होंने अपने काव्य मे आँसू बहाये है, और यदि पुन. उनके जीवन में प्रेम का स्पर्श हुआ है तो वे पुलकित और उल्लसित भी हुए है और इस रोदन और उल्लास ने प्रेम के प्रति उनके दो दृष्टिकोण विकसित किए है, जिनके कारण उनकी कविताओ में कम-से-कम व्यक्तिगत सच्चाई तो आ ही गई है। छायावाद के अनेक कवियो की तरह वे निरन्तर अश्रुओ का व्यापार ही नहीं करते रहे हैं, यह उनकी कविता की शक्ति है।

'प्रात-प्रदीप' 'अश्क' की स्वर्ग-गता पत्नी शीला को समर्पित है और उसमें १६३६ से ३७ तक की कविताएँ ही सग्रहीत है। उनकी जीवन-सगिनी के वियोग का शोक इन कविताओ में छाया हुआ है। 'प्रात-प्रदीप' कवि का ही प्रतीक है, जो 'विहान' मे अपना 'अवसान' देख रहा है। 'अश्क' के अन्दर इस 'अवसान' के समय भी एक चेतना है—

इतना क्या कम था तुम आईं,
उड़ते-से पक्षी की नाईं,
चार घडी को जीवन लाईं
जडता गति होकर बह निकली
उत्फुल्लित अविराम!

अर्थात् प्रियतमा के मिलन और प्रेम में जीवन लाने और जड़ता को गति देने की शक्ति है। और कवि व्यक्तित्व का विकास करने वाले इस प्रेम से वंचित नहीं होना चाहता, अतः उसकी आत्मा चीख़ उठती है—

चल दोगी कुटिया सूनी कर
इसी घडी इस याम!

लेकिन कवि की यह स्वस्थ चेतना, जिसमें दो प्रेमियो का मिलन दोनों के व्यक्तित्व के विकास का कारण समझा जाता है, जीवन की विषमता से कुण्ठित हो जाती है, और कवि में एक मिथ्या-सत्य का आभास देने वाली चेतना जग जाती है—

समझाता हूँ अपने दिल को,
माँग न पागल प्यार!

× ×

क्या रक्खा है मनुहारो में,
क्या आतुर अभिसार?
एक क्षणिक सुख उसके पीछे,
दुख का वारापार!

पहले दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण भिन्न है। अस्वस्थ है। इसके पीछे रूढ़ि-ग्रस्त मध्यकालीन मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया है, जो उसे मृत्यु देखकर होती थी और उसे भयभीत कर जीवन को माया और भ्रम समझकर, उससे भागकर बनो में तपस्या और उपासना करने को प्रेरित करती थी। उस पलायन में जिस प्रकार चिर-जीवन की आकाक्षा के पीछे मनुष्य की निस्सहायता और भय का भाव था, उसी प्रकार आज के मनुष्य के इस पलायन या प्रेम और सुख के क्षणो को क्षणकालिक मानने की वृत्ति के पीछे सामाजिक प्रतिबन्धो से उत्पन्न जीवन की अनिश्चितता के प्रति भय और कुण्ठा का भाव है। कवि इस अनिश्चितता की अवस्था को चिरंतन मानकर उसके आगे घुटने टेक देता है और यही से उसकी भाव-प्रतिक्रियाएँ विकृत होने लगती है। वह गाता है—

भला न मेरे सुख-सपनो को
होने दो साकार!
रोको नही अश्रुओ का पर,
पागल पारावार

विरह और आँसुओं से इतना प्रेम क्यो? क्योकि प्रेम और सुख के क्षण छोटे है, दुःख का पारावार अनन्त है, इस कारण वह अधिक सत्य है। और, कवि अपनी आत्मा को आघात पहुँचाने, पीड़ा सहने की वृत्ति को अपने अन्दर जगा लेता है। उसे विरह से प्रेरणा मिलती है, मिलन से नही। और वह पुराने प्रतीको को लेकर प्रेम-सम्बन्ध की व्याख्या करता है—

तुम हो दीपक, मै परवाना!

इस विकृति की परिणति इसी में होनी स्वाभाविक थी। दो प्रेमियों के मिलन की परिस्थितियाँ हमारे समाज-सम्बन्धो को व्यक्त करती है। 'प्रतीक्षा' में अश्क ने आशा की थी—'कर दोगी नीरस जीवन में, नव रस का संचार!' यह मिलन जिस समाज-सम्बन्ध का द्योतन करता है, क्या वह 'दीपक और परवाने' के समाज-सम्बन्ध से भिन्न नहीं है? पहले मे मिलन 'नव रस का संचार'—आत्म-विकास का सूचक है, दूसरे में दीपक अलग जलता है और परवाना उसके चारो ओर दीवाना हो फिरता है और मिलन होते ही उसे प्राण गँवाने पड़ते है—मिलन में भी उसके पर जलते है और यातना सहनी पड़ती है। आज तक के अधिकांश कवियो ने प्रेम के इन जैसे अनेक प्रतीकों का मुक्त प्रयोग किया है, क्योंकि इन प्रतीको को प्रेम का आदर्श भी बना लिया गया है! इसलिए यदि 'अश्क' ने उनका प्रयोग किया है और दीपक और परवाने के परस्पर-सम्बन्ध को आदर्श मान लिया है तो अकेले उन्हीं को दोषी नहीं कहा जा सकता। और, साधारणतया उनके लिए ऐसा मानना स्वाभाविक भी था।

दूसरे मार्ग निकाले, और उन्हें दूसरी प्रेयसी मिली जिससे वे पुनः अपनी वाणी में उल्लास भर लाए। 'हम मिले' वाले गीत में कवि अपनी अक्षमताओं के प्रति सचेत है। लेकिन वह अपनी प्रेयसी से पूछता है, जो तरुण नदी, चिनगारी और चिड़िया की तरह उन्मुक्त-गति है—

हम मिले
देवि मै पूछ रहा हूँ तुम से—
मुझे बहाओगी क्या ?
मुझे जिलाओगी क्या ?
मुझे उडाओगी क्या ?

यह बहना, जीना और उड़ना जो जीवन का सूचक है, बिना प्रेयसी के सम्भव नहीं। विरह यह आशा नही प्रदान करता, और न दीपक-परवाने का संयोग इस सयोग का आदर्श है, बल्कि इसका आदर्श स्वस्थ है जिसमें प्रेम पंख जलाकर परवाने की स्वतन्त्रता, उसके विकास को रुद्ध नही कर देता। वरन् उसमें प्रेमी बहने, जीने और उड़ने की आशा करता है। 'मधुप ने की जाकर गुञ्जार' गीत के अन्दर इस उल्लास की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है, और प्रेम ने कवि के जीवन में एक नई आशा का सचार किया है—

किस स्नेह परस ने छेड दिया ?
सब तार तने, झकार उठी !
ज्यो अन्धकार मे रजनी के,
हो ज्योत्स्ना की दीवार उठी !

और, कवि अपनी आशा-निराशा के सामाजिक कारण भी खोजने लगता है। वह सोचता है कि नष्ट होने के बाद जब पुन. उससे भी सुन्दर रचनाएँ बन जाती है—

फिर सिख मै क्यो छोडूँ,
नित नूतन जगत बनाना ?

उपेक्षित नारी, कारागार के बन्दी और टूटे छप्पर के भीतर पड़े ज्वर-पीडित कंकाल को देखकर वह सोचता है कि दुनिया में लोग उससे कहीं ज्यादा दुःखी हैं, और वह तो अपेक्षाकृत सुखी ही कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण में भी अ-सामाजिकता की एक कोर है, अर्थात् दुखो के कारण जानने की चेष्टा नहीं है, और एक अर्थ मे अपने दु खो का सामाजिक उदाहरण देकर पिष्ट-पेषण भी किया गया है, लेकिन यह दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक सामाजिक भी है। अन्तर्मुखी, व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्ति का यहाँ अन्त होता है। और "ओ नीम !" वाले गीत में तो इस निराशा और वियोग का सामाजिक कारण भी खोजा गया है—

लेकिन इस दुनियाँ में उल्फत
तुलती है धन के तोलो मे !

जिस प्रकार अपनी कहानियो और उपन्यासो में, उसी प्रकार अपनी कविताओं मे भी 'अश्क' छायावाद की अस्वस्थता त्यागकर एक सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो रहे है, यह हर्ष की बात है। उनकी कविताओ में प्रेम को लेकर जिन दो दृष्टिकोणो का सघर्ष दिखाई देता है, वह आधुनिक समाज की देन है। और चूंकि उनमें स्वस्थ दृष्टिकोण ही विजयी होता दीखता है, इस कारण आशा है कि अगले सग्रहो मे वे छायावाद के दायरे से बाहर निकल चुके होगे।

—सितम्बर १९४१

२२

'बरगद की बेटी', 'दीप जलेगा'

और

'चाँदनी रात और अजगर'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक कृती और मेधावी कलाकार हैं। उनके काव्य-संग्रह 'दीप जलेगा' की भूमिका में 'बुझते दीप से जलते दीप तक' के क्रमिक विकास का संस्मरणात्मक परिचय देते हुए श्रीमती कौशल्या 'अश्क' ने सूचित किया है कि इस सम्बन्ध में पाठको तथा आलोचको के भिन्न-भिन्न मत है, कि 'अश्क जी मूलत: कवि है, कथा लेखक है अथवा नाटककार ! कोई उन्हे कथाकार और उपन्यासकार से पहले कवि मानते है तो कोई पहले नाटककार और फिर कवि।' हमारे आलोचना-साहित्य में यह 'पहले' और 'बाद' की रस्साकशी बहुत दिनो से चलती आई है। मूल प्रश्न यह नहीं है कि लेखक पहले कथाकार है या कवि, बल्कि यह है कि उसने अपने साहित्य मे—उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कविता हो या उपन्यास या नाटक—अपने समय के जीवन का वैविध्यपूर्ण, मूर्त्त और यथार्थ कलात्मक-चित्रण कैसा किया है ? उसकी सहानुभूति कितनी व्यापक, मानवीय और सामाजिक है—अर्थात् सत्य के प्रति उसके आग्रह और उसकी खोज में कितनी ईमानदारी है ? समाज के समस्त अन्तर्विरोधो को उद्घाटित करते समय उसकी सहज सहानुभूति जनता के प्रति कितनी गहरी है ? जीवन के प्रति उसकी आस्था कितनी प्रबल और नैतिक है ? कोई रचना यदि इन दृष्टियो से खरी सिद्ध होती है तो उसके रचनाकार को मूलतः कवि ही कहना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ऐसी रचना ही युग का काव्य है—चाहे उसका रूप उपन्यास हो, नाटक हो या रूढ़ अर्थों मे कविता हो।

इस दृष्टि से जाँचने पर 'अश्क' के समूचे साहित्य में जो तत्व सब से अधिक उभर कर ऊपर आता है, वह यह है कि उनका दृष्टिकोण और उनकी सहानुभूतियाँ क्रमशः अधिक सामाजिक और सत्यनिष्ठ होती गई है। उनकी कविता, कहानी और नाटक—सभी में यह क्रमविकास सहज ही खोजा जा सकता है। प्रारम्भ की कविताओं में उनका दृष्टिकोण छायावादी अर्थात् रूमानी था। उस समय वे एक आत्मनिष्ठ प्रेमी की तरह केवल अपने मिलन-विरह के उल्लास और पीड़न को ही व्यक्त करते थे। ऐसी कविताओं के दो संग्रहों 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की

आलोचना करते हुए मैंने सन् ४१ में लिखा था कि "अपनी कहानियों और उपन्यासो की तरह अपनी कविताओं मे भी 'अश्क' छायावाद की अस्वस्थता त्याग कर, एक सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो रहे है, यह हर्ष की बात है। उनकी कविताओ मे प्रेम को लेकर जिन दो दृष्टिकोणो का संघर्ष दिखाई देता है, वह आधुनिक समाज की देन है और चूँकि इस मे स्वस्थ दृष्टिकोण ही विजयी होता दीखता है, इस कारण आशा है कि अगले सग्रहो में वे छायावाद के दायरे से बाहर निकल चुके होगे।" इसे यदि आप आत्म-प्रशसा न कहे तो कहूँगा कि यह 'आशा' आज एक 'भविष्यवाणी' सिद्ध हो चुकी है। 'दीप जलेगा', 'बरगद की बेटी' और अन्तिम कविता 'चाँदनी रात और अजगर' इसके प्रमाण है।

'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' के पश्चात् 'अश्क' ने एक प्रकार से रूमानी मिलन और विरह के गीत रचना बन्द ही कर दिया। 'ऊर्मियाँ' मे एक कविता 'नीम से' है, जिसमें कवि ने अपने उद्दाम यौवन की अनेक करुण और मधुर स्मृतियो के साक्षी 'नीम' को स्नेहाञ्जलि अर्पित की है। इस कविता मे जितनी आत्म-विह्वलता और गहरी वेदना है उतना ही वर्ग-समाज के वैषम्य के प्रति सचेतन प्रतिवाद का स्वर भी है। नीम उन तमाम प्रणय-क्रीडाओ का साक्षी है, जिन्होने कवि के हृदय में नयी उमंगे, नयी आशाएँ और नयी जीवनकाक्षाएँ जगाईं, पर साथ ही नीम उन मनस्तापो, अश्रुधाराओ और हृदय में तूफान बनकर उठने वाले हाहाकारो का भी साक्षी है, जो दो प्रेमियो के मिलन में दुर्गम बनकर खड़ी, वर्ग समाज की जीवन भक्षी-नैतिकता के निर्मम दशन से उसमें पैदा हुए। कवि का हृदय जैसे अपने कठोर अनुभवो की शिला से टकराकर यकायक चीत्कार कर उठा—

लेकिन इस दुनियाँ मे उलफत
तुलती है धन के तोलो में।

पर इस सहज-चीत्कार में छिपा प्रतिवाद का स्वर आगे की कविताओ में सचेतन हो जाता है और 'अश्क' 'उलफत' को भी 'धन के तोलो मे' तोलने वाली वर्ग-समाज की नैतिकता और उसके वैषम्य को ही और अधिक स्पष्टता से प्रतिबिंबित करने लगते है। गीत होने के साथ-साथ 'नीम से' कविता में करुण-मधुर स्मृतियो का अनुगुफन, पीडाओ और पुलको-भरा आत्म-निवेदन स्वय में एक भावपूर्ण कहानी बन गया। अगली कविताओ में यह विकास जारी रहा और 'अश्क' पद्य-कहानियाँ लिखने लगे।

रचनाक्रम में 'बरगद की बेटी', 'दीप जलेगा' से पहले की कृती है। सम्भवतः यह पंजाब के किसी गाँव की किसी लोक-कथा के आधार पर लिया गया खण्ड-काव्य है। इस कविता की नायिका लहराँ एक किसान की बेटी है। जमींदार का बेटा अनवर

उस पर डोरे डालता है और उस सरल-युवती का मन अपनी ओर खींच लेता है। उधर अनवर का नौकर सादिक भी लहराँ पर जान देता है और बिरादरी एव वर्ग-समानता के आधार पर वह अपने को लहराँ का एकमात्र प्रेम-पात्र बनने का अधिकारी समझता है। किन्तु लहराँ उसके प्रति अनुरक्त नही होती। सादिक का मोहपाश उसे अपनी वर्ग-स्थिति से अचेतन रखता है। सादिक का हृदय ईर्ष्या और क्रोध से जलने लगता है और एक दिन साँझ के झुटपुटे में, जब अनवर और लहराँ ऊसर के एकान्त में, बरगद के नीचे, रोज़ का तरह प्रेमालिंगन में आबद्ध थे, वह अनवर के सीने में ख़ंजर भोंक देता है। उसके दूसरे वार में लहराँ भी लहू मे लथपथ धरती पर गिर पड़ती है। ईर्ष्या और आक्रोश के उन्माद में सादिक पुलिस के सामने आत्म-समर्पण करते हुए अपना अपराध स्वीकार करता है या कहें कि वर्ग-नैतिकता को अपने अरमानो के ख़ून का दोषी ठहराता है—

धनी और निर्धन मे कैसा
प्यार कहो कैसी उल्फ़त ?
उसका मन बहलावा है और'
इसकी जाती है इज्जत !

जमींदार के इशारे पर पुलिस किसानो को बरबाद कर देती है और घायल लहराँ ज़मींदार की अटारी में लाई जाती है। सावन की तूफानी बाढ सरीखी लहराँ की जवानी से ज़मींदार की निरंकुश वासना जग जाती है और वह बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है। पर लहराँ इस अपमान को सहन न कर उसका गला घोट देती है और स्वयं भागकर आत्म-हत्या कर लेती है।

इस कथा को 'अश्क' ने ग्राम-जीवन के वातावरण और अन्तर्विरोधों के वैविध्यपूर्ण चित्रण से इतना सम्पूर्ण और चित्रात्मक बना दिया है कि हिन्दी-काव्य में आधुनिक ग्राम-जीवन की समस्याओ का इतना सुन्दर समन्वित चित्रांकन शायद ही कही हो। यद्यपि यह एक प्रेम-कथा है, पर इसके ताने-बाने मे ग्राम-जीवन का यथार्थ इतनी सूक्ष्म संवेदनशील कलात्मकता से गुँथा हुआ है कि सामन्तशाही उत्पीड़न और अनाचार का सजीव खाका आँखों के आगे खिच जाता है।

'दीप जलेगा' में 'बरगद की बेटी' जैसी स्पष्ट कहानी नही है। केवल उसकी रचना के पीछे लेखक के जीवन की एक व्यक्तिगत घटना है। उसके संकेत इस कविता में आद्यन्त छिपे हुए है, जिनसे यह कविता यथार्थ का ऐसा दीर्घ-उच्छवास बन गई है जो तीव्र वेदना और संकल्प भरे स्वर में मनुष्य के जीवन-सघर्ष की कहानी का भी प्रतीक है। पृष्ठभूमि की कथा यह है कि सन् ४६, ४७ में कवि यक्ष्मा से पीड़ित होकर पंचगनी के सेनिटोरियम में मृत्यु से जूझ रहा था, पास में केवल पत्नी कौशल्या

श्रौर शिशु नीलाभ था। मृत्यु के पाश उसे अपने शिकंजे में जकड़ने के लिए आतुर थे और कवि इस शिकजे को तोडने के लिए ! 'अश्क' का यह व्यक्तिगत संघर्ष अपने प्रतीक-रूप मे विराट सामाजिक सघर्ष का ही एक मार्मिक रूपक बन जाता है, जिससे इस कविता को शक्ति, सौन्दर्य और सामयिक-महत्त्व प्राप्त होता है। 'अश्क' की कल्पना मे जीवन के दीपक को बुझाने के लिए घन-अंधकार चारो ओर से तरह-तरह के हिंस्र-रूप धारण कर आगे बढ़ता है। 'अश्क' की अविजित आत्मा उसे चुनौती देती है। कवि अपनी सगिनी से कहता है—

देख रही हो—
दाँत पीस कर,
शक्ति शेष से
तलछट तक मे
अन्तर के घट का स्नेहासव
पिला रहा हूँ,
इस दीपक को
अधकार से जूझ रहा जो !
देख रही हो—
मिट-मिट कर जीने की मेरी प्रबल साध को,
देख रही हो—
प्रतिपल गहरे होते आते तम-अगाध को !

और जीवन के प्रति इस अप्रतिहत, दुर्दमनीय आस्था के बल, वह इसी लाक्षणिक शैली में समाज के उस सारे वैषम्य और सघर्ष की चेतना अपने मन में जगाता है, जिसकी सीमाएँ अतीत और वर्तमान को अपने अंक में समेटे भविष्य तक व्याप्त है और जिसमे पड़कर युगो-युगो से मनुष्य, जीवन के क्रम, जीवन की रचना-शक्ति, जीवन के सत्य और सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए अंधकार की शक्तियों से लड़ता आया है और उस समय तक लड़ता रहेगा जब तक यह उत्पीड़न, यह वैषम्य, यह हिंसा, यह गुलामी, यह युद्ध सदा के लिए समाप्त नहीं हो जाते। जीवन के प्रति यह आस्था कवि को मौन नही रहने देती। वह अपने संकल्प को गीतों में भर कर गाना चाहता है, ताकि जीवन पर छाये इन तिमिर-घनो को तड़ित की भाँति चीरकर वह कोने-कोने मे प्रकाश भर दे। आस्था के इस दीपक को कवि एक के बाद दूसरे हाथों में देकर सतत जलाये रखने का संदेश देता है, यह सदेश कवि की अपनी जीवन-कथा में गुँथकर इतना मार्मिक बन गया है कि हृदय विदग्ध और आँखें पुरनम हो आती है।

अपनी इस नई परम्परा में 'चांदनी रात और अजगर' 'अश्क' की नवीनतम कृति है। इस पद्य-कथा की टेकनीक 'बरगद की बेटी' और 'दीप जलेगा' दोनो से भिन्न है। 'बरगद की बेटी' में एक सरल छन्द और सीधा-सादा कथा-सूत्र है। 'दीप जलेगा' मे कहानी पृष्ठभूमि मे है और काव्य-प्रतीकों द्वारा लेखक का उद्गार बनकर व्यक्त होती है। छन्द में भी यहाँ भिन्नता आ गई है—कही बँधा है तो कहीं मुक्त ! किन्तु 'चाँदनी रात और अजगर' की कहानी कवि के गत-जीवन के संस्मरणो, अभावों और भावी जीवन के स्वप्नों द्वारा गूँथी गई है। इस प्रकार इस कविता का रूप-विन्यास और छन्द-प्रयोग अपेक्षया अधिक संश्लिष्ट और जटिल है। इस कविता की कहानी का आन्तरिक तारतम्य घटनाओ की क्रम-सूचना के कारण नहीं, बल्कि भाव-प्रतिक्रियाओ के सहज-सम्बन्धो के कारण है। इसी से यह एक पद्य-कथा बनती है। इसमें इतिवृत नहीं, लेखक के भावों, प्रतिक्रियाओं और विचारों के मनके पिरोये हुए है, जो उसके गत और वर्तमान जीवन के यथार्थ-अनुभवो और भविष्य की आकाक्षाओ के प्रतिबिम्ब है। किन्तु रूप-विन्यास की इस संश्लिष्टता के कारण कविता के प्रवाह मे कही कमी नहीं आती। छन्द छोटा हो या बड़ा, मुक्त हो या बँधा, कविता की सरिता पूरे वेग से बहे जाती है।

इस पद्य-कथा की रूपरेखा सक्षेप में यो है। शारदीय पूनों का दिन है। बाहर रजत-ज्योत्स्ना फैली हुई है। कवि अपने घर में वातायन के पास चारपाई पर बैठा यह मनोहर दृश्य देखता है। उसकी जीवन-संगिनि दिन भर के काम-काज से थककर पास में पड़ी सो रही है। उसकी इस श्रम-श्लथ-अवस्था को देखकर, जिसमे शरद पूनो के स्निग्ध रजत वैभव को निरखने का उत्साह तक अवशेष नहीं, कवि स्वयं विचारों के सागर में डूबने-उतराने लगता है। कभी वह उनके भाग्य की बात सोचता है, जो साधन-सम्पन्न और अवकाश-भोगी है और इस समय अपनी प्रेयसियो के साथ नौका-विहार कर रहे है या पार गंगा के रेतीले चौडे तट पर एकान्त में प्यार की सरगोशियो में तल्लीन है। कभी उसके मानस-पट पर आप-बीते अन्तहीन-जीवन-संघर्ष के करुण चित्र उभर आते है तो कभी अपने बचपन के अपने जैसे ही अनेक दूसरे साथियों की जीवन-यातना मन पर रेखांकित हो जाती है। अवकाश-भोगियो के चिन्ता-रहित आमोद-प्रमोद और श्रमकरो के अभावग्रस्त जीवन के चित्र—वास्तविक जीवन के ये दो विरोधी रूप चिन्तालीन कवि के मन में एक नैतिक प्रश्न उठाते है। इस सामाजिक वैषम्य और शोषण-उत्पीड़न के कारण युगो-युगो से कितनी अनगिनत प्रतिभाएँ अनुकूल वातावरण और अवसर न पाकर मुरझाती आई है ? स्वय उसने अपने जीवन में देखा है कि ननकू, रहमा, सदना, उसके बचपन के साथी, जिनमें क्रम से एक महान् गायक, शिल्पी और अध्यापक बनने की जन्मजात-प्रतिभा और बलवती आकांक्षा थी, इस वर्ग-वैषम्य के कारण पनप नहीं सके। उसके अपने महाकविब नने के सपने,

सपने ही रह गये। आखिर यह क्यो है ? यह कैसी नैतिकता है, कैसा न्याय है ? कवि के मन में प्रतिभाओ के इस विराट अपव्यय का भाव एक टीस पैदा करता है और भविष्य के जो सपने, आज सघर्षशील मानवता की कल्पना मे पल रहे है और मुक्त-जीवन और सुख-समृद्धि की जो आकाक्षाएँ असख्य मानवो के हृदयो मे तरंगित हो रही है, कवि भी एक वस्तुनिष्ठ स्वप्नदृष्टा की तरह उन सपनो में रम जाता है। अपने अनुभव से और मानवता के व्यापक मुक्ति-संघर्ष से उसे यह चेतना प्राप्त हो चुकी है कि शेषनाग-सा यह मानव-श्रम का अजगर अब अपने मर पर समस्त पृथ्वी का भार उठाये, क्षीर-सागर में लक्ष्मीपति की सेज न बना रहेगा, बल्कि कुडली खोलकर अपने क्रुद्ध श्वास से शोषण और शासन की पूँजीवादी सत्ता को मिटा देगा। उस मुक्त वातावरण में समस्त मानव-समाज एक साथ उन्नति-पथ पर अग्रसर होगा। प्रत्येक घर में प्रतिभा के कमल खिलेगे और केवल यह चाँदनी ही नही, बल्कि समस्त धरणी और उसका भौतिक वैभव कृती मानव का उपभोग्य बन जायगा।

इतने विचार-सूत्रो को एक संक्षिप्त भाव-कथा में कलात्मक रूप से जोड़ देना निश्चय ही कवि की एक बड़ी सफलता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि छायावाद की कविता के बाद हिन्दी-कविता का युग समाप्त हो गया है, कि अब कविता मे वह पहले जैसी भाव-प्रवणता, हृदय को सहज स्पर्श कर देने वाली रागात्मकता नहीं लाई जा सकती; कि जीवन इतना सश्लिष्ट और समाज के अन्तर्विरोध इतने स्पष्ट हो गये है कि अब वह शिशु-सुलभ-विस्मय-भावना, जिज्ञासा और सरल करुणा-वेदना असम्भव है जो छायावादी कविता की मार्मिकता का उपकरण थी; कि या तो कोरी राजनीतिक नारेबाजी की तुकबन्दियाँ लिखी जा सकती है या फिर विषय-वस्तु का आग्रह छोड़कर कविता में केवल रूपगत प्रयोग ही किये जा सकते है; कि कविता नहीं लिखी जा सकती—वह कविता, जो सीधे हृदय से निकली हो, जिसमें जीवन के सुख-दुख हर्ष-विमर्ष और पीडा-वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति हो। 'चाँदनी रात और अजगर' न तो कोरी नारेबाजी है (यद्यपि पूँजीवादी समाज के वैषम्य और अन्तर्विरोधों का मूर्त्त-चित्रण इसमें है) और न केवल कविता में रूपगत-प्रयोग है (यद्यपि कवि ने विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को मार्मिक और सुन्दर बनाने के लिए 'राशिद', 'फैज', पंत, महादेवी की शैलियो से प्रभाव-ग्रहण करते हुए अपनी छन्द-योजना और शब्द-विन्यास में कतिपय नये प्रयोग भी किये है।) कुल मिलाकर यह कविता वास्तव में कविता है, जिसकी विषय-वस्तु इतनी यथार्थ और सामयिक है, नैतिक दृष्टिकोण इतना स्पष्ट और जनवादी है और अभिव्यक्ति इतनी चुस्त और मार्मिक है कि सहज ही पाठक के हृदय को झकझोर देती है। —अगस्त १९५२

२३

गोदान और शेखर

प्रेमचन्द के 'गोदान' में होरी के चरित्र में जावन के एक मूल तत्त्व का गतिमान चित्रण हुआ है। होरी पर मुसीबत के पहाड़ टूटते है और उसके कठोर जीवन में सड़क पर कंकड कूटते हुए मरते-दम तक इन मुसीबतो की जटिल श्रृंखला का अन्त नहीं होता। सब तरफ़ से नोच-खसोट ह, उसका भाग्य एक कच्चे धागे से बँधा टँगा है; रोज़ धागा टूटता है और वह धूल में गिरकर ठोकरे खाता है। ऐसा लगता है मानों उसका अब अन्त हुआ तब अन्त हुआ, लेकिन फिर भी होरी जीता जाता है, धूल में से सिर उठाकर अनन्त श्रान्ति और थकान लेकर भी चल पड़ता है। उसमे अक्षय जीवट है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि मरुस्थल मे पडी बूँद-सा होरी मिट क्यो नहीं जाता। कहाँ से मिलता है उसे अनन्त प्राण-रस ? इस प्राण-रस का स्रोत कहाँ है ? और यह बात भी नहीं कि सामन्तवर्ग के आदर्श पुरुष राम की तरह होरी किसान-वर्ग का आदर्श पुरुष हो ! उसमें आधुनिक समाज की परिस्थितियो से उत्पन्न सारी कमज़ोरियाँ है, अन्धविश्वास और क्षुद्रताएँ है। फिर भी बड़े-बड़े साम्राज्य मिट्टी में मिलाये जा सकते है, लेकिन होरी जीवन के मूल-स्रोत से कुछ ऐसा चिमटा हुआ है कि उसको मिटाया ही नही जा सकता—और 'होरी' जीता-जागता चरित्र है। जीवन में सैकड़ो-लाखो 'होरी' हमे मिलते हैं, हम उनके पास से गुज़र जाते है, लेकिन उनकी क्षुद्रताएँ ही हमारी दृष्टि मे आती है, और जो यथार्थवादी लेखक होने का दम भरते है वे जैसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से उनकी क्षुद्रताओ को विशाल आकार देकर चित्रित कर देते है, और यदि प्रगतिवादी हुए तो इन क्षुद्रताओ को समाज-व्यवस्था के मत्थे मढ़कर सहानुभूति के दो शब्दो से उनके चरित्र को आन्तरिक गौरव से मंडित भी कर देते है, मानो वे घूरे की खाद हो, जो पूँजीपतियो के शोषक पेट में पड़ने के पहले स्वच्छ अन्न थी और अब भी यदि कायदे से खेत में बिखेर दी जाय तो वैसा ही स्वच्छ अन्न पैदा करने मे सक्षम है, लेकिन दुर्भाग्य कि आज घूरे पर पडी सड़ रही है और कोई उसका उपयोग करने वाला नही है। लेकिन इस तरह लेखक होरी के प्राण-रस के उस अजस्र स्रोत तक नही पहुँच पाते, जिसके कारण होरी चुस-पिस के भी कभी घूरे की खाद नही बन पाया। होरी एक व्यक्ति नहीं है, वह भारत के समूचे किसान-वर्ग का प्रतिनिधि है, और इसी कारण उसके जीवन के सारे सूत्र अपने वर्ग से जुड़े हुए है, उन्ही सूत्रो के द्वारा उसे अक्षय प्राण-रस मिलता है।

वह पिसता है तो इसलिए कि सब किसान—उसके जैसे करोड़ो होरी—पिस रहे हैं, वह जीता जाता है तो इसलिए कि सदियो के शोषण के बावजूद भी सब किसान—करोड़ो होरी—पैदा होते और जीते चले जा रहे हैं, उन्हे कोई मिटा नही सकता। और यह जन-जीवन एक अटूट धारा है, प्रकृति के दृश्यमान जगत की तरह एक तरङ्ग-प्रवाह है, और होरी का जीवन-क्रम भी एक अटूट धारा है। उसके जीने की क्रिया एक तरङ्ग-प्रवाह है, और जन-जीवन की धारा से होरी के व्यक्तिगत जीवन के जो सूत्र मिले हुए हैं, वे ही उस तक प्राण-रस का खाद्य पहुँचाते रहते हैं, और यह खाद्य प्रेमचन्द के समय की सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही है; आज वह भिन्न है, क्योंकि आज परिस्थितियो के दबाव से, चेतना के सतत झकोरो से जन-जीवन की धारा में ऊँची लहरें उठ रही हैं। आज का लेखक होरी के अक्षय जीवन का गतिमान चित्रण जीवन-स्रोतो से चिपटे रहने की उत्कट क्षमता के ही रूप मे करके सफल नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुस्थिति बदल गई है। उसे नष्ट होने के पूर्व ही शोषणकारी शक्तियो के निरन्तर आक्रमणो से इन जीवन-स्रोतो की रक्षा करना है—सक्रिय और सगठित रूप से। लेकिन हिन्दी के कितने उपन्यासकारो ने इस मूल तत्त्व को समझ पाया है?

अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' 'गोदान' के बाद का सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है। लेकिन 'शेखर' कैसा चरित्र है? उसके जीवन-सूत्र कितने फैले हुए हैं? वह जन-जीवन से कितना प्राण-रस खीचता है? यह सच है कि शेखर मुख्यतः मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक व्यक्ति का अध्ययन है, लेकिन उसकी चेतना एक असामाजिक प्राणी की चेतना है और वह एक उपजीवी है जो सामाजिक जीवन से प्राण-रस खीचकर भी अपनी चेतना में उसका आभार स्वीकार नही करता। ऐसे चरित्र की भाव-प्रतिक्रियाएँ कृत्रिम रूप से अतिरञ्जित और यान्त्रिक ही हो सकती हैं, जैसी कि 'शेखर' की है। मनोवैज्ञानिक या सामाजिक धरातल पर 'होरी' के बाद के किसान या मध्यवर्गीय चरित्र को 'गोदान' की परम्परा को ही आगे ले जाना था, अर्थात् उसमे आज की संश्लिष्ट वास्तविकता का गत्यात्मक चित्रण होना आवश्यक था, लेकिन 'शेखर' आज के समाज का प्राणी होकर भी, लेखक द्वारा असाधारणता का गौरव प्रदान करने के सारे कलात्मक प्रयत्नो के बावजूद भी, असामाजिक और विक्षिप्त है। व्यक्तिवादी शेखर अपने में ही एक केन्द्र है और उसकी जीवन-क्रिया एक विशाल धारा—प्रोसेस—का अङ्ग नहीं है, वरन् स्वनिर्मित नियमो से परिचालित है। होरी के जीवन में अविराम संघर्ष है, लेकिन होरी अकेला लगते हुए भी इस सघर्ष में अकेला नही है। होरी के गिरने पर पूरे समाज का ढाँचा गिरता दीखता है, उसके उठने पर पूरा समाज उठता नजर आता है। उसके उत्थान-पतन

के संघर्ष के परोक्ष मे पूरे समाज के उत्थान-पतन का विराट् संघर्ष छिपा है। पर होरी अपनी सारी कमज़ोरियो के साथ धीर और शान्त प्रकृति का है, संघर्ष से भागने के प्रयत्न में वह उसके भँवर में और-और फँसता ही जाता है। इसके विपरीत शेखर अपनी चेतना से असंतोष और सघर्ष का ज्वालामुखी है, लेकिन संघर्ष के सारे मन्सूबे बनाने के बाद भी वह संघर्ष से पलायन कर जाने में ही सफल होता है। इसी कारण उसकी जय-पराजय पर उसके चतुर्दिक वातावरण की एक पत्ती भी खड़कती नजर नहीं आती, उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओ की प्रतिध्वनि समाज के मानस में नहीं होती, जैसे उससे किसा को कोई सरोकार हा न हो। 'होरी' में व्यक्तित्व है और उसका व्यक्तित्व भारतीय किसान के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है। शेखर में व्यक्तित्व नहीं है, वह कोरा व्यक्तिवादी है, अपना ही प्रतिनिधि है। होरी जीवन में कभी क्रान्तिकारी नही हो सका। लेकिन सामाजिक विषमताओ का समाधान पाने के सारे मार्गों की निरर्थकता साबित करने के बाद जब वह मरता है—जब उसकी लाश पर बैठी धनिया के सामने समाज की जोके, जिन्होने उसे आजीवन चूसा था, अब स्वर्ग में उसकी आत्मा के लिए शान्ति की व्यवस्था करने के हेतु मृत होरी के साथ एक गोदान का सार्टीफ़िकेट रहना अनिवार्य बताती है और धनिया अपना आख़िरी जमा-पूंजी के बीस आने पैसे और गाय उनके हाथ में पकड़ा के पछाड़ खाकर गिर पड़ती है—तो पाठक अनायास इसी परिणाम पर पहुँचता है कि अनचाहे ही सही क्रान्ति ही एकमात्र उपाय रह गया है। शेखर क्रान्ति के प्रति जितना ही उत्साह दिखाता है, उतना ही वह समझौते के मार्ग पर दौड़ता जाता है। दोनो मे यही मौलिक अन्तर है।

—फरवरी १९४२

२४

गिरती दीवारें

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' लगभग छः सौ पृष्ठों का एक बृहद् उपन्यास है। स्वर्गीय प्रेमचंद के 'गोदान' के पश्चात् हिन्दी में लघु उपन्यासो की प्रथा रही। अधिकाश उपन्यास दो-तीन सौ पृष्ठों से आगे नहीं बढ़ सके, केवल 'अज्ञेय' का उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' ही एक बृहद् उपन्यास इस बीच प्रकाशित हुआ है। उसके दो भाग निकल चुके है, तीसरे भाग की प्रतीक्षा की जा रही है। परन्तु 'शेखर : एक जीवनी' मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, और यद्यपि उसकी शैली अत्यन्त परिष्कृत और उसकी टेकनीक अति आधुनिक है, परन्तु मूलतः वह एक रोमाटिक उपन्यास है, इसके ठीक विपरीत 'गिरती दीवारें' मूलतः एक यथार्थवादी उपन्यास है। पर इस व्याख्या से उसका मूल्य 'शेखर' से किसी भी अर्थ में कम नहीं है, क्योकि 'गिरती दीवारें' की शैली और टेकनीक भी इतनी सुगठित, सुष्ठ, परिष्कृत और कला-पूर्ण है कि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के 'गोदान' की यथार्थवादी परम्परा मे 'अश्क' का यह उपन्यास एक बहुत बडा और साहसपूर्ण क़दम है। सम्भवत इस कथन मे अत्युक्ति नहीं है कि 'गिरती दीवारें' हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासो में गणना करने योग्य है। प्रेमचंद के 'गोदान' ने यदि किसान-जीवन का सांगोपाग चित्रण किया है तो 'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' में निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण किया है। 'गिरती दीवारें' वस्तुतः निम्न-मध्यवर्ग के युवक चेतन की जीवनी है। चेतन 'अज्ञेय' के उपन्यास के नायक शेखर की तरह अभिजात कुल का नही, अतः वह प्रारम्भ से ही अपनी वंशानुगत अथवा जन्म-जात प्रतिभा की प्रखर चेतना से आक्रांत नहीं है कि सोते-जागते अपने मन में अपनी प्रतिभा की माला फेरता रहे कि मै प्रतिभावान हूँ, असाधारण हूँ। चेतन ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढि-जर्जर परिवार में पैदा हुआ था जहाँ चीकने पात वाले होनहार बिरवा भी दुर्धर्ष विषमताओ के वर्षा, आतप, घाम से रूक्ष और धूल-धूसरित दिखाई देते है। इस कारण शेखर की तरह अपने जीवन की अधिकांशतः अनुकूल परिस्थितियो पर शासन करके लोगो से प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करा लेने की समस्या चेतन को उद्वेलित नही करती। वह सबसे पहले जीना चाहता है और जीने के लिए विपरीत परिस्थितियो से संघर्ष करता है और इस संघर्ष के दीर्घ पथ पर साहस-पूर्वक चलने के क्रम में वह अपनी प्रतिभा को कठोर अनुभवो

की शिला पर टकरा-टकराकर तीव्र से तीव्रतर और उत्तरोत्तर अधिक मानवीय, सामाजिक और व्यापक बनाता जाता है। इसी कारण 'अश्क' के उपन्यास में न लम्बी-चौड़ी सैद्धांतिक बहसें हैं, न मतामत का प्रचार, न मिथ्या दार्शनिकता का ढोंग—उसमें साधारण घटनाओ से बना साधारण जीवन अपने संपूर्ण सजीव वातावरण की रूप-रस-गन्ध-मय चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिंबित हो उठा है, यही उसकी विशेषता है।

यों कहने के लिए 'गिरती दीवारें' की समस्या पुराने ढंग के अनमेल विवाह से उत्पन्न जीवन के दुर्निवार असामजस्य की समस्या है, परन्तु वास्तव में 'अश्क' ने अपने को इस समस्या तक ही सीमित नहीं रखा है। 'गिरती दीवारें' का प्रत्येक वाक्य वर्तमान जीवन की विषमता की विविधता का रहस्योद्घाटन करता है और आज के सम्पूर्ण जीवन को अगणित समस्याओ की एक जटिल ग्रन्थि के रूप में उपस्थित करता है—एक ऐसी ग्रन्थि के रूप में जो अपनी जर्जरता को छिपाने के लिए अधिकाधिक निर्मम, कठोर और हिंस्र बनती जा रही है, पर साथ ही जीवन के उद्दाम गति-वेग और अविराम परिवर्तन के थपेड़े खाकर जिसके बन्धन असह्य वेदना, गहरी निराशा और मानसिक उद्विग्नता पैदा करके टूटते जा रहे है।

इस विशाल रूपक को चेतन की अपेक्षाकृत साधारण पर सश्लिष्ट जीवनी में अत्यन्त कलात्मक ढग से आबद्ध किया है।

ग़रीब निम्न-मध्य-वर्ग मे उत्पन्न चेतन किसी प्रकार बी० ए० पास कर लेता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसकी सहज रुचि है और स्वयं कवि और लेखक बनने की आकांक्षा भी उसमें जग चुकी है। उसके घर का जैसा कटुता-पूर्ण वातावरण है और बाहर जीवन जैसा कठोर और दुर्गम है, उसके अनुभव को व्यक्त करके जी हल्का कर लेने की जितनी इच्छा स्वतः उसमें जगती है, उससे ज्यादा परिस्थितियाँ उसे एक स्कूल का मास्टर और फिर लाहौर में जाकर एक समाचार-पत्र मे नौकरी करने के लिए विवश करके उसको साहित्य की दुनिया में ला पटकती है।

इसी बीच उसके माँ-बाप उसकी शादी एक साधारण-सी, पर अत्यन्त सरल हृदय रखने वाली लडकी चदा से कर देते है, और यद्यपि चंदा का रूप-रंग उसे पसंद नहीं है और वह शादी नही करना चाहता, पर कठोर, निर्दय पिता शादीराम और ममता की देवी माँ के आदेश को टाल नहीं सकता। चदा की छोटी बहिन नीला उसे प्रारम्भ ही से आकर्षित करती है, परन्तु जैसी रूढ़ियो में बँधे समाज में होता है, चेतन को अपने भाग्य से समझौता करना पड़ता है। नीला के प्रति चेतन का आकर्षण और चेतन के प्रति नीला का आकर्षण एक अत्यन्त जटिल समस्या उत्पन्न कर देता है। चेतन नीला को अपने मन से निकाल नहीं पाता। एक बार जब चेतन अपनी ससुराल मे जाकर बीमार पड़ जाता है, नीला उसकी सेवा-सुश्रूषा करती है,

और यह निकट साहचर्य उसकी इच्छाओं को दुर्दमनीय रूप से उभार देता है। वह एक दिन नीला को बलात् अंक में लेकर चूम लेता है। नीला अपने को छुडाकर भाग जाती है और उसका खाना-पीना छूट जाता है, लगातार रोती रहती है, सम्भवतः यह सोचकर कि भाग्य की विडंबना के आगे उसे सिर झुकाना पड़ेगा—चेतन उसे नही मिल सकता। इधर चेतन आत्म-ग्लानि से भरकर नीला के पिता को सारी घटना बताकर चदा को लेकर वहाँ से चल पडता है। परन्तु इस छोटी सी घटना की टीस दोनो के मर्म मे बार-बार जीवन भर उठती रही, और नीला जैसे अपने से ही बेसुध होकर अपनी छाया बनती गई और चेतन आत्म-ग्लानि और अपने दाम्पत्य जीवन मे सौन्दर्य के अभाव से उत्पन्न आकांक्षा के बीच द्वद्व मे पडा अपने जीवन की आर्थिक परिस्थितियों से ही जूझता रह जाता है।

इस सघर्ष और द्वंद्व-भरे जीवन मे चेतन को कतिपय विचित्र और कुरूप अनुभव होते है। अखबारो के दफ्तरो में काम करते-करते वह अपना स्वास्थ्य खो बैठता है, ऐसे ही अवसर पर लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य रामदास से उसकी भेट हो जाती है। अपने स्नेह का अभिनय करके वे चेतन को अपनी बातो मे फाँस लेते है और उसे शिमला ले जाते है। वहाँ वे चेतन से बच्चो के स्वास्थ्य-रक्षा विषय पर एक पुस्तक लिखवाते है, पचास रुपये महीने मे चेतन तीन मास के अन्दर उन्हे पुस्तक लिखकर दे देता है। पुस्तक वैद्यराज रामदास के नाम मे ही प्रकाशित होगी, यह चेतन को बहुत पहले मालूम हो जाता है और तब से उसका मन किसी प्रकार इस धूर्त वैद्यराज के चगुल से निकल भागने को करता है, परन्तु रामदास बातचीत का इतना मीठा और मतलब का ऐसा चौकस है कि चेतन उसके आगे निरुपाय हो जाता है। वह चेतन से और भी पुस्तके अपने नाम से लिखाता यदि नीला के विवाह की सूचना पाकर वह शिमले से किसी प्रकार जान छुड़ाकर भाग न निकलता।

नीला का विवाह एक अधेड़ और कुरूप व्यक्ति से हो जाता है। चेतन नीला से एकान्त में मिलकर उससे क्षमा माँगना चाहता है, पर नीला जैसे अपने अस्तित्व ही को भूल चुकी है। वह गुमसुम अलग बैठी रहती है। केवल विदा होने के पहले वह आँखों में आँसू भरे चेतन के कमरे में आती है और आर्द्र स्वर में चेतन से अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा माँग लेती है। और जब चेतन अपने कसूर के लिए क्षमा माँगता हुआ नीला के चरणो में झुक जाता है, नीला "जीजा जी, आप क्या करते है ?" कहकर अपनी सिसकी को दबाती हुई नीचे भाग जाती है।

रम्म को चंदा गहरी नींद मे सो रही थी और चेतन लेटा-लेटा सोच रहा था—उसे लगा कि यह अंधकार की दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक (नीला के जेठ का लड़का) के मध्य भी है बल्कि इस परतन्त्र

देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी ही अनगिनत दीवारें खड़ी है—कविराज और उसमें, उसमें और (कविराज के क्लर्क) जयदेव मे, जयदेव और (कविराज के साधारण नौकर) यादराम में—इन दीवारो का कोई अन्त नहीं। उस तिमिराच्छन्न-निस्तब्धता में चेतन ने अगणित प्राणों की मूक सिसकियाँ सुनी, जो इन दीवारो में बन्द थीं और निकलने की राह न पा रही थीं। इन दीवारों की नीव कहाँ है ? ये कब गिरेगी और कैसे गिरेंगी ?

और चेतन निम्न-मध्यवर्ग के उस चेतन प्राणी का सहज प्रतीक बन जाता है जो इन बद दीवारो की नीव की थाह पाने के लिए और यह जानने के लिए कि वे कैसे गिरेंगी, सप्रश्न हो उठा है।

'गिरती दीवारें' अपनी शैली, कला और चित्रण और मानवीयता के कारण निश्चय ही हिन्दी का एक अनुपम और महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। 'अश्क' ने इसमें चेतन; चेतन के उग्र कठोर शराबी पिता—शादीराम; आत्मभीरू, त्याग, सेवा और ममता की मूर्ति माँ—लज्जावती; नवागत यौवन और सौन्दर्य से दीप्त नीला; सरल हृदय पत्नी चंदा; धूर्त वैद्यराज रामदास और दर्जनो दूसरे पात्रो का चरित्र-चित्रण इतना स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक किया है कि ये पात्र स्मृति में घर बना लेते है। साथ ही जालंधर, इलावलपुर, लाहौर और शिमले के वे स्थान जहाँ पर इस उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी है, उनका चित्रण भी अत्यधिक सजीव हुआ है। एक प्रकार से 'अश्क' की यथार्थवादी शैली की यह विशेषता है कि उन्होने वातावरण या परिवेश का चित्रण इतना विशद और सूक्ष्म किया है, जितना हिन्दी के किसी लेखक ने नहीं किया। और 'गिरती दीवारें' पढ़ते समय सहज ही तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और गोर्की के उपन्यासों का स्मरण हो आता है। इसमें कोई संदेह नही कि 'गिरती दीवारें' अत्यन्त सबल और सफल कला का उपन्यास है और यदि 'गोदान' और 'शेखर' हिन्दी में अमर रहेगे तो 'गिरती दीवारें' की अमरता पर भी आँच नहीं आयेगी।

—जुलाई १९४७

२५

'सुखदा' और 'गर्म राख'

जैनेन्द्र कुमार के 'सुखदा' और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'गर्म राख' ये दोनो उपन्यास महत्त्वपूर्ण है, इसलिए नहीं कि उनके लेखक महत्त्वपूर्ण है बल्कि इसलिए कि हिन्दी की उपन्यास-परम्परा में इन दोनो उपन्यासों का कई दृष्टियो से विशेष महत्त्व है। वस्तुतः ये दोनो उपन्यास भिन्न ही नही, विपरीत कोटि के है। कला के क्षेत्र मे एक दूसरे को चुनौती है। प्रेमचन्द के समय से एक ओर रवीन्द्र और शरत् और दूसरी ओर स्वयं प्रेमचन्द का प्रभाव ग्रहण करके हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जो दो धाराएँ फूटी उनके विकास के दो चरम बिन्दु यदि इन्हे समझें तो अत्युक्ति न होगी। प्रेमचंद का प्रयत्न सदा यथार्थ की ओर रहा, लेकिन उनसे प्रभावित धारा प्रकृतवाद के मार्ग पर पथभ्रष्ट हो गई।

जैनेन्द्र के 'सुखदा' ने जैसे हठात् हिन्दी उपन्यास कला के क्षेत्र मे यथार्थवाद बनाम प्रकृतवाद के संघर्ष को दस-पन्द्रह वर्षों के बाद फिर नये सिरे से उठा दिया है; क्योकि सुखदा एक यथार्थवादी उपन्यास है। ऐतिहासिक परिस्थितियों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन मे जो अनेक समस्याएँ पैदा कर दी है, 'सुखदा' के लेखक ने उनमें से एक महत्त्वपूर्ण समस्या का जीवन की मर्म-छवियो के माध्यम से मूर्त्त, कलात्मक उद्घाटन किया है। इसके विपरीत 'गर्म राख' एक प्रकृतवादी उपन्यास है। उसमें एक सक्षिप्त कथा-सूत्र में बाँधकर लेखक ने जो कुछ देखा-सुना है या दैनिक जीवन की जिन औसत और असम्बद्ध घटनाओ का वह निस्संग द्रष्टा-मात्र रहा है, उन सबका हू-ब-हू, यथा-तथ्य, खूब ब्यौरे के साथ चित्रण किया है। यहाँ किसी मूलभूत समस्या या यथार्थ-जीवन के सत्य का उद्घाटन करने का प्रयत्न नहीं है। जो है, प्रत्यक्ष दीखता है, वह जैसा कुरूप या साधारण है, उसको ज्यो का त्यो और जहाँ सम्भव हो वहाँ और भी सूक्ष्म रीति से कुरूप और साधारण बनाकर चित्रित कर देना ही लेखक को अभीष्ट रहा है।

गत वर्षों से हिन्दी के अधिकतर कथाकार इस दूसरी धारा को ही अपनाते आये है। प्रेमचन्द का प्रयत्न सदा यथार्थ की ओर रहा, इसीलिए वे गोदान में अनेक अमर पात्रों की सृष्टि कर सके। लेकिन बाद के हिन्दी कलाकारो का प्रयत्न प्रकृत, यथातथ्य चित्रण की ओर होता गया। देश-काल की परिस्थितियो ने भी इस कला-विरोधी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। उपन्यास के क्षेत्र में जो प्रभाव बाहर से आये,

उन्होंने बाह्य घटनाओं के यथातथ्य चित्रण से कुछ लेखकों को विमुख करके फ्रायडी दृष्टिकोण मनुष्य के अन्तर्मन में होने वाले पाशविक वृत्तियों या दमित यौन-भावनाओं के उत्पात को ज्यो का त्यों चित्रित करने की ओर उन्मुख किया। तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द के बाद के कथाकारो का दृष्टिकोण भौतिकवादी हो या आदर्शवादी; वे मार्क्स से प्रभावित हों या गांधी या फ्रॉयड से; उन्होंने बाह्य सामाजिक जीवन के आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों के चित्र खीचे हो या व्यक्ति-विशेष की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं और यौन-सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन किया हो; चाहे उनके उपन्यासों की विषय-वस्तु सामयिक हो या ऐतिहासिक, पर उन सबकी प्रवृत्ति यथातथ्य प्रकृत चित्रण की ओर ही रही है।

इन सभी उपन्यासों में ऊपर से दिखने वाले लेखक के दार्शनिक विचारो से उत्पन्न दृष्टि-भेद तो काफ़ी महत्वपूर्ण लगते हैं लेकिन वास्तव में उनकी कला मे कोई तात्विक भेद नही है। उनके अधिकांश पात्र अपने दैनंदिक जीवन के व्यक्तिगत या आर्थिक सामाजिक वैषम्य से कुंठित, खंडित और क्षुद्रताओं और वासनाओ से आक्रान्त होते हैं। उनकी ही जीवन-परिस्थितियो का इनमें ज्यों का त्यो चित्रण रहता है। लगता है जैसे मनुष्य खो गया है, क्योकि पुरानी या नई किसी भा नैतिकता से पात्रों का सम्बन्ध नही दीखता। नैतिकता के बिना मनुष्य की सामाजिकता नहीं रहत। और सामाजिकता के बिना मनुष्य समाज-सम्बन्धो में पडकर ही विकसित होने वाला मूर्त्त मानव नहीं रह जाता, जो अपने इतिहास का, सभी भौतिक और सास्कृतिक मूल्यो का निर्माता है। प्रकृतवादी उपन्यासो में मनुष्य अपनी मनुष्यता, व्यक्तित्व और ऐतिहासिक-सामाजिक महत्ता खोकर ऐसा ही यन्त्र या बायोलोजीकल (Biological) प्राणी बन जाता है और कला की मूल-वस्तु 'विचार' न होकर अन्तर या बाह्य जीवन की कोई घटना बन जाती है।

इस आलोचना में इस प्रसंग को छेड़ना इसलिए जरूरी हो गया कि भाषा की सूक्ष्मवत्ता, स्फुट उक्तियो की मार्मिकता, रूप-गठन और रचना-तन्त्र की न्यूनाधिक सुघरता के बावजूद इन सभी कृतियों के पात्रो में व्यक्तित्व का अभाव है, इसलिए युग जीवन के सत्य को प्रकट करने वाले किसी सारवाही विचार का उनमें अभाव है। मार्मिकता और आंगिक एकसूत्रता का भी अभाव है। निस्सन्देह इतने अभावो को लेकर कोई भी कलाकृति श्रेष्ठ नही हो सकती। इसलिए 'गर्म राख' और 'सुखदा' की एक साथ समीक्षा करने का अर्थ ही है कि मै हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र की इस विषम स्थिति की ओर भी संकेत कर दूं। 'सुखदा' एक अपवाद है जिस तरह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यासो की परम्परा में एक अपवाद है। रवीन्द्र और शरत् के बाद ये दोनों कृतियाँ भारतीय साहित्य में यथार्थवादी

परम्परा की बेजोड मिसालें है। इन कृतियों के पूरे सौन्दर्य अवगत होने में सम्भव है कि हमारे कथाकारो और आलोचको-पाठको को कुछ समय लगे क्योकि परिस्थितियो ने कलाभिरुचि को सामान्यतः सतही बना दिया है और प्रकृत-चित्रण की परम्परा ने अभी हमारी सौन्दर्य-दृष्टि को मलिन कर रखा है। लेकिन श्रेष्ठ कलाकृति में यह शक्ति भी होती है कि वह अपने प्रभाव से अपने सौन्दर्य के पारखी पाठक पैदा कर सके। जो भी हो 'सुखदा' ने एक नए धरातल पर इस सघर्ष का सूत्रपात्र कर दिया है। इसकी अपेक्षा में श्रेष्ठ कला-सृजन का पथ हमारे कथाकारो को खोजना है। पर हमें यहाँ 'गर्म राख' को इसकी पृष्ठभूमि में रखकर ही जाँचना अभीष्ट है।

'गर्म राख' की कहानी वैसे तो बहुत सक्षिप्त है, किन्तु लेखक ने उसे लगभग साढ़े पाँच सौ पृष्ठो का विस्तार दिया है। इतना विस्तार इसलिए सभव हो सका कि मूल-कथा से जिन घटनाओ का बहुत दूर का नाता था उनका भी पूरे ब्यौरे के साथ लेखक ने वर्णन किया है और चूँकि कथा किसी मूल समस्या का उद्घाटन नही करती इसलिए यह आनुषंगिक ब्यौरे मूल को बिना छुए भी समानान्तर दौड़े चले जाते है। मूल कथा केवल इतनी है कि जगमोहन निम्न मध्य-वर्ग का एक तरुण कवि है। वह अपने ही प्रयत्नो से बी० ए० की डचोढी पार कर चुका है लेकिन अब आगे पढ़ाई जारी रखना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। बी० ए० की डिग्री कही अच्छी नौकरी पाने में सहायक नहीं होती। लाहौर मे जहाँ यह घटना घटित होती है, कोई एक मनचले क्षुद्र मनोवृत्ति वाले कवि चातक भी है, जो बिना देखे ही नवोदित लेखिका कुमारी सत्या को अपने प्रेम-जाल मे फाँसने के लिए एक सस्कृति-समाज की व्यूह रचना करते है, जिसमे जगमोहन और सत्या दोनो उपमन्त्री चुने जाते है। इसके बाद कहानी चातक जी आदि को छोड़कर वस्तुतः जगमोहन और सत्या के आकर्षण-विकर्षण की कहानी बन जाती है। सत्या जगमोहन से प्रेम करने लगती है, और जगमोहन यद्यपि उससे प्रेम नही करता, बल्कि सत्या की रिश्ते में लगने वाली एक बहन द्रौपदी या 'दुरो' की ओर आकृष्ट होता है, फिर भी सत्या का आना-जाना उसके यहाँ लगा ही रहता है। और सत्या न केवल किसी न किसी रूप मे अपने वेतन के सारे पैसे दे-दिलवाकर तथा एक प्रोफेसर के घर उसकी टयूशन लगवाकर जगमोहन को एम. ए. की पढ़ाई जारी करने के लिए साधन जुटा देती है, बल्कि शाम-अँधेरे जगमोहन जब उसको घर छोड़ने के लिए एकान्त गलियो और मैदानो के रास्ते जाता है तो उस समय या खुद उसकी बैठक मे आकर अपने सामीप्य से उसे अपने निकट आने का अवसर भी देती है। जगमोहन को अपने मन पर चाहे जितना काबू हो पर शरीर की भाषा उसे विचलित कर देती है, और एक दिन जब बाहर बारिश हो रही थी, सत्या ऊपर से नीचे तक भीगी उसके एकान्त कमरे में आ-दाखिल हुई और उसके कपड़े

लेकर बदलने लगी तो वह एक क्षण के लिए अपने मन पर भा क़ाबू खो बैठा। शारीरिक तृप्ति से जब उसके भीतर का तूफ़ान शान्त हो गया और सत्या ने घुमा-फिराकर विवाह की बात कही तो उसे लगा जैसे सन्तान की आशंका पैदा करके वह उसे जबरन आजीवन के लिए बाँध लेना चाहती है। उसे यह सत्या का षडयन्त्र और 'ब्लैकमेल' लगा और यद्यपि वह खूब जानता था कि दुरी साम्यवादी कार्यकर्ता हरीश से प्रेम करती है और वह उसे कभी प्राप्त नही कर सकेगा, क्योकि उसके मन मे प्रेम का उच्छ्वास तो पैदा होता है पर ऐसा तूफ़ान नही उठता कि वह उसमे अपना सब कुछ स्वाहा करने के लिए बेचैन हो जाए। अपनी मध्यवित्त भावनाओ की सीमा में उसने प्रेम की भावना को भी हिसाब-किताब और 'कैलक्यूलेशन' (Calculation) की दुनियादार आँखों से देखा-समझा है। फिर भी न जाने क्यो वह सत्या के मूक समर्पण और आत्मत्याग को, जिनमें उसे आर्थिक लाभ ही लाभ रहा, स्वीकार न कर सका।

दुर्भाग्य से लेखक ने सत्या के अन्तर मे झाँकने का हमें कहीं मौका नही दिया कि हम जान पाते कि उसका प्रेम सच्चा था या उसके पीछे भी दुनियादारी की भावना थी। सच तो यह है कि लेखक ने किसी भी पात्र के अन्तर मे झाँकने का मौका पाठक को नहीं दिया है। अधिकतर पात्र नीच, कुटिल, स्वार्थ-लोलुप, सस्ती ख्याति पाने के उत्सुक और कामुक है, और ऐसे पात्रों की सख्या कम नहीं, दर्जनों से ऊपर है। केवल हरीश, दुरो और एक सीमा तक कवि वसन्त और कलुआ उसके अपवाद हैं। नहीं तो क्या बड़े-बूढ़े और क्या तरुण सभी के सभी पात्र अपने दैनंदिक जीवन की क्षुद्रताओं से घिरे है, बल्कि पूरी तरह आक्रान्त है। और लेखक का उद्देश्य जैसे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा और मर्यादा का अवगुंठन उठाकर उन्हे नगा कर देना ही है। हरीश और दुरो इसलिए शायद नंगे नही किए गये क्योकि उनका अपना कोई व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन नहीं है। वे अपने निजी रूप में क्या सोचते-समझते है, लेखक ने उन्हे इतना निकट लाकर हमारे सामने नही रखा। वे साम्यवादी है और दिन-रात मजदूर आन्दोलन और राजनीतिक वाद-विवाद मे ही तन्मय दीखते है। इस तरह 'गर्म राख' के किसी पात्र मे अपना व्यक्तित्व नही है। जो क्षुद्र और पतित है उनमें मनुष्यता होने का तो प्रश्न ही नही उठता, किन्तु जो आन्दोलनकारी है वे अपनी मनुष्यता को दबाकर कोरे आन्दोलनकारी है। जगमोहन भी सत्या को ठुकराकर और इसके साथ ही अपने एम.ए करने के सपनो को तिलाञ्जलि देकर, ऐसा ही निर्वैयक्तिक आन्दोलनकारी बन जाना जीवन का चरम साध्य समझने लगता है। ठुकराई जाने पर सत्या एक काले-कलूटे, मोटे-थल्ले मेजर से शादी करके अफ्रीका चली जाती है और जगमोहन उससे बिना मिले ही स्टेशन से मन मे तर्क-वितर्क करता हुआ लौटता है—क्या असफल प्रेम की परिणति आत्महत्या ही है? और हरीश के उदाहरण

से वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि मानव-प्रेम मे ही मानव का विकास है, और इस तरह उसके मन मे उस द्वैत की पुष्टि होती है, जिसमें किसी एक के प्रति प्रेम और मानव-मात्र के प्रेम मे एक नक़ली विरोधाभास की कल्पना की जाती है। उर्दू के कवि 'फ़ैज' की यह पक्ति—

"और भी दुख है जमाने में मोहब्बत के सिवा" जैसे इस नकली विरोधाभास को उसके निकट पुष्टि देने वाला मन्त्र बन जाता है। लेखक ने शायद इसी को समस्या का रूप देना चाहा है, पर वास्तव मे यह कोई मौलिक समस्या नही है।

इसके विपरीत 'सुखदा' में साहित्य की श्रेष्ठतम यथार्थवादी परम्परा का निर्वाह आरम्भ से अन्त तक हुआ है। विचार-वस्तु के मूल मे हमारे आधुनिक जीवन की ऐतिहासिक परिस्थितियो से निर्धारित एक मौलिक समस्या है। और इस समस्या के मूर्त्त कलात्मक उद्घाटन मे जैनेन्द्र जी ने ऐसे सजीव पात्रों की सृष्टि की है, जिनके अन्तर-बाह्य जीवन का द्वन्द्व हमारे मन में तीव्र मार्मिक सवेदना जगाता है। उपन्यास की रचना-प्रणाली भी श्रेष्ठ यथार्थवादी कला की द्योतक है। मूल समस्या को चरम रूप मे पहले ही पृष्ठ में उपस्थित करके वे अन्त तक उनका मूर्त्त उद्घाटन करते गये है। आदि से अन्त तक कहीं कोई शब्द, कोई घटना-चित्र, कोई पात्र या संकेत फालतू या आरोपित नही है। कहानी का वर्णन कही औसत दर्जे का यथातथ्य और दैनदिक जीवन की क्षुद्रताओ की परिधि में बँधा एकागी नही है कि उसमे पात्रो का यथार्थ व्यक्तित्व ही छिप जाय और उनके पारस्परिक सम्बन्धो का सत्य आँख में ओझल हो जाय।

कुछ मित्रो का विचार है कि जैनेन्द्र जी ने कोई नई बात नहीं कही है। वही समस्या उठाई है जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'घर और बाहर' में उपस्थित की थी और जिसे स्वय जैनेन्द्रकुमार अपने उपन्यास 'सुनीता' में पहले ही उठा चुके है। किसी कलाकृति की महत्ता से आँख मीच लने का यह तर्क बड़ा ही निकम्मा है, क्योकि कलाकृति विज्ञान की हाईपॉथसिस (अनुमान) नही होती कि यदि एक वैज्ञानिक का अनुमान प्रयोग-सिद्ध हो जाय और उसी विषय पर दूसरे का अनुमान ग़लत सिद्ध हो तो वह रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाता है। एक ही समस्या या एक ही विचार का एक ही समय में या आगे-पीछे यदि असंख्य कलाकार भी मूर्त्त अंकन करें तो उन सब की कृतियाँ मौलिक हो सकती है, और जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता के विविध पहलुओं का उद्घाटन कर सकती है। साहित्य और कला की परम्परा इस बात की साक्षी है। यो 'घर और बाहर' या 'सुनीता' में उठाई गई समस्या से 'सुखदा' की समस्या बिलकुल ही मिलती हो, सो बात भी नही है, किन्तु इस भेद का यहाँ विवेचन करना विषयान्तर होगा।

'सुखदा' में अपनी कहानी स्वयं सुखदा ने कही है। विवाह होने के बाद से और अपने पति कान्त को त्यागकर चले आने तक बाह्य जीवन की परिस्थितियों का कुछ ऐसा चक्र चला कि वह और उसके पति अपनी इच्छा के विपरीत एक दूसरे से अलग हटते गये। एक ऐसी गुत्थी पड़ गई जिसका सुलझाना उनके लिए असम्भव हो गया। अपने छोटे-से परिवार की सीमा में बँधे रहने में 'सुखदा' को अभाव अखरता रहता था, उसकी पूर्ति के लिए जब उसने समाज के विशाल आँगन में पाँव रखा तो उसे बाहर ख्याति मिली, आदर और विश्वास मिला लेकिन परिवार का केन्द्र पीछे छूटता गया और बाहर की उपलब्धियो ने अन्तर में जैसे रिक्तता भर दी। अन्तर और बाह्य जीवन के इस वैषम्य ने सुखदा के जीवन में जो समस्या उत्पन्न की, सुखदा उसी की कहानी कहती है।

जैनेन्द्र ने जो समस्या उठाई है, स्थूल रूप में वह यह है कि इतिहास-चक्र ने भारतीय जीवन में भी वह परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी है, जिनके कारण नारी-जाति को अब घर की चहारदीवारी में असूर्यंपश्या बनाकर बन्द नहीं रखा जा सकता। नारी परिवार के घेरे के बाहर निकल रही है और अभी चाहे विपरीत परिस्थितियो के कारण वह पूरी सामाजिक प्राणी न बन पाई हो, पर सामाजिक जीवन की हलचलो में भाग लेने की उत्कंठा उसमें जग गई है। जिस बन्द परिवार में नारी गुलाम थी, उसमे घुटन और वैषम्य होते हुए भी एक मर्यादा का बन्धन और सामञ्जस्य था। नारी के बाहर आने से परिवार का सन्तुलन टूट रहा है और समाज के जीवन में चूँकि अभी वह पूरी तरह अपना स्थान नहीं बना पाई, इसलिए नवीनता की उत्तेजना तो वहाँ है किन्तु सामञ्जस्य उसे वहाँ भी नही मिल पा रहा, जिससे बाह्य जीवन की उत्तेजनाओं के आवर्त में फँसकर अपने पारिवारिक जीवन के दायित्वों से उसका और भी विच्छेद होता जाता है। परिवार की इकाई टूटती है तो इस अभाव की पूर्ति निश्चय ही बाहर की उपलब्धियों से सम्भव नही हो पाती। पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच आधुनिक नारी किस तरह सामञ्जस्य या सन्तुलन स्थापित करे, सुखदा की यही समस्या है, यही साध है। और चूँकि वह ऐसा करने मे असमर्थ रही, अपना सब-कुछ उजाड़ और गँवा बैठी, यही उसकी मार्मिक व्यथा है जो किसी भी पाठक को वेदना-सिक्त कर देती है।

सुखदा ने अपनी कहानी में अपने पति कान्त और क्रान्तिकारी नेता हरीश तथा उनके नीचे काम करने वाले मिस्टर लाल मे से किसी का उल्लेख पूर्व ग्रह और कटुता से नहीं किया है। उसके पति कान्त आत्मभीरू-से लगते है, क्योकि वह उसकी हर इच्छा पूरी करने को तत्पर दिखते है, और उसे क्रान्तिकारी हरीश और मिस्टर लाल के सम्पर्क में आने से कभी अपना अधिकार जताकर रोकते नही और शायद

इसी उदारता के कारण वह सुखदा को गँवा भी बैठते हैं। पर सुखदा के विवरण में अनकही उनके मन की व्यथा इतनी सघन और मार्मिक है कि पाठक की सहज सहानुभूति कान्त के साथ होती है और उनका व्यक्तित्व अपनी भावनाओं को सुखदा के लिए उत्सर्ग कर देने में उभर आता है। हरीश, जिसके प्रति सुखदा श्रद्धानत होती है और मिस्टर लाल जिसके खुले व्यवहार की ओर वह आकृष्ट होती है और दूसरे क्रान्तिकारी जिनके सम्पर्क मे वह आती है, उन सब का व्यक्तित्व भी उभरकर सामने आता है; पर उनकी क्रान्तिकारी सरगर्मियाँ अपने अन्तर्विरोध के कारण सुखदा के जीवन की गुत्थी को और उलझा ही देती है।

जैनेन्द्र ने जो कहानी कहलाई है उसका स्वर कहीं भी विदग्ध करने वाली मार्मिकता से हटकर औसत और सतही नही हुआ है, केवल अन्त मे जहाँ हरीश के आदेश पर उसे ही गिरफ्तार कराके कान्त आत्मग्लानि से भरा घर वापस आता है, और सुखदा इस दुष्कृत्य से मर्माहत हो अपने पति को घृणा और फिर करुणा का पात्र समझती हुई दूसरे दिन न चाहकर भी उसे छोड़कर चल देती है, इसका वर्णन किंचित शिथिल है। दोनो का यही विच्छेद होता है, पर इस घटना मे मार्मिकता का वह स्वर नही जिससे उपन्यास का आरम्भ हुआ है। किन्तु फिर भी सुखदा आदि से अन्त तक एक सुगठित और अनुपम कलाकृति है।

—जनवरी १९५३

२६

झाँसी की रानी

जब कोई देश संघर्ष और संक्रान्ति के युग से गुजरता होता है और जब पुरानी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रुचि और फैशन आये दिन बदलते रहते है और जो भी पुराना होता है वह समाज और राष्ट्र के जीवन को रूढ़ि और परम्परा की ऐसी बोझिल शृंखला के समान लगता है जो हमें आगे बढ़ने से रोकती है, तो ऐसे समय—और यह बात कहने-सुनने मे विलक्षण लगती है—साहित्य और कला के सृष्टा अकसर अपनी प्राचीन संस्कृति और इतिहास की ओर उन्मुख होते है। कुछ लेखक अपने समकालीन जीवन की क्लान्तिजनक खींचातानी, संघर्ष और परिवर्तन से आक्रान्त होकर पुरातन की काल्पनिक भव्यता में शरण लेते है, राजकुमारों और राजकुमारियों की रोमांचपूर्ण प्रेम-गाथाओ से अपने मन की श्रान्ति मिटाते है। इतिहास की परम्पराओं के प्रति ऐसे पलायनवादियो का विशेष आकर्षण और मोह हमारे लिए साधारणतया अनुमेय है। लेकिन जब सजग और चेतनाप्राप्त कलाकार प्राचीन काल की विशेष घटनाओं और ऐतिहासिक परम्पराओं की ओर प्रेरणा के लिए मुडते है तो कुछ उतावले लोगो को इससे अचरज होता है। उन्हें लगता है मानो ये लेखक सामयिक जीवन की व्यापक समस्याओं से कतराना चाहते है, और समाज के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से बचना चाहते है। परन्तु यह तो उतावले, संकीर्ण विचार वालो की असमर्थता है कि वे गलत और सही प्रवृत्तियों में भी भेद नही कर सकते। अन्यथा क्रान्ति और संघर्ष के युगों मे कलाकार—और कलाकार ही क्यो, सघर्षशील उच्चवर्ग और जनसाधारण भी आमतौर पर ऐतिहासिक परम्पराओ और प्राचीन जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ की ओर प्रेरणा के लिए मुडते आये है। सजग लेखक और कलाकार जब यह अनुभव करने लगते है कि वर्तमान की अनस्थिरता और उथल-पुथल निरुद्देश्य नहीं है, कि मनुष्य जीवन के मानवीय विकास-पथ को प्रशस्त करने के हित ही यह क्रान्ति-परिवर्तन, वर्ग-संघर्ष, ध्वस और निर्माण होता रहता है, और मनुष्य की यह चिरकालिक मुक्ति-चेष्टा ही प्राचीन इतिहास से हमारे कार्य के विकास की शृखला का निर्माण करती है तो उन्हे प्राचीन केवल नष्ट तत्त्वो का विषम पुज ही नही नजर आता; बल्कि उन्हे लगता है कि उसमें अनेक स्वस्थ और प्राणवन्त तत्त्व भी है जो हमारी स्मृति में निरन्तर कौंधकर हमें प्रेरणा, स्फूर्ति और बल प्रदान करते है। ये लेखक और कलाकार इतिहास के गर्त में से इन्ही तत्त्वो को खोजकर

निकालते है और जब संक्रान्ति-युग की अनस्थिरता हमारी दृष्टि-परिधि को सीमित और एकांगी बना देती है, उस समय वह मानव-इतिहास के इन प्राणवन्त, स्थायी तत्त्वों को सामने लाकर हमारे लक्ष्य को अधिक मूर्त्त रूप और हमारे दृष्टिपथ को विस्तार और व्यापकत्व देते हैं। एक प्रकार से यह कार्य इतिहास के पृष्ठ-भाग पर खड़े होकर वर्तमान की प्रगति को जाँचने, समझने और स्फूर्ति देने का प्रथम प्रयास है।

हिन्दी में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षो मे अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये है, जो दोनों कोटियों में आते है। कुछ मे इतिहास लेखक की पलायनवृत्ति का आश्रय बना है, कुछ में संघर्ग-भावना का प्रेरक। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के अतिरिक्त यशपाल की 'दिव्या' और राहुल सांकृत्यायन के दो उपन्यास 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' काफी ख्याति पा चुके है। इन उपन्यासों में इतिहास के उस अतीत काल को मूर्त्तिमान करने की चेष्टा की गई है जब देश मे जनतन्त्र और राजतन्त्र की व्यवस्थाएँ एक-दूसरे पर विजयी होने के लिए संघर्ष में लगी हुई थी। यह समस्या हमारे लिए आज विशेष रूप से सामयिक महत्त्व की है। हमारी स्वतन्त्रता का क्या स्वरूप होगा, उसमें जनवाद की रूप-रेखा किन मानव-मूल्यो की पीठिका पर खींची जायगी, व्यक्ति और समाज के जीवन मे परस्पर सामञ्जस्य और सन्तुलन स्थापित करने की जनवादी कार्य-पद्धति क्या होगी, अधिकार और कर्त्तव्यों का लेखा-जोखा शोषक वर्ग के प्रति पक्षपात और शोषित मानवता के प्रति तिरस्कार का चार्टर तो नहीं बनेगा—ये सारे प्रश्न है जो व्यापक और स्थायी महत्त्व के है। राहुल और यशपाल के उपन्यास अपनी अनेक कमजोरियो के बावजूद इन मूल प्रश्नो को कलात्मक ढंग से उठाते है, जिससे उनका महत्त्व भी ज्यादा है।

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के पुराने और मँजे ऐतिहासिक उपन्यासकार है। उनके पिछले उपन्यासो मे 'गढकुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' विशेषकर प्रसिद्ध है।

अपने नये उपन्यास 'झाँसी की रानी' मे उन्होने एक विशिष्ट सत्य की स्थापना करने की कोशिश की है। वह सत्य यह है कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने स्वराज्य के लिए लडाई लड़ी, अपने प्रभुत्व के लिए नहीं। इस तथ्य पर परदा डालने के लिए अग्रेज इतिहासकारों ने चाहे जो दलीलें दी हो, लेकिन भारतीय जनता को तो इसकी सत्यता में कभी सन्देह नहीं रहा। फ्रांस की 'जोन ऑफ आर्क' की तरह झाँसी की रानी ने आजादी की देवी के रूप में ही हमारे मानस में प्रतिष्ठा पाई है। असख्य कथाओ और गीतों में रानी लक्ष्मीबाई का गौरव-गान किया गया है। इसलिए वर्मा जी के ५११ पृष्ठो के बृहद् उपन्यास को पढ़कर एक विवेकशील पाठक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विदेशी इतिहासकारो के कुतर्कों का खडन करने के लिए उन्होने उपन्यास न रचकर इतिहास की पुस्तक क्यों नहीं लिखी ? क्योकि मै

यह तो नहीं समझता कि 'झाँसी की रानी' उपन्यास एकदम असफल कृति है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं के इतिवृत्त को राजनीति, युद्ध-वर्णन और व्यक्त-अव्यक्त प्रेमाभिनय के प्रसंगो से सरस और मांसल बनाने का प्रयत्न अत्यन्त कुघड़ और अपरिपक्व हुआ है।

झाँसी की रानी की वीरता, देश-प्रेम, अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध उनका विद्रोह करना और अन्त में चारों ओर से घिरकर वीर-गति को प्राप्त हो जाना—यह अपने आप में ही एक महान् तेजोमय बलिदान की अपूर्व कहानी है। उसे इतिहास के शुष्क पृष्ठो में भी पढकर रोमाच हो आता है, और श्रद्धा और क्रोध, करुणा और घृणा से रोम-रोम सिहर उठता है। इसलिए जैसा मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' की भूमिका में कहा है—

राम तुम्हारा चरित स्वय ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सभाव्य है॥

उसी प्रकार रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र भी स्वयं ही काव्य है। उनका नाम सुनते ही प्रत्येक देशप्रेमी भारतीय का हृदय गर्व से फूल जाता है और मनुष्य की उदात्त भावनाएँ और मानवीय वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती है, जिससे सहजानुभूति के मार्ग में कोई अवरोध नहीं रहता। इस कारण शैली और गठन की अपरिपक्वता और ढीलेपन के बावजूद पाठको को यह उपन्यास सफल भी लगेगा, क्योकि उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल है। विशेषकर अन्तिम भाग में सुन्दर, मुन्दर, काशीबाई, जूही, जवाहरसिंह, गुलाम गोस खां, खुदाबख्स, सागरसिंह आदि अनेक वीरो के पराक्रम, देश-प्रेम और युद्ध में वीर-गति पाने के दृश्य जहाँ हृदय को झकझोर देते है और समवेदना से पाठक की आँखें सजल हो जाती है, वहाँ अग्रेजो की कूटनीति, विश्वासघात और बर्बरता के प्रति दुर्दमनीय घृणा से हृदय को क्षत-विक्षत भी कर देते है। परन्तु यह सन सत्तावन से लेकर अब तक के आजादी के सघर्ष के कटु और तीखे अनुभवो द्वारा बने संस्कारो के रूढ़ हो जाने के कारण है। अन्यथा उपन्यास में छोटे-छोटे महत्त्वहीन प्रसंगों को इतना तूल दिया गया है कि लगता है कि उपन्यास-वस्तु पर लेखक का अधिकार नही है या फिर उसने पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के लिए ही ऐसा किया है।

इसके साथ ही एक बात और है जो आवश्यकता से अधिक खटकती है। यद्यपि वर्मा जी ने रानी लक्ष्मीबाई को वीरता, आत्म-त्याग, दया और सहानुभूति की प्रतिमूर्त्ति के रूप में चित्रित किया है, लेकिन फिर भी पाठक को इस कमी का अनुभव होता है कि लेखक रानी के उज्ज्वल चरित्र में राजनीतिक दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का संयोग नहीं करा पाया। झाँसी का शासन-सूत्र हाथ में लेने के पश्चात् ताँतिया टोपे और नाना धोधूपन्त से महीनो तक—जब तक कि जनरल रोज ने आकर झाँसी के

किले का घेरा नहीं डाल दिया—कोई सम्पर्क न स्थापित करना, अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव के उपनयन-संस्कार के बहाने सारे उत्तर भारत से बुलाये गये अंग्रेज-विरोधी सरदारो, सामन्तो और नेताओं से मंत्रणा करके विद्रोह की तिथि आदि तय कर लेने के पश्चात् भी इस विद्रोह के उद्देश्य, और विजय के बाद किसी भी प्रकार के सामाजिक निर्माण का कार्यक्रम न बना पाना, अर्थात् अपने समय की चेतना के अनुसार भी स्वराज्य की कोई रूपरेखा न गढ़ पाना, मोतीबाई के कहने से अंग्रेज़ों के जासूस पीर अली पर विश्वास कर लेना और बुरहानुद्दीन के सुझाने पर भी पीर अली की गतिविधि का निरीक्षण न करना और अन्त में राव साहब द्वारा ग्वालियर मे अपने को पेशवा घोषित करते समय भी 'स्वराज्य' के नाम पर कोई प्रतिवाद न करना आदि बातें यह बताने के लिए काफी है कि वर्मा जी ने रानी को भावना के बल पर ही अग्रेज़ों का विरोधी चित्रित किया है। यह भावना कितनी भी महती, उदात्त और स्पृहणीय क्यो न हो जनता के असन्तोष को सचेतन नही बना पायी। 'स्वराज्य' शब्द की अभिधा उसके मानस मे कोई स्पष्ट और ठोस हकीक़त नहीं बन पायी। इसके विपरीत रानी द्वारा राव साहब की पेशवाई को निर्विरोध स्वीकार कर लेने से तो यही सिद्ध होता है कि उनके निकट भी 'स्वराज्य' का अर्थ पेशवा का राज्य ही था, जनतान्त्रिक राज्य नही। वर्मा जी ने रानी के मन की प्रतिक्रियाओं को जानने का अवसर पाठको को नही दिया है, इससे ऐसा निष्कर्ष निकालने को बाध्य होना पड़ता है, और लेखक के दावे में और रानी के व्यवहार में आद्यन्त एक वैषम्य मिलता है। वैसे यह वैषम्य स्वाभाविक है, क्योकि लेखक का दावा ऐतिहासिक परिस्थिति पर ऊपर से लादा गया है। इसमे सन्देह नहीं कि सन् सत्तावन के विद्रोह का नेतृत्व भारत के सामंत वर्ग के उन देशभक्त सूरमाओ के हाथ में था जो अंग्रेजो के साथ मिलने को तैयार न थे। उनके निकट 'स्वराज्य' का अर्थ जनतन्त्र नहीं, पेशवा-राज्य ही था। इस बात को स्वीकार करने से सन् सत्तावन के विद्रोह का साम्राज्यवाद-विरोधी रूप मलिन नही हो जाता, क्योकि उस समय जनता की चेतना भी इससे अधिक न थी, और यह विद्रोह मूलतः साम्राज्यवाद-विरोधी और जन-हित में था। इस कारण उस पर 'जनवाद' की विचारधारा का आरोपण ऊपर से ही किया जा सकता है अन्यथा अपने सीमित दायरे के अन्दर भी वह सदा अभिनदनीय बना रहेगा, क्योकि वह विद्रोह हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम का प्रथम रूप था।

'झाँसी की रानी' को पढ़कर खेद इस बात पर भी होता है कि लेखक ने रानी को जितने विचारो की पूँजी का धनी बनाया है, वह अत्यन्त स्वल्प और साधारण है। स्त्री-पुरुषो को सदा कुश्ती लड़ने, मलखम्भ करने, तीर चलाने, घोड़े की सवारी करने और तैरना सीखने के लिए आदेश देते रहने के अतिरिक्त बात-बात में शिवाजी,

छत्रसाल, भीम, अर्जुन आदि की दुहाई देने तक ही लेखक ने रानी लक्ष्मीबाई की बौद्धिक चेतना को सीमित कर दिया है। अपने पति गंगाधर राव के ललित-कला, नाट्य-नृत्य और संगीत-प्रेम की रानी के मुख से भर्त्सना कराके लेखक ने रानी के चरित्र का 'आदर्शीकरण' किया है, और उसे उदात्त मानवी न बनाकर एकांगी बना दिया है। इसके विपरीत रानी को मानवीय गुणों से विभूषित करने के लिए वसन्तोत्सव के अवसर पर हल्दी-कुंकुम की रस्म अदा करते समय अन्य स्त्रियों से बार-बार सस्ता परिहास कराके लेखक ने पाठक के मन में रानी की संस्कृति, सुरुचि और विनोदशीलता के प्रति भी शंका पैदा कर दी है। और यह सब वर्मा जी ने इस भ्रम में पड़कर किया है कि रानी के मन में दिन-रात अंग्रेज़ों का विरोध करने की भावना ही बलवती रहती थी, अतः रानी का चरित्र-चित्रण करते समय जीवन के अन्य प्रासंगिक कार्य-व्यापारों को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए। परन्तु रानी को गौरवान्वित करने के इस एकांगी प्रयत्न द्वारा वर्मा जी ने उनके चरित्र को अन्य बुनियादी और व्यापक मानव-सहानुभूतियों और सांस्कृतिक जीवन की विभूतियों से निर्ममतापूर्वक वंचित कर दिया है। इससे रानी का चरित्र एकांगी ही बन पाया है, उसमें सम्पूर्णता का नितान्त अभाव है। ऐसा ही अन्य पात्रों के बारे में भी हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यासकार की तरह वर्मा जी वस्तुदर्शी नहीं हो पाये और रानी के समय के भारत के जीवन का, उसके समस्त अंगों का सामंजस्यपूर्ण चित्रण नहीं कर पाये।

ये त्रुटियाँ इसलिए और भी बड़ी लगती हैं कि वर्मा जी की शैली वही सतही ढंग की है, जिसमें पात्रों का केवल बाहरी, सार्वजनिक जीवन ही अंकित होता है, आन्तरिक, व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक नहीं। इसी कारण लेखक अपने पात्रों के बाह्य कार्यों को मानवीय राग-द्वेष की पृष्ठभूमि प्रदान करने वाले, उन्हें बल, स्फूर्ति, प्रेरणा और लक्ष्य देने वाले चेतन और अवचेतन भाव-विचारों के मनोवैज्ञानिक मूल स्रोतों तक नहीं पहुँच पाया।

इन सब त्रुटियों के बावजूद इस उपन्यास का सामयिक महत्त्व है, और प्रत्येक हिन्दी-पाठक को उसे पढ़ना चाहिए। रानी लक्ष्मीबाई, ताँतिया टोपे और अनेक पात्र-पात्रियों के बारे में औपन्यासिक ढंग से इतनी ज्ञातव्य सामग्री संकलित करके वर्मा जी ने वास्तव में उपयोगी कार्य किया है और आज जब देश में साम्प्रदायिक द्वेष का इतना बोलबाला है, हमारे लिए यह जानना शिक्षा-प्रद होगा कि हमारी आज़ादी के प्रथम युद्ध में रानी लक्ष्मीबाई के साथ दो-सौ पठानों ने अंग्रेज़ों से लड़ते-लड़ते प्राण दिये थे, और पठानों के नेता गुल मुहम्मद ने रानी की चिता ठंडी हो जाने के बाद चबूतरा बनाया था।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश की आज़ादी के लिए हिन्दू-मुसलमानों का एक

साथ मिलकर रक्त बहाने का यह अन्तिम उदाहरण न था और न रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-चरित्र को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासो में वृन्दावनलाल वर्मा का उपन्यास ही अन्तिम उपन्यास होगा।

—जून १९४७

२७

पथ की खोज

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' के दो खंड मेरे सामने हैं। इस बृहद् उपन्यास का तीसरा खंड अभी प्रकाशित होने को है। वैसे तो पूरा उपन्यास सामने होने पर ही समग्र रूप से उसका समुचित और सन्तुलित मूल्यांकन सम्भव हो सकेगा, लेकिन चूँकि उसका प्रत्येक खंड अपने आप में भी पूर्ण कहा जा सकता है, इसलिए एक सीमा तक इन दो खंडो के अलग से मूल्यांकन का भी औचित्य है।

डा० देवराज ने उपन्यास के आरम्भ में 'प्रस्तावना के सूत्र' दिये हैं, जो मुझे अनावश्यक ही लगे। क्योकि किसी भी कलाकृति में स्वयं इतनी मूर्त्तता और प्रेषणीयता होनी चाहिए कि वह उसमें प्रतिबिम्बित जीवन की अनुभूति ही नहीं, बल्कि लेखक के मन्तव्य और गूढ़ आशय से भी पाठक को सहज अवगत करा सके। और फिर इस उपन्यास मे तो प्रस्तावना के सूत्रो की इसलिए भी आवश्यकता न थी कि उसके पात्र आद्यन्त इन्हीं विचारो की बाल की खाल उधेड़ते रहे है। वस्तुतः प्रस्तावना में लेखक के शब्दो के अन्दर एक प्रच्छन्न आग्रह है कि पाठक उपन्यास को उस दृष्टि और भावना से ही पढ़ें जिस दृष्टि और भावना से लेखक ने उसे लिखा है और इस प्रकार उपन्यास का उतना ही मूल्य आँकें जितना मूल्य लेखक के निकट उसका है। इस आग्रह का सम्मान करते हुए भी मै जीवन और कला-सम्बन्धी अपने अनुभव, विचारकोण और मूल्यो को भुला नही सका हूँ। इस कारण पूरी हार्दिक सहानुभूति से 'पथ की खोज' को पढ़कर मैने जो पाया है, उसके आधार पर ही उसका मूल्य आँकने के लिए विवश हूँ। दूसरे खण्ड (स्वप्न और जागरण) में उपन्यास का प्रधान पात्र चन्द्रनाथ अपनी नवविवाहिता पत्नी आशा को एक पत्र में लिखता है, '···तुम अपने बारे में सब-कुछ स्वय ही जानने का दावा क्यो रखो ? हम में कुछ चीजे होती है जिन्हे दूसरे ही देख सकते है—।' प्रस्तावना के सूत्रो के बावजूद इस उपन्यास पर भी यह नियम लागू करना उचित होगा, मेरा केवल इतना ही आग्रह है।

उपन्यास की कहानी दुहराने से पहले दो-तीन साधारण बातो की ओर संकेत करना जरूरी है। प्रेमचन्द के बाद से हिन्दी कथा-साहित्य के सामने एक गम्भीर (यदि उसे संकट न कहे तो) समस्या उपस्थित रही है, जिसका अभी तक समाधान नहीं हुआ है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में प्रेमचन्द यथार्थवाद के निकट

पहुँचे थे—उनके जीवन-चित्रण में अन्तर्जगत और बहिर्जगत की वह मूर्त्त कलात्मक समन्विति थी जो पात्रो और घटनाओं मे निहित सामान्य और विशिष्ट तत्त्वो को आंगिक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध करती है, जिससे उनके अनेक पात्र, टाइप—भारतीय जन-जीवन के विभिन्न वर्गों के सजीव प्रतिनिधि चरित्र—बन सके और इस प्रकार अपनी जीवन-क्रिया के माध्यम से हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की मूलभूत समस्याओ, उनके अन्तर्विरोधों का उद्घाटन करके उनके कलात्मक समाधान की अनुभूति करा सके।

उनके पात्र भी पथ की खोज करते है (और यही बात शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ के पात्रो के बारे में भी कही जा सकती है), लेकिन वह कालरात्रि के अन्धकार मे मनमाने पथो पर निरुद्देश्य नहीं भटकते फिरते, बल्कि चेतन अथवा अवचेतन रूप से उन्हीं प्रश्नो से आजीवन उलझते रहते है, जो अपने समय के सबसे महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय प्रश्न है। और वास्तविकता के मर्म को पकड़ने के इस अविराम प्रयत्न और संघर्ष में चाहे अलादीन का चिराग़ उनके हाथ न लग पाता हो, लेकिन उनकी असफलता के गर्भ में भी समाधान के इशारे छिपे रहते है। उदाहरण के लिए, गोदान का होरी अपना पथ नही खोज पाता, लेकिन उसकी मृत्यु भारतीय जनता के एकमात्र प्रगति-पथ को आलोकित कर देती है।

प्रेमचन्द के बाद 'गिरती दिवारे' मे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और 'मनुष्य के रूप' में यशपाल भी यथार्थवाद की सीमा तक पहुँचते है और चेतन और धर्नासह, सोमा आदि के रूप में सजीव पात्रो की सृष्टि करने में सफल होते है (खेद है कि रांगेय राघव के उपन्यासो के अध्ययन का अभी तक मै अवकाश नही निकाल पाया हूँ), लेकिन प्रेमचन्द की परम्परा के इन दोनो कलाकारो की कृतियो में अक्सर यथार्थवाद और प्रकृतवाद का सम्मिश्रण रहता है, जिससे उनमें मूल कथा के केन्द्रीय प्रवाह से हट कर असगत घटनाओ और परिस्थितियो को अनावश्यक तूल देकर चित्रित करने का आग्रह प्रबल हो जाता है, या कहीं-कही घटनाओ का चित्रण इतना यथातथ्य और प्रकृत रूप धारण कर लेता है कि उसमे वास्तविकता एकांगी और सतही बन जाती है और अपनी सम्पूर्णता, मार्मिकता, सार्थकता और मूर्त्तता खो देती है, अर्थात् यथार्थ नहीं रहती। हमारे देश की सामाजिक परिस्थितियो मे पिछले पन्द्रह वर्षों में कुछ ऐसा परिवर्तन आया है कि जन-जीवन से सम्पर्कित ये यथार्थवादी कलाकार भी अपनी रचनाओ में पूरी तरह यथार्थवाद का निर्वाह नही कर पाए है और जहाँ तहाँ प्रकृतवाद के मरुस्थल में भटक जाते है।

किन्तु अन्य उपन्यासकार—'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा—तो रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द के यथार्थवाद से विच्छेद करके प्रकृतवाद और

प्रतीकवाद के बीहड़ जंगल में दिशाज्ञान खोकर पथ-भ्रष्ट हो गये है कि वह पथ की जितनी ही खोज करते है, वास्तविकता से वह उतने ही दूर भटकते जाते है और उनके उपन्यासों में कथा-शिल्प, उक्ति-चमत्कार और कृत्रिम मनोवैज्ञानिकता या कृत्रिम यथा तथ्यता द्वारा जीवन-वास्तव का रिक्त स्थान भरने की असाध्य चेष्टा रहती है। लेखक अपनी ओर से अपने प्रिय पात्रो को असाधारण प्रतिभा से मडित करके, उन्हें व्यक्तिवादी और विशिष्ट बनाकर, समाज के व्यापक जीवन से इन असम्पर्कित, व्यक्तित्वहीन और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओ से कभी ऊपर न उठ पाने वाले स्वार्थपरक और असामाजिक पात्रो में एक कृत्रिम व्यक्तित्व, उदात्तता और सजीवता भरने की चेष्टा करते है, और सामाजिक वास्तव के अन्तर्विरोधो से अनुस्यूत व्यापक प्रश्नो के स्थान पर अपने मन से गढ़े गये, व्यापक जीवन से सगति न रखने वाले अथवा मात्र आनुषगिक प्रश्नो को उठाकर उनकी ऊहापोह में एक कृत्रिम बौद्धिकता या मनोवैज्ञानिकता का उपक्रम और एक कृत्रिम संघर्ष का रूपक रचते है। यही कारण है कि साधारण पाठक इन पात्रो के सुख-दु.ख के सहभागी नहीं बन पाते और उनकी सफलता-विफलता के प्रति उदासीन बने रहते है। और यही कारण है जिससे हमारा कथा-साहित्य अपनी प्रान्तीयता की सीमाओं से बाहर नही निकल पा रहा। उसमें जीवन-वास्तव का प्रतिबिम्ब अक्सर इतना विकृत, एकांगी और औसत दर्जे का होता है कि विश्वजनीन नहीं हो पाता। यह एक गम्भीर स्थिति है, लेकिन हमारे आलोचक इस परिस्थिति के मूल कारणो का उद्घाटन न करके केवल कथा-साहित्य की परिमाण-वृद्धि से, या किसी उपन्यास मे यत्र-तत्र आ गये सजीव, यथार्थ चित्रो से ही सन्तोष कर लेते है।

इन बातो का यहाँ उल्लेख करने का औचित्य इसलिए है कि डा० देवराज का उपन्यास 'पथ की खोज' यथार्थवादी परम्परा का उपन्यास नहीं है, बल्कि वह प्रकृतवादी उपन्यासो की कोटि में ही रखा जा सकेगा।

यह निम्न मध्यवर्ग के एक ऐसे विचारवान्, पढ़े-लिखे लेकिन संस्कारों से अत्यन्त पिछड़े नवयुवक की कहानी है, जिसका विचार और कर्म के परस्पर-विरोधी क्षेत्रो में बँटा हुआ द्वैतपूर्ण जीवन आधुनिक वास्तविकता की एक सामाजिक-सांस्कृतिक दुरभिसन्धि का परिणाम है, जो व्यक्ति को अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन के प्रति अचेतन, अपने किताबी ज्ञान के प्रति अहंकारी और जीवन-संघर्ष में आत्मभीरु, व्यवहारतः आत्मनिष्ठ और स्वार्थपरक बना देती है।

यह कोई नयी समस्या नहीं है, और न साहित्य मे पहली बार ही प्रतिबिम्बित हुई है। हमारे मध्यवर्ग का अधिकांश भाग इस वैषम्य का शिकार रहा है और आज भी है। हमारे अधिकतर नवयुवक और नवयुवतियो के पढ़-लिखकर पाये आधुनिक

विचारों और अपने पारिवारिक जीवन से पाये पुराने सामन्ती संस्कारों में कोई सामंजस्य नही होता। इससे उनके व्यक्तित्व मे एक ऐसा द्वैत पैदा हो जाता है कि वह सोचते कुछ है और उनकी भाव-प्रतिक्रिया और आचरण कुछ दूसरा ही होता है। इनमे से अधिक साधन-सम्पन्न ऊपरी टीमटाम बनाकर अपने आचरण में अंग्रेजों का नकल करते रहे हैं और अपनी पिछडी भाव-प्रतिक्रियाओ पर आवरण डालने के लिए भारतीयता की गन्ध आने वाली हर चीज़ की ओर नाक चढ़ाकर देखने में ही आधुनिकता की मर्यादा समझते आये हैं। जिनके पास इस वर्णसकर सस्कृति को अपनाने के साधन नहीं जुट पाये, वे मनुष्य को आत्मभीरु बना देने वाली एक ऐसी कुण्ठा से ग्रस्त रहे है, जो उन्हे विचारो मे तो बड़ा क्रान्तिकारी लेकिन आचरण मे अपने तत्काल स्वार्थों की रक्षा की भावना से सब ऊँच-नीच सोच-साच कर चलने पर बाधित करती रही है। इन तात्कालिक स्वार्थों को आदर्श-संयत सिद्ध करके एक मिथ्या औचित्य-भावना को पुष्ट करने मे उनका किताबी ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और साहित्य अवसर के अनुसार मनोनुकूल तर्कावलि प्रदान करते रहने मे सहायक होता रहा है। लेकिन इन नौजवानो के दो टुकडो में बँटे व्यक्तित्व सामाजिक जीवन में अनेक समस्याएँ पैदा करते हैं। किताबी ज्ञान से वचित उनका पत्नियाँ उन्हे तुच्छ और अयोग्य और एक प्रकार से अपनी सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा बनकर खड़ी दिखाई देती है, माता-पिता गँवार और अदूरदर्शी दिखायी देते है, और इस प्रकार एक ऐसे पारिवारिक संघर्ष का सूत्रपात होता है जिसकी जड़ें हमारे ऐतिहासिक विकास की भूमि में गड़ी हुई है। यथार्थवादी लेखको ने जब कभी इस समस्या को अपनी रचनाओ मे उठाया है, उनका प्रहार इस वर्ण-सकर सस्कृति की असामाजिकता, स्वार्थपरता और अमानवीयता पर ही हुआ है, यद्यपि त्यागी हुई पत्नी, अपमानित माता-पिता के प्रति सहानुभूति दिखाकर वह हमारे फिलिस्तीन वर्ग के कोपभाजन बनते रहे; क्योंकि ऊपर से देखने पर तो यही लगता था कि ये लेखक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की खिल्ली उडा रहे थे और पिछड़ेपन और पुराने संस्कारो की प्रशस्तियाँ गा रहे थे। वास्तव में वह आधुनिकता के वेश में छिपे अमानवीय सम्बन्धो का विरोध और फटे-पुराने चिथड़ो में लिपटे मानवीय सम्बन्धों—अर्थात् मानवीय जीवन-मूल्यो और नैतिकता का समर्थन कर रहे थे। इन रचनाओ में जिस संघर्ष का चित्रण होता था वह वास्तविक था, कल्पना-जन्य नही। लेकिन डा० देवराज का उपन्यास इस परम्परा का अनुगमन नहीं करता, यद्यपि उसकी कहानी एक साधन-विहीन परिवार मे से पढ़ लिखकर निकले एक नौजवान की कहानी है। बातचीत और बहस में कभी-कभी मतभेद दिखाकर उसमे संघर्ष का आभास पैदा किया गया है, और वह भी अवसर स्वाभाविक नही है; बल्कि कल्पित और यत्न-साध्य है,

अन्यथा उसमें कहीं भी किसी वास्तविक संघर्ष का चित्रण नहीं है।

अब उपन्यास की कहानी को लें।

बदायूं के एक निम्न मध्यम वर्ग का विद्यार्थी चन्द्रनाथ एम. ए. में फर्स्ट डिवीज़न से पास होता है। वह कुशाग्र बुद्धि है, स्वभाव से ही भाव-प्रवण है; कवि और लेखक भी है। माता-पिता के अभाव मे उसके बडे भाई ही उसका खर्च उठाते रहे है, जो स्वयं एक छोटी-सी कपडे की दुकान करते है। चन्द्रनाथ की पत्नी सुन्दर और आकर्षक है लेकिन पढने-लिखने की ओर उसकी रुचि नहीं है। सुशीला 'सद्भावनाओं और सहज द्रवित स्नेह की पिटारी है', लेकिन अपनी असाधारण काव्य-प्रतिभा के प्रति सजग हो जाने के कारण चन्द्रनाथ को सुशीला के इन गुणों मे पर्याप्त जीवन-मूल्य नहीं दिखाई देते और उसे लगता है कि मानो उसमें कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और न उसके कार्य के प्रति सहानुभूति ही है। वह उसे अपनी उपयुक्त जीवन-संगिनी नही लगती, यद्यपि बौद्धिक रूप से विरक्त होकर भी वह उससे शरीर-सम्बन्ध कायम रखता है, और इसमे असीम परितृप्ति पाता है। इन्ही दिनो वह सुशीला की सखी साधना के प्रति आकृष्ट होता है। साधना सुशीला के गॉव की है, बी ए तक पढी है और उसमें भी चन्द्रनाथ जैसी ही प्रतिभा है, यद्यपि वह कवि नही है। साधना भी चन्द्रनाथ के प्रति आकृष्ट होती है। अपनी सामाजिक परि-स्थितियो के कारण कोई साहसी कदम उठाने मे असमर्थ आत्मभीरु चन्द्रनाथ तार्किक भावुकता के आवरण में लपेटकर साधना के साथ भाई-बहन का रिश्ता क़ायम करता है। यहाँ भा कोई वास्तविक सघर्ष नहीं पैदा होता, और किसी भी पात्र की जीवन-धारा मे कोई परिवर्तन नहीं आता। चन्द्रनाथ रिसर्च के लिए इलाहाबाद जाता है, और वहाँ ट्यूशन करके जीविका उपार्जन करता है। यहाँ उसका उपजीवी जीवन समाप्त होता है, लेकिन अपने पॉव पर खड़े होने के लिए उसे विशेष सघर्ष नहीं करना पडता, अवसर के अनुसार उसे ट्यूशनें मिलती जाती है। इलाहाबाद में चन्द्रनाथ 'प्रोग्रेसिव क्लब' की बैठको में शामिल होता है और पहली बार अपने व्यक्तिगत दायरे से निकलकर बाहर के लोगो के सम्पर्क में आता है। यही आशा और अनेक दूसरे विद्यार्थियो से उसकी भेट होती है। वह अच्छा वक्ता है, लोग उससे प्रभावित होते है। दिवाली की छुट्टियो में जब वह घर जाता है तो वहाँ उसकी साधना से पुनः भेट होती है। चन्द्रनाथ अपने उच्च आदर्शो के बावजूद हृदय का छोटा और कुढने-कोसने वाला आदमी है, जिससे अगर कोई उसकी कविता को या उसके भाषण को पसन्द न करे या उसकी प्रशंसा न करे तो वह उस व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि सारी मानव-जाति को कोसने के लिए बैठ जाता है, और तनिक-सी उपेक्षा को भी क्षमा नही कर सकता। इसी प्रकार प्रशसा मिलने पर या किसी के

व्यवहार में अपने व्यक्तित्व के प्रति सम्मान का भाव पाकर उसके हृदय की उच्चाशयता में ही नहीं, बल्कि मानव-जाति में उसका विश्वास पुनः जग जाता है। इसलिए किसा कारण से और दिवाली के रोज़ साधना ने उसे अपने घर नहीं बुलाया तो वह इतना निराश और कुण्ठित हुआ कि उसे बुख़ार आ गया, लेकिन दूसरे ही दिन जब साधना आकर उससे मिली तो कुछ देर में उसका कुण्ठ-भाव टूट गया, और उसने साधना का मुख अपनी ओर खींचकर चूम लिया—फिर भी वह इतना आत्मभीरु है कि वह अपने प्रेम का निवेदन न करके कहता है—"आज हमारी पहली भैया-दूज हुई ।" पथ की खोज के लिए किसा नये सघर्ष की संभावनाओं का द्वार यहाँ भी नही खुलता, क्योकि चन्द्रनाथ पहले ही डिप्टी कलक्टर अरुणकुमार से साधना की शादी पक्का करवाने में योग दे चुका है। पहले खड का पूर्वार्ध ('विश्वास' भाग) यहीं समाप्त होता है ।

त्तरार्ध में उसकी गैर मौजूदगी मे साधना की शादी हो जाती है, और फिर गर्भवती सुशीला इलाहाबाद उसके पास आकर रहने लगती है। बदायूँ से सुशीला के चले आते ही चन्द्रनाथ का अपने परिवार से रहा-सहा सम्बन्ध भी सदा के लिए टूट जाता है और वह अपने भाई-भावज और उनके बच्चो के बारे में कभी एक क्षण के लिए भी नहीं सोचता। सुशीला को लेकर उसे एक छोटी-सी गृहस्थी रचने का भार उठाना पड़ता है, और चँकि कवि होने के कारण वह अपने को सामाजिक दायित्वों से ऊपर उठा हुआ महसूस करना चाहता है, इसलिए सुशीला के साथ छोटी-छोटी बातों पर मनमुटाव होता चलता है। और चूंकि उसकी भाव-प्रवणता आत्म-सापेक्ष है, इसलिए सुशीला की· गर्भावस्था की कठिनाइयो के प्रति वह संवेदनशील नहीं है। उसे रह-रह कर सुशीला पर क्रोध आता है कि वह उसकी साहित्य-साधना को पूरा महत्त्व क्यों नही देती, और उसकी दी हुई पुस्तको को पढ़कर अमूर्त्त विचारो की आलोचना-प्रत्यालोचना करने के उसके आत्म-विलास मे सहयोग देने योग्य क्यो नहीं बनती ? इस प्रकार कुढते-कुढाते, ट्यूशनो के सहारे विपन्न गृहस्थी की गाड़ी को खीचते-खाँचते वह दिन आता है जब सुशीला अस्पताल मे एक शिशु को जन्म देकर स्वयं प्रसव-पीड़ा से मर जाती है। इस मृत्यु से चन्द्रनाथ को कोई दुःख या परिताप हुआ हो, ऐसी बात भी नही है, क्योकि दूसरे दिन त्रिवेणी से दाह-संस्कार के बाद लौटकर वह शाम को जब अपने आप से एक निस्सग दार्शनिक की भाँति तर्क-वितर्क करता हुआ निरुद्देश्य घूम रहा था, उस समय सुशीला की इस असमय मृत्यु पर उसके मन में एक खीझ-भरा विचार उठा—"क्यों सुशीला अब मरी, क्यो वह एक वर्ष पहले ही नहीं मर गयी? तब तब शायद वह साधना को पा सकता···" लेकिन साधना ने विवाह के बाद पत्र-व्यवहार बन्द कर रखा था और उसके मन का

सारा आक्रोश उसके बँगले को 'भूमिसात' करने की कामना बनकर बह निकला। दूसरे दिन अचानक उसके यहाँ अपनी बहन प्रेमलता के विवाह का निमन्त्रण लेकर आशा आयी। सुशीला की मृत्यु का समाचार सुनकर शिष्टाचारी ढग से दुःख प्रकट करके वह चन्द्रनाथ को लेकर बच्चे को देखने के लिए अस्पताल गयी। चन्द्रनाथ ने पहली बार अपने शिशु को देखा (और सम्भवतः अन्तिम बार भी, क्योंकि दूसरे खंड में बच्चे के अस्तित्व का कही जिक्र नही आता। सभवतः चन्द्रनाथ के भाई-भावज ही उसे पालते रहे और आशा से विवाह हो जाने के बाद भी उसे वहाँ से नहीं लाया गया, क्योंकि शायद वह नव-दम्पति के उन्मुक्त प्रणय-व्यापार और चन्द्रनाथ की काव्य-साधना में बाधक बनता। एक प्रकार से शिशु को भाई के यहाँ भेजकर चन्द्रनाथ अपने परिवार और उस परिवार मे पैदा होने के कारण पत्नी रूप मिली सुशीला की स्मृति तक से सदा के लिए अपना नाता तोड लेता है।) पहले खंड का उत्तरार्ध (निराशा भाग) यही समाप्त होता है—निराशा इसलिए कि काव्य-साधना के वृक्ष को नारी-स्नेह के रस से सीचने के लिए (चाहे बौद्धिक सतोष या शारीरिक तृप्ति के रूप में हो) न साधना मिली और न सुशीला ही रही। इस प्रकार पहले खंड मे बिना किसी बुनियादी संघर्ष के ही विश्वास और निराशा के क्षण बीत जाते हैं। चन्द्रनाथ के चारित्रिक विकास पर इन दोनो का कोई प्रभाव नहीं पडता।

उपन्यास के दूसरे खंड 'स्वप्न और जागरण' का घटनास्थल बनारस है। चन्द्रनाथ किसी कालेज में प्रोफेसर नियुक्त होकर बनारस आ जाता है और विद्यार्थियों की दुनिया में न रहकर अब वह अध्यापको की संकीर्ण दुनिया का अंग बन जाता है। यहाँ उसकी मैत्री आशा के भाई नरेन्द्र से होती है और हरिशंकर, प्रकाशचन्द्र, मदन और अन्त में सोशलिस्ट कार्यकर्त्ता योगेन्द्र बाबू से उसका परिचय होता है। नरेन्द्र मध्यवर्ग का ऐसा प्रतिनिधि है जिसने कैश-नेक्सस (दुनियादारी के आधार पर स्थापित समाज-सम्बन्ध) की मनोवृत्ति पूरी तरह अपना ली है। वह अपनी पत्नी सावित्री से प्रेम नही करता, लेकिन अपने घर के सामजस्य को कायम रखने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि शरीर की भूख शान्त करने के लिए वह बिना किसी संकोच के वेश्या के यहाँ भी जा सकता है, जाता है। चन्द्रनाथ को, जो अपनी आत्मभीरुता को उच्चादर्शों और विवेक के आवरण में ढँकने का आदी है, नरेन्द्र अपने से अधिक अनुभवी और 'यथार्थवादी' नजर आता है। जिस बात के औचित्य को स्वीकार करने के लिए चन्द्र-नाथ को अपने आप से घंटों पर्यालोचना करनी पड़ती है, नरेन्द्र उसे दो टूक स्वीकार ही नहीं कर लेता, बल्कि उस पर अमल भी कर सकता है। नरेन्द्र स्त्री जाति को स्वार्थी मानता है, क्योंकि स्त्री कभी प्रेम नही कर सकती, केवल पुरुष का भौतिक आश्रय खोजने के लिए ही प्रेम का अभिनय करती है। विवाह के बाद से साधना का

कोई पत्र न पाने पर चन्द्रनाथ भी मन-ही-मन इसी परिणाम पर पहुँचता है, लेकिन ऐसा कहने के लिए वह नरेन्द्र को उकसाता है।

नरेन्द्र के यहाँ ही आशा से उसकी पुनः भेंट होती है। धीरे-धीरे दोनों का परिचय बढ़ता है। लेकिन यह परिचय बौद्धिक स्तर पर ही रहता है, क्योंकि चन्द्रनाथ किसी भी पढ़ी-लिखी सुन्दर लडकी के प्रति सहजरूप से आकृष्ट हो जाने पर भी प्रेम-निवेदन करने का साहस नही रखता। प्रेम की सत्ता उसके लिए भी केवल शाब्दिक अर्थ ही रखती है। अनुभूति के रूप मे वह प्रेम की एक-निष्ठ भावना नहीं बन पाई। इसलिए आशा हो या मदन की प्रेमिका माधुरी की बहन मालती, वह किसी भी सुन्दर लडकी को काम्य समझता है, यदि वह पढ़ी-लिखी हो, और उसकी काव्य-साधना में सहायक हो सके। और यदि यह सम्भव न हो, तो मात्र शरीर की भूख शान्त करने के लिए वह वेश्यालय मे भी जा सकता है, और एक बार जाता भी है। और वह ऐसा करने के पहले अपनी विचित्र तर्क-प्रणाली के अनुसार, जो अवसर के अनुकूल प्रत्येक असामाजिक कृत्य का औचित्य सिद्ध कर देती है, अपने मन को समझा लेता है कि समाज उससे ही क्यो अपेक्षा रखता है कि वह आत्म निग्रह की पीडा सहता जाये ! बहरहाल वेश्यालय मे, सम्भवतः चन्द्रनाथ की अनुभवहीनता के कारण, सौदा महँगा पडा और वांछित शारीरिक तृप्ति भी नही मिली। तब लौटते समय उसे पहली बार अपने ऊपर ग्लानि हुई कि उसने सुशीला के लिए कुछ नही किया ! स्वप्न और जागरण का पूर्वांश यही समाप्त होता है।

उत्तरांश में कहानी थोडा आगे बढ़ती है, क्योंकि अपने डिप्टी कलेक्टर पति के विश्वासघात के प्रति विद्रोह करके साधना उसे त्यागकर चन्द्रनाथ के यहाँ पहुँचती है और उसी के यहाँ ठहर जाती है। चन्द्रनाथ को उसका आना अप्रिय लगता है, क्योकि साधना ने उसके पत्रों का उत्तर नहीं दिया था और न उसकी नौकरी की दरख्वास्त पर अपने पति की सिफ़ारिश भिजवाई थी—फिर वह उसकी कौन थी जो उसके यहाँ आयी थी। साधना की लम्बी कष्ट-गाथा सुनकर भी चन्द्रनाथ का आत्म-केन्द्रित हृदय नहीं पिघलता। साधना दूसरे दिन जब वहाँ से जाने के लिए बिस्तर बाँधती है, तब कही चन्द्रनाथ का हृदय पसीजता है और वह उसे रोक लेता है। चन्द्रनाथ ने चूँकि प्रेम की भावना का कभी अनुभव नही किया, इसीलिए साधना के लौटने पर वह पुरानी भावुकता न जग सकी। कुछ दिनो में साधना विश्वविद्यालय के छात्रावास में जाकर रहने लगी। चन्द्रनाथ के यहाँ साधना का परिचय योगेन्द्र बाबू से हुआ और वह उनके व्यक्तित्व और उनकी देश-भक्ति से प्रभावित हुई, और अगस्त-आन्दोलन शुरू होने पर साधना ने भी उसमें भाग लिया और गोली खाकर अस्पताल पहुँचाई गयी। चन्द्रनाथ की सहानुभूति यद्यपि आन्दोलन के साथ

थी, लेकिन अन्य अध्यापको की तरह वह भी उसमे खुलकर भाग नही ले सकता था। साधना की परिचर्या आशा ने की, और दोनो की घनिष्ठता इतनी बढ गई कि अच्छी हो जाने पर साधना ने चन्द्रनाथ और आशा से बाते करके दोनो की शादी करा दी। इस प्रकार मानसिक द्वन्द्व या सामाजिक संघर्ष की समस्त सम्भावनाओ पर पुन. ताला डालकर कहानी को यहाँ से घसीट-घसीटकर आगे बढ़ाया जाता है। विवाह में चन्द्रनाथ के परिवार के लोगों ने भाग लिया या नही और उसका पुत्र सुधीर आया या नही, इसका पता नही चलता। सम्भवतः उनको सूचना भी नही दी गई। सुहागरात और उसके बाद के कुछ विह्वल-प्रणय के दिन बिताकर जब आशा अपने मायके इलाहाबाद चली आयी तो एक दिन साधना होस्टल से आकर चन्द्रनाथ के यहाँ ही ठहर गई। उस दिन वह विशेष रूप से उद्विग्न थी, क्योकि, जैसे किसी दिन उसका विवाह पक्का कराके चन्द्रनाथ ने उसे खो दिया था, उसी तरह चन्द्रनाथ का विवाह रचाकर अब उसने चन्द्रनाथ को हमेशा के लिए खो दिया था। इसकी टीस उसके हृदय मे थी और अब वह सारे अवगुण्ठन हटाकर और अस्त्र फेंककर चन्द्रनाथ को चाहे एक क्षण के लिए ही क्यो न हो, पा लेना चाहती थी। अपनी विह्वल दशा मे वह चन्द्रनाथ से अपने शरीर की पीडा दूर करने के लिए प्रणय-याचना करती है। और चन्द्रनाथ जो एक दिन पहले ही आशा को पत्र में मन और शरीर से सदा उसका ही रहने का वचन दे चुका है, अपनी विचित्र तर्क-प्रणाली से 'यदा यदा हि धर्मस्य' की पुनीत भावना जगाकर कृष्ण की तरह इस दुखियारी का कष्ट-हरण करने के लिए तत्पर हो जाता है। लेकिन जितने मे वह अपने मन के मानवीय अवरोधो को परास्त करके बक्स से रबर की खोली निकालकर साधना के पलँग पर पहुँचता है, उतने में साधना की काम-पीड़ा का ज्वार उतर गया होता है, और वह उससे स्वच्छ और निर्विकार स्वर में कहती है—"मुझे तुम्हे भैया कहना ही अच्छा लगता है।" और यह संकट टल जाता है। साधना इसके बाद योगेन्द्र बाबू के साथ 'क्रान्ति' में भाग लेने के लिए चली जाती है। उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता है।

उपन्यास की मूल कथा को अनावश्यक रूप से बढाकर आठ सौ पृष्ठो मे भी लिखा जा सकता है, जैसा कि लेखक ने किया है, और सौ-पचास पृष्ठो में भी, यदि औसत दर्जे की अप्रासंगिक घटनाओ का यथा-तथ्य चित्रण करने का मोह त्यागा जा सके। चूँकि उपन्यास के पात्र एक कृत्रिम दुनिया मे रहते है, समाज के समग्र जीवन से असम्बद्ध और कटे हुए, इसलिए यह दुनिया अत्यन्त संकुचित और क्षुद्र है—यद्यपि बहसो में बड़े-बड़े सिद्धान्तो और मार्मिक विचारो का निरसग प्रति-पादन होता ही रहता है। एक पाठक और आलोचक की हैसियत से इन अमूर्त

२८

नदी के द्वीप

अज्ञेय की अन्य रचनाओं की तरह इस उपन्यास का भी हिन्दी-जगत में विरोध अधिक हुआ है, स्वागत बहुत कम। इसके कई कारण है जिन पर हम बाद में विचार करेंगे। संक्षेप में यह जान लें कि 'नदी के द्वीप' की कहानी क्या है। कहानी वस्तुतः बहुत छोटी है, घटना हीन-सी कि कहे नही के बराबर है। डा० भुवन एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक है, कॉस्मिक रश्मियो की रिसर्च करने वाला, मितभाषी और अहंवादी। रेखा एक पढी-लिखी सम्भ्रान्त नारी है, जिसे उसके पति हेमेन्द्र ने छोड रखा है। यह भी कहा जा सकता है कि स्वयं रेखा ने उसे छोड़ रखा है क्योकि दोनो एक दूसरे को प्रेम नही कर पाये। गौरा एक दूसरी लडकी है, जिसके परिवार से भुवन का पुराना परिचय है। दोनो में गुरु-शिष्या का रिश्ता है। गौरा को सगीत से प्रेम है। यहाँ की शिक्षा समाप्त करके वह कही दक्षिण-भारत में जाकर सगीत-विद्या सीखती है। बाद मे वह बनारस के किसी कॉलेज में अध्यापिका हो जाती है। चन्द्रमाधव एक पत्रकार, जर्नलिस्ट है, क्षुद्र, ईर्षालु और उतावले स्वभाव का। वह रेखा और गौरा दोनो से ही खूब परिचित है। रेखा से भुवन का प्रथम मिलन भी चन्द्रमाधव के यहाँ ही होता है। चन्द्रमाधव ने अपनी स्त्री को छोड रखा है, क्योकि वह पुराने ढग की औरत है, रेखा और गौरा की तरह आधुनिका नही है। उपन्यास में केवल यही चार पात्र है। बाह्य-संघर्ष नहीं के बराबर है, जिससे चन्द्रमाधव यद्यपि रेखा और गौरा दोनो में से किसी एक को पा लेने के लिए निरन्तर याचनाएँ करता रहता है, लेकिन दोनो का भुवन के प्रति मोह देखकर, ईर्षा से झुलसकर भी, अन्त मे उसके लिए मैदान छोड़कर बम्बई चला जाता है।

रेखा से भेट होने पर भुवन जैसा आत्मनिष्ठ व्यक्ति भी उसकी ओर आकृष्ट होता है और साथ ही रेखा भी। एक-दो मुलाकातो, सैर-सपाटो और सलापो के बाद बाह्यरूप से दार्शनिक, पर वास्तव मे व्यक्तिगत स्तर पर दोनो में पत्र-व्यवहार चल निकलता है। पत्रो का यह आदान-प्रदान चन्द्रमाधव और रेखा, चन्द्रमाधव और गौरा, रेखा और भुवन तथा गौरा और भुवन आदि सभी पात्रो मे सभी ओर निरन्तर जारी रहता है। आदि से अन्त तक। और परोक्ष मे होने वाली साधारण-से साधारण घटनाओं—और असाधारण घटनाएँ उपन्यास में है ही कहाँ?—पात्रों के उचित-अनुचित निर्णयों, मनःस्थितियो, ईर्षाओं और क्षुद्र अहंकारो को दार्शनिक औचित्य

प्रदान करने की उद्धत कैशोर चेष्टाओं का पता इन असख्य छोटे-लम्बे पत्रो, डायरियों में नोट की गई उक्तियो और अग्रेज़ी या बगाली कविताओ के उद्धरणों से ही पाठक को लगता है।

अब मुख्य घटना-क्रम को ले। रेखा को नैनीताल छोडने के लिए भुवन साथ जाता है। नैनीताल से आगे भीमताल पहुँचकर दोनो एक झील के किनारे डाक बगले में ठहरे। चुंबन-आलिगन का प्रणयावेग दोनो को बहा ले चला। रात को कमरे में सहसा रेखा के आने से भुवन की नीद टूटी। रेखा कामोन्माद की अवस्था में थी। किन्तु भुवन उस समय रेखा के आत्मसमर्पण को स्वीकार न कर सका। रेखा ने उसे जो दिया था उसके सौन्दर्य को वह मिटाना या जोखम मे डालना न चाहता था। किन्तु जो भीमताल मे न हो सका, वह कुछ ही दिनो के बाद काश्मीर मे तुलियन झील के किनारे, चाँदनी रात मे एक चट्टान के ऊपर घटित हो गया। रेखा के आत्म-समर्पण के आगे भुवन ने भी अपने को समर्पित कर दिया। रेखा काश्मीर से गर्भवती होकर लौटी, जिसकी सूचना उसने नौकरी के सिलसिले में दुबारा काश्मीर जाकर भुवन को दी। भुवन विवाह का प्रस्ताव लेकर गया, लेकिन रेखा न मानी। भुवन ने भी विशेष जोर न दिया। इसी बीच हेमेन्द्र ने रेखा को तलाक़ के लिए लिखा और रेखा ने इसकी स्वीकृति तो दी, पर पहले अपने भ्रूण की हत्या कराके। भुवन ने इस भ्रूण-हत्या का प्रबन्ध भी किया और रेखा की परिचर्या भी। फिर दोनो काश्मीर से साथ लौटे। रेखा पहले कलकत्ते गयी। फिर तीर्थाटन के लिए निकल पड़ी। तलाक उसे मिल गया था और उसने अपने पत्रो में पुनर्विवाह का सकेत भी किया, लेकिन भुवन ने चार महीनो तक कोई उत्तर न दिया। जब दिया भी तो टालमटोल से भरा, क्योकि वह मन-ही-मन गौरा के प्रति समर्पित होता जा रहा था। फिर भुवन जावा चला गया—कॉस्मिक रश्मियो की खोज के सिलसिले में। केवल गौरा से पत्र-व्यवहार जारी रहा। लौटा तो ठहरा भी गौरा के यहाँ ही मंसूरी में, और एक ही दिन मे रेखा का 'शुक्रतारा' गौरा का 'देव-शिशु' बन गया। इसके बाद भुवन अडमान गया, और जब कलकत्ते पर पहला जापानी बम गिरा तो फासिज्म की बर्बरता से संस्कृति की रक्षा के निमित्त वह अग्रेजो की ओर से भारतीय सेना में भरती हो गया। इस बीच रेखा ने अपनी परिचर्या करने वाले डॉक्टर रमेशचन्द्र से शादी कर ली—यद्यपि मन से वह भुवन की ही बनी रही। भुवन ने भी जिस बात की हामी गौरा के सामने न भरी थी, उसकी हामी उसने बर्मा फ्रन्ट से भेजे एक पत्र मे भर ली और गौरा से विवाह का प्रस्ताव किया। 'नदी के द्वीप' की बस इतनी-सी कहानी है। तो भी यह उसका ढाँचा मात्र है। वास्तविक कहानी इतनी निरीह और सरल नही है।

अज्ञेय के पाठक जानते है कि वे रवीन्द्र, शरत् या प्रेमचन्द का तरह के किस्सा-गो नहीं है। वे अपने उपन्यासों मे मानव और नियति के उस सनातन संघर्ष को प्रतिबिम्बित नहीं करते जो जीवन के हर क्षेत्र में, हर स्तर पर नये-नये रूपों में अविराम जारी है। न वे उन मान -चरित्रो की ही सृष्टि करते है जो युग-सत्य के वाहक, मानव-उद्योग के प्रतीक, प्रतिनिधि चरित्र है। बल्कि वे केवल विशिष्ट व्यक्ति-मानस के आन्तरिक संघर्ष को ही चित्रित करने का प्रयत्न करते है—जीवन की सामान्य परिस्थिति से अलग करके, क्योकि उनकी दृष्टि में व्यक्ति-मानस स्वय एक परिस्थिति बन गया है, और सब घटनाएँ वही घटने लगी है। कारण, फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र, सार्त के अस्तित्ववादी दर्शन और आइन्स्टान के सापेक्षवाद के सिद्धान्त—इन तीनों ने मिलकर जीवन में कुछ भी निश्चयात्मक नही छोडा, किसी पर भरोसा और विश्वास सम्भव नही रखा। आज यदि समस्या है तो केवल यह कि कोई ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाये जिससे अस्तित्व-रक्षा हो सके, चाहे यह दृष्टि-कोण नैतिक मूल्यो का तिलांजलि देकर कोरा अवसरवाद ही क्यो न हो। इसलिए उनकी दृष्टि मे आधुनिक उपन्यास में दृष्टिकोण का महत्व है और विशेष और अद्वितीय व्यक्ति-चरित्रो की सृष्टि करना जो समाज की विषम धारा के बीच आत्म-सीमित व्यक्तियो के अलग-अलग द्वीप हो।

'नदी के द्वीप' नाम की सार्थकता इसीलिए है। इस उपन्यास का विरोध भी इसीलिए हुआ है कि पात्र सजीव नही, केवल प्रतिच्छायाएँ है। भुवन और चन्द्रमाधव एक ही सिक्के के दो रुख है, रेखा और गौरा भी एक-सी है, केवल उम्र का फरक है दोनो में। दोनो भुवन की छात्राएँ है, और दोनो केवल भुवन के 'अह' को अपनी अन्ध-भक्ति से निरन्तर खाद्य पहुँचाने की निमित्त मात्र है। उनमें अपनी स्वतन्त्र, स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ नही होती। भुवन सब से लेता है, लेने का अधिकारी है—यह उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का अभिजात्य है।

देने का दायित्व उस पर नहीं, क्योकि वास्तव में उसके पास देने को कुछ है ही नहीं। उसमे केवल अस्तित्व-रक्षा की वृत्ति ही शेष है, और कोई मानवीय सवेदन नही। यदि कभी कही मानवीय अनुभूतियाँ दिखाई देती है तो तभी जब उसे अस्तित्व-रक्षा के लिए कोई नया आश्रय खोजना हो। नही तो वह अन्त करण-हीन, अनैतिक और पाषाण-हृदय है। इसीलिए सारे उपन्यास में कोई जीवन नहीं, कोई वास्तविक सघर्ष नही, कोई मानवीय उद्योग नही। वास्तविकता अपने आप भुवन के अनुकूल बनती जाती है, जैसे वह भी उसकी छाया हो। उसके अह की तुष्टि की साधन हो। इस कुण्ठा-ग्रस्त, खंडित, आत्म-प्रवंचक पुरुष की भाँति ही उपन्यास का रूपाकार है। भाषा मँजी और पैनी है, अलग-अलग चित्र असाधारण और तीखे है,

लेकिन समग्ररूप से देखें तो उनमें ऐसा कोई आन्तरिक सामंजस्य नहीं कि इस उपन्यास को एक कलाकृति बना दे। यह ठीक है कि हमारे समाज में भुवन जैसे व्यक्ति मिलते हैं। पाठको के लिए उनके जीवन की सार्थकता है तो वह व्यापक जीवन की अपेक्षा में चित्रित करके ही उद्घाटित की जा सकती है, अन्यथा उनकी स्वतःसिद्ध व्यर्थता और ह्रासोन्मुखता को अपनी ओर से महिमा मडित करके छिपाने का इतना बडा आडम्बर क्यों? यह प्रश्न उठता है, क्योंकि लेखक ने भुवन को पर्याप्त महिमा से मडित करना चाहा है, यद्यपि पाटको का दृष्टि से यह दुःसाध्य प्रपंच छिपा नही रह सकेगा। इसीलिए प्रश्न उठता है कि यह उपन्यास-कला का विकास है या ह्रास— यह प्रश्न भाषा और शिल्प तक ही सीमित नही है, क्योकि इस सीमित दृष्टि से इसे विकास सिद्ध कर सकना अर्थ भी रखेगा। अन्त मे प्रश्न उठता है कि समग्र जीवन को प्रतिबिम्बित करना कला का लक्ष्य है या केवल किसी व्यक्तिवादी, एकांगी और निरपेक्ष दृष्टिकोण को?

—सितम्बर १९५२

२९
रथ के पहिए

देवेन्द्र सत्यार्थी को अधिकांश आलोचक और पाठक कवि, कहानीकार और निबन्ध-लेखक के रूप में देखकर भी अनदेखा करते रहे हैं। कदाचित इसलिए कि उनका मुख्य क्षेत्र लोक-साहित्य है, जहाँ उन्होने अपने सग्रह, शोध और संकलन-कार्य से स्थायी कीर्ति अर्जित की है, और एक मौलिक रचनाकार के रूप में उन्हें आते देखकर लोगो को लगा है कि यह उनका क्षेत्र नही है—वे अपनी सीमा का अतिक्रमण कर रहे हैं। फिर भी अबकी बार वे एक उपन्यास लेकर उपस्थित हो गये हैं और संभव है कि इसे पढकर यह कृत्रिम विवाद फिर नये सिरे से उठ खड़ा हो।

किन्तु देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास को पढ़कर इतना तो निश्चित् रूप से कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र-यशपाल जैसे कुछ अपवादो को छोड़कर, इन दिनों हिन्दी-साहित्य मे सामान्यतः जिस कोटि के उपन्यास लिखे जा रहे हैं, और जिनके कारण ही कतिपय लेखक हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारो की श्रेणी मे विराजमान दीखते हैं, 'रथ के पहिए' उन उपन्यासो की पक्ति में तो आँख मूँदकर रखा जा सकता है। उसकी भाषा, शैली, वर्णन-पद्धति और रचना-शिल्प आदि पिछले खेवे के अनेक ख्याति-प्राप्त उपन्यासो से किसी भी रूप में नगण्य नही है। यह सब होते हुए भी 'रथ के पहिए' मे यदि विचार-वस्तु की अति-साधारणता, पात्रो की व्यक्तित्वहीनता, प्रासगिक-अप्रासगिक घटनाओ के चयन के प्रति उदासीनता, यथातथ्य वर्णन की नीरस प्रगल्भता, चरित्र-चित्रण की एकांगिता, कथा-सूत्र की शिथिलता, यथार्थ-वर्णन की कमी और भावुकता की अतिशयता है तो इसके लिए अकेले सत्यार्थी जी को दोष देना व्यर्थ है। यह प्रवृत्ति अधिकाश उपन्यासकारो मे सामान्यत. पाई जाती है।

'रथ के पहिए' को सत्यार्थी जी ने अपना एक साहित्यिक प्रयोग कहा है। किन्तु उपन्यास-क्षेत्र में यह कोई नया प्रयोग नही है—न टेकनीक की दृष्टि से और न विषय-वस्तु की दृष्टि से ही। रवि, शरत् और प्रेमचन्द से आती हुई उदार सामाजिक चेतना के देशप्रेमी लेखकों की यह परम्परा रही है कि उन्होने जैसे बार-बार विधवा-विवाह, वेश्यावृत्ति, धार्मिक अंधविश्वास आदि सामाजिक कुरीतियों को ध्यान में रखकर अपनी रचनाओ से उनके विरुद्ध लोकमानस को उद्बुद्ध करने की कोशिश की है, वैसे ही अशिक्षा को, हमारे देश के पिछड़ेपन, गरीबी, भेदभाव और राष्ट्रीय-पतन का कारण बताकर शिक्षा-प्रसार के निमित्त किये गये सार्वजनिक उद्योगों को कथा का रूप देकर

सराहा और प्रोत्साहित किया है। इन रचनाओं में साधारणतया किसी एक ऐसे कर्मठ आदर्शवादी नायक को चित्रित किया जाता रहा है जो किसी मार्मिक घटना से सचेत और द्रवित होकर कर्तव्य-पथ अपना लेता है, और अपना सब कुछ त्याग करके घर से निकल पड़ता है। जाकर किसी गाँव या ग़रीबों की बस्ती में आश्रम खोलता है, वहीं का हो रहता है, लोगो को संगठित और सुशिक्षित बनाता है और इस प्रकार जनता में जीवनाकाक्षा, देशप्रेम और सामूहिक संघर्ष की चेतना और स्वाभिमान जगाता है। 'रथ के पहिए' की कहानी भी इसी परम्परा की है।

भेद केवल इतना है कि उपन्यास का नायक आनन्द अपनी जाति के लोगों को जाग्रत करने के लिए नही निकलता बल्कि मानवशास्त्र का विद्यार्थी और मोहेनजोदडो के क्यूरेटर का पुत्र होने के नाते उसकी अभिरुचि और लक्ष्य अधिक सांस्कृतिक है, जिससे वह अपने पिता की इच्छानुसार मृत-सस्कृतियो की खोज-बान में जीवन 'नष्ट' (?) न करके, उन जीवित आदिम निवासियो के बीच जाकर काम करता है जो आधुनिक सभ्यता की रेल-पेल मे अपनी जातीय विशेषता या तो खो रहे है या पडोस की उन्नत जातियो मे जज्ब होते जा रहे है। आनन्द इन सस्कृतियो को आधुनिक सभ्यता के अपघातो से सुरक्षित रखना चाहता है। या कम-से-कम उनके आधुनिकीकरण से पहले वह उनके जातीय लोक-गीतो, लोक-कथाओ, लोक-नृत्यो और लोक-वार्ताओ की शोध करके सुरक्षित कर लेना चाहता है।

मृत-संस्कृति के प्रति पिता के मोह को देखकर आनन्द के मन में तीव्र प्रति-क्रिया होती है—क्यो न जीती-जागती सस्कृतियो का उद्धार किया जाय? इस मानसिक द्वन्द्व का आधार कृत्रिम है, क्योकि दोनो कार्य राष्ट्रीय उत्थान के लिए समान रूप से आवश्यक है। किन्तु लेखक ने एक को उपेक्षणीय और दूसरे को स्पृहणीय सिद्ध करके आनन्द को घर से निकलने का एक उचित कारण देना चाहा है। आरम्भ का विचार-मन्थन कितना प्रासंगिक और कलात्मक है यह चाहे संदिग्ध हो, लेकिन इतना तो निश्चित है कि आर्य-पूर्व भारत की सिन्धु तटवर्ती सभ्यता के बारे में मोहेनजोदड़ो की खुदाई से पुरातत्ववेत्ताओ को अभी तक जितना कुछ ज्ञात हो सका है और भारत की आदिम जातियो के सम्बन्ध में सेसर रिपोर्टों और मानव शास्त्र की पुस्तको में जो तथ्य संग्रहीत है, उन सब की जानकारी इससे हो जाती है। कला न सही, किंचित् रोचक ढंग से तथ्य-वर्णन ही पाठक को कृतकृत्य करने के लिए क्या पर्याप्त नही?

आनन्द पेण्ड्रा रोड से आगे गोडों के जंगली इलाके में अपने वफ़ादार नौकर चुन्नू मियाँ और चित्रकार मित्र सोम को लेकर पहुँचता है। करंजिया गाँव में किसी ईसाई मिशन के खाली पड़े बगले में डेरा जमाता है। वहाँ का धनी किसान मण्डल

पटेल, उसकी दसवीं जमात तक पढी बेटी रूपी, फारेस्ट रेंजर कासिमी और उनकी पत्नी, शराब की दुकान का ठेकेदार लालाराम और अनगिनत दूसरे लोग पलक झपकते ही उसके मित्र, भक्त और अनुयायी बन जाते है, जैसे उनके बीच मसीहा आगया हो। वह शिक्षा-केन्द्र 'कला-भारता' की स्थापना करता है। और फिर करजिया गोडो के दैनिक जीवन की समस्याओं, वहाँ के जंगलो, लोगों के रस्म-रिवाजों, दंतकथाओ, लोक-नृत्यों और लोक-गीतों का परिचय देती हुई कथा आगे बढ़ती है। अनेक घटनाएँ होती है, मालगुज़ार धनपालसिंह के अत्याचार बढते है, सोम फुलमत से विवाह करता है, करंजिया के जाग्रत किसान बेगार देना बन्द कर देते है, पुलिस मालगुजार का साथ देती है, अनावृष्टि के कारण अकाल पडता है, आनन्द अकाल-पीड़ितो के लिए रिलीफ कमेटी बनाकर हैदराबाद और बम्बई से रुपया जमा करता है, सरकार सड़क बनवाती है, फिर पिता की बीमारी से लौटकर आनन्द कपिलधारा से नर्मदा की नहर खोदने के लिए लोगों को उत्साहित करता है। नहर बन जाती है। वर्षा भी होती है और खेती एक बार फिर लहलहा उठती है। आनन्द का कार्य समाप्त होता है। वह करजिया छोड़कर चल पड़ता है। रूपी भी साथ चलती है। दोनो का विवाह हो जाता है। किन्तु बम्बई आकर रूपी को करजिया ही याद आता है, वह लौटना चाहती है। लेकिन आनन्द कर्मठ व्यक्ति है, वह व्यक्तिगत स्वप्नो में उलझकर रुकने वाला आदमी नही है। अपनी पुस्तके छपवाकर उसे आसाम जाना है। वहाँ की पिछडी जातियो का भी तो उद्धार करना है। जीवन का रथ कहीं नहीं रुकता और विवश रूपी भी इस रथ पर सवार होकर साथ जाती है।

कहानी केवल इतनी ही है। कहीं-कही मार्मिक स्थल भी है, लेकिन कम। लेखक ने भावुकतावश प्रधान पात्रो को कुछ ऐसे आदर्शवादी साँचे में ढाल दिया है कि उनके भीतर की झाँका नही मिलती।

—अप्रैल १९५३

३०

सोना और नर्स

श्री रामचन्द्र तिवारी का उपन्यास 'सोना और नर्स' अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण है। तिवारी जी सरल प्रकृति के, उदारमना, सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति हैं, और उनकी रचनाओं में भी उनके इसी व्यक्तित्व की छाप रहती है। जैनेन्द्र या 'अज्ञेय' की तरह उनकी चेतना जटिल और अन्तर्भेदिनी नहीं है, अत: अपनी रचनाओं में वे जीवन के, व्यक्ति-मानस के, अत्यधिक सूक्ष्म और उलझे हुए सूत्रों को नहीं खींचते और उनकी अगम गहराइयों में नहीं उतरते। जीवन को ऊपर से जैसा देखते हैं, उसको वैसा ही चित्रित करने की चेष्टा करते हैं। इसी कारण सोना, भगवाना, नर्स, दासू बेन और भगत जी आदि उपन्यास के प्रमुख पात्र सभी अत्यन्त सरल हृदय और अपने मन-वचन-कर्म से छल-छन्द रहित ईमानदार व्यक्ति हैं। जीवन की कटुनाएँ उन्हें एक क्षण के लिए भी अमानवीय, स्वार्थी, दंभी और ईर्षालु नहीं बनातीं।

उपन्यासक का कथानक बहुत छोटा है, फिर भी उसमें दो प्रेम-कथाएँ समानान्तर चलती हैं, एक सोना और भगवाना के प्रेम की कथा जो बहुत कुछ अव्यक्त रहकर भी दोनों के चरित्र का विकास और निर्माण करती है, और दूसरी नर्स मिसेज दासू बेन और राजकुमार रामपालसिंह के प्रेम की कथा जो अधिक मुखर होकर भी उतनी मर्मस्पर्शी नहीं बन पाती—यद्यपि विपरीत परिस्थितियों ने सोना और भगवाना को जीवन-पथ का चिरसंगी नहीं बनने दिया और नर्स और कुँवर थोड़े ही प्रयास से विवाह के अटूट धागे में बँध गये। परन्तु इन कथाओं का विकास करने के दौरान में तिवारी जी ने बड़े स्वाभाविक ढग से सामती नैतिकता अधविश्वास, जमींदार और पुलिस के अत्याचार और दुःख-दारिद्रय से पीड़ित हमारे अन्नदाता किसानों की जर्जर कारुणिक दशा का सजीव और व्यापक चित्रण किया है। पढकर उपन्यास में प्रेमचन्द की परम्परा का ध्यान आ जाता है, जिसने हमारे किसानों की मूक इच्छाओं और आकांक्षाओं को वाणी दी थी। इतना अवश्य है कि तिवारी जी ने ग्रामीण जीवन का जो चित्रण किया है उसमें दो-एक स्थानों पर अत्यधिक भावुकता आ गयी है, जैसे सूखते हुए धान के खेत को सींचने के लिए व्याकुल सोना की भाव-धारा की अभिव्यक्ति में। परन्तु ऐसे स्थान थोड़े ही हैं जहाँ लेखक भावुकता में बह गया है। अधिकतर चित्रण यथार्थ और सच्चा है।

सोना और दासूबेन दोनों विधवाएँ हैं, यौवन की चढ़ती उमर की, अतीव,

सुन्दर और साहसी। सोना किसान-कन्या है और दासुबेन एक ईसाई नर्स है और शहर में रहती है। सोना के यौवन को देखकर गाँव के सारे पुरुष मुँह में पानी भर लाते है, परन्तु एक वह है जो अपने एक वर्ष के पुत्र हरखू और धान के खेत को छोड़कर किसी की ओर आँख भी नहीं उठाती। गाँव मे वर्षा न होने से सूखा पड़ रहा है। राजा साहब, चौधरी और दूसरे उच्च जाति और वर्ग के लोगो के खेत तो नहर के पानी से कसकर भर लेते है, पर गरीब सोना को कौन पूछता है? वह रात भर जागकर उन्मादिनी की भाँति घड़े से अपना खेत सींचती है, पर इससे धरती की प्यास नहीं बुझती। इसी समय एक दिन जब सोना अपने ही घर में अपने सतीत्व के लुटने के भय से रात को खेतो में छिपी डोल रही थी, उसे गाँव से भागकर जाता हुआ भगवाना मिला। उसने पुलिस के सिपाही के धोखे मे चौधरी के भतीजे वीरेन्द्र का खून कर डाला था। पुलिस के सिपाही ने भगवाना का अपमान किया था। उसे अकारण ही मारा था जिससे भगवाना की आत्मा तिलमिला गयी थी। वह इस अपमान को पी नही सका। सोना के समझाने पर कि भागने से उसी पर सन्देह होगा, वह रुक गया और दोनो ने मिलकर रातभर मे खेत को सींच डाला। विपत्ति के मारे दोनो के हृदय एक दूसरे के प्रति सहानुभूति से भरकर निकट खिंच आये और अनजाने ही एक अटूट स्नेह-बन्धन में बँध गये।

दूसरे दिन गाँव मे पुलिस की सरगर्मी रही और हत्या करने के सन्देह में पुलिस चौधरी के पुत्र सुरेन्द्र को पकड़ ले गयी। भगवाना फिर भी अपनी छाया से ही डरता फिरा। उसने हत्या की है इसकी चेतना उसके मन-प्राण मे रह-रह कर बोल उठती। उधर भेड़िये से हरखू की रक्षा करने मे स्वयं घायल होकर सोना भेड़िये की माँद के पास झाड़ी में अचेत पड़ी थी, और जब भगवाना उसे काफी दिन चढ़े कन्धे पर डाल कर घर लाया तो उस समय सोना की वीरता और उसके साहस की कहानी के आगे वीरेन्द्र की मृत्यु और सुरेन्द्र की गिरफ्तारी की घटना गौण पड गयी, राजा साहब ने भी दोनो को बुला भेजा और सोना को एक कोठरी देकर नर्स से उसकी मरहम-पट्टी कराने का प्रबन्ध करा दिया। और जब भगवाना कुं० रामपाल सिंह की नौकरी में शहर जाने लगा तो उससे सोना ने पहली बार निवेदन किया, कहा, "मेरे लिए चूड़ियाँ लेते आना, मैं तुम्हारी चूड़ियाँ पहनूँगी।" परन्तु भगवाना नगर से वापस नहीं लौटा, क्योकि वह हत्यारा है, इस भावना से अपने को मुक्त नही कर पाया। चौधरी ने गाँव में अपने हथकण्डे ऐसे फैलाये थे कि औरो की जान बचाने के लिए बूढ़े चमार भगत जी ने अपने को हत्यारा घोषित करके पुलिस के हाथो सौंप दिया था। भगवाना इस निर्दोष महात्मा को फाँसी के तख्ते पर झूलते नही देख सकता था—उसने अपना कसूर कबूल कर लिया।

जब सोना और भगवाना का यह प्रसंग चल रहा था, कुँवर रामपाल सिंह बीमार पड़े थे और उनकी परिचर्या के लिए नगर से आयी नर्स मिसेज़ दासूबेन धीरे-धीरे कुँवर की ओर आकर्षित होती जा रही थी। कुँ० भी उसकी ओर आकर्षित हुए, और यद्यपि दोनो मे जाति-भेद था, कुँवर ने उनसे शादी का प्रस्ताव किया और दोनों की शादी भी हो गई। इसी समय भगत जी ने दासूबेन को देखा और दोनो ने एक दूसरे को पहचाना। दासूबेन भगत जी की बेटी ममता थी जो बचपन में खो गई थी और एक पादरी की कृपा से शिक्षा-प्राप्त करके नर्स बनी थी। परन्तु न राजा साहब भगत जी को अपना समधी मान सकते थे, न भगत जी ही राजा साहब को अपना दामाद। 'नही मालिक, यह मेरी बेटी नही है' कहकर बेचारे भगतजी वहाँ से खिसक गये।

इस प्रकार तिवारी जी का 'सोना और नर्स' एक रोचक और पठनीय उपन्यास है। शैली एक ऊँचा साहित्यिक धरातल पाने की सतत् चेष्टा करती दीखती है और कहीं-कहीं अभिव्यक्ति वास्तव में बड़ी चुभती और तीव्र है।

—अगस्त १९४७

३१
पर्दे के पीछे

'पर्दे के पीछे' पडित उदयशकर भट्ट के आठ नये एकाकियो का सग्रह है। एक बार मे ही हिन्दी के इतने एकाकियो को एक साथ पढ़ जाने का यह अनुभव कुछ नया है। पहले एकांकी 'नई बात' की चौहद्दी पार करना ही कठिन लगा, क्योकि उसमे मनोवैज्ञानिको के शब्दो मे 'विश्फुल थिन्किंग' का कुछ ऐसा मोहाविष्ट वातावरण दिखाई दिया कि किसी पात्र का वास्तविक चरित्र उभरकर सामने आना असभव हो गया। किन्तु 'नई बात' की सीमा पार करके जैसे ही आगे बढ़ा तो वहाँ का अकृत्रिम खुला वातावरण, वास्तविक समस्याओ और उनसे उत्पन्न बाह्य और आन्तरिक जीवन के वास्तविक वैषम्य, सघर्ष और नैतिक वेदन के निर्भ्रान्त चित्र देखकर मन की गति कुछ ऐसी हुई कि फिर बीच में कही रुकना न हुआ। लेखक की असावधानी से घुस आई एक-दो मामूली टेकनीक की भूलो को छोडकर मार्ग में रस-विपर्य्यय करनेवाला कोई अवरोध नही मिला। एक के बाद दूसरे नये सजीव पात्र, उत्तर-स्वतन्त्रताकालीन भारतीय जीवन से लिये गये नये-नये विषय और नये-नये नैतिक प्रश्न मिलते गये, जिनको लेकर लेखक ने सहज और मार्मिक नाटकीय सघर्ष की सृष्टि की है। ऐसा प्रशस्त पथ पाकर मैंने एक बैठक मे ही इन आठ एकाकियो और १७८ पृष्ठो का बृहद् क्षेत्र नाप डाला। रस मे डूबकर आदमी कितनी दूर तक अश्लथ और अविराम बहा चला जा सकता है, इस सुखद आनन्द से वर्तमान हिन्दी-साहित्य की रचनाओ के पाठक बहुधा वचित रह जाते है। भट्ट जी के इन एकाकियो की यह सफलता क्या कम उल्लेखनीय है ?

भट्ट जी की कला इन एकांकियो में आकर कैसी प्रस्फुटित हुई है—जैसे अपना सहज आधार पा गई हो—इसका विवरण इन एकाकियो की टेकनीक और रूप-रचना का विवेचन करके ही देना पर्याप्त न होगा। और फिर टेकनीक और रूप-विन्यास की दृष्टि से केवल इतना कह देना ही क्या यथेष्ट नही है कि इन एकाकियो की भाषा सहज और सरल है, संभाषण सक्षिप्त, कही-कहीं चुटीले और स्वाभाविक है, घटनाओ और कार्यों की सयोजना यद्यपि उतनी सश्लिष्ट तो नही जैसी रवीन्द्र, शरत् या गोर्की के नाटको में होती है, और न उतनी एकागी और परिसीमित ही है जैसी आजकल के बहुतेरे एकाकियो में मिलती है, जो व्यर्थ की ऊहापोह और वाग्जाल से भाराक्रान्त होते है, किन्तु फिर भी यह सुसगत, सुसम्बद्ध और चरम सीमा की ओर

सहज प्रवहमान है, तथा स्थान-काल-कार्य—इस सकलनत्रयी एकता का भी उनमें निर्वाह ऐसी अकृत्रिम अक्षुण्णता से हुआ है कि इनमे से किसी एकांकी के सफल अभिनय में विशेष कठिनाई नही हो सकती। कम-से-कम इतने शिल्प-कौशल और रंग-मंच तथा नाट्य-रचना की टेकनीक की अभिज्ञता की तो किसी भी नाटककार से अपेक्षा की जाती है, और भट्ट जी के एकाकियो मे यह कौशल यदि साधारणतया पाया जाता है तो इसमे विशेष विवेचनीय क्या है, और आलोचक की छिद्रान्वेषी दृष्टि डालकर यहाँ-वहाँ टेकनीक की त्रुटियो को इगित करने मे सार्थकता ही कौन-सी है ?

विशेष विवेचनीय है इन एकाकियो की विषय और विचार-वस्तु की सयोजना, जिसके द्वारा भट्ट जी ने आधुनिक जीवन की अनेक मार्मिक झाँकियाँ प्रस्तुत की है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन मे कुछेक ऐसे परिवर्तन हुए है और तेजी से होते जा रहे है, पूँजीवादी शोषण और व्यक्तिवादी स्वार्थपरता के चक्र मे फँसे जन-समाज की यातनाएँ इतनी दुर्निवार बनती जा रही है कि कोई भी सवेदनशील लेखक अनायास ही नैतिक प्रश्नो को उठाये बिना नही रह सकता। अधे स्वार्थ की आँधी अन्य मनुष्यो की पीडा-वेदना का विचार न करके जिस उद्दाम वेग से जीवन के हर क्षेत्र मे मानवीय सहानुभूति, सौहार्द्र और स्नेह-सम्बन्धो के पेड-पोधो को उखाडती-पछाडती और मनुष्य के पारस्परिक विनिमय के लिए केवल क्रूर अर्थ-सम्बन्धो की रेत बिछाती हुई बहने लगी है, इसके अनेक दुखदायी प्रसगो को नाटकीय रूप देकर भट्ट जी ने साहसपूर्वक वर्तमान बुर्जुआ समाज और उसकी व्यक्ति-केन्द्रित नैतिकता को दर्पण दिखाना चाहा है। सच तो यह है कि इन प्रसगो में 'पर्दे के पीछे' आज कुछ भी घटित नही हो रहा। स्वार्थ का ताण्डव पर्दे के आगे चल रहा है, किन्तु जो सबके लिए गोचर है, जिससे सब पीड़ित है, वही कानून की निगाहो से अगोचर है, मानो 'पर्दे के पीछे' है। इस सग्रह के नाम की यही सार्थकता है। अस्तु ये एकाकी 'एक्सपोजर लिटरेचर' के अन्तर्गत ही आते है, अर्थात् इनमे वर्तमान समाज की सच्ची और क्रूर वास्तविकता को उघाड़कर रखा गया है। इसीलिए उनकी कला का अन्त.स्वर और उनमें व्यक्त क्षोभ और वेदना नैतिक है।

आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि इस सग्रह के पहले एकाकी 'नई बात' की चौहद्दी पार करना हमें कठिन लगा, क्योकि उसमें वास्तविक चित्र पर अपनी ओर से जो 'वाछित' है का आरोप कर देने से एकांकी का आन्तरिक सामजस्य विच्छिन्न हो गया है। कथा इस प्रकार है कि किशोरीलाल एक बड़े सरकारी अफ़सर है, बिल्कुल अंग्रेजी अमलदारी के ज़माने के आई० सी० एस० के नौकरशाही साँचे में ढले हुए। उनकी दृष्टि में किसी मनुष्य का सामाजिक महत्त्व-मूल्य कूतने की एक ही कसौटी है—सरकारी पद और वेतन। उनकी 'ऐश्वर्य-विलासमयी' पत्नी सुनन्दा का विचार भी

इससे भिन्न नही है, बल्कि अपने से नीचे के वर्ग के मनुष्यो को मनुष्य न गिनने का उनका अहंकार और भी दुर्विनीत है। ऐसे दम्पति के निकट कवि-कलाकार की जाति हो आवारों, लफंगो और निकम्मों की जाति है। 'इन्डियन पीनल कोड' के सर्वदर्शी अंग्रेज-प्रणेता 'जरायमपेशा जातियों' के खाने मे इस निकम्मे वर्ग को रखने से कैसे चूक गये, उनके लिए हैरानी की बस यही बात है। तो ऐसे ही एक अभागे कवि विश्वभूषण की पत्नी कुन्तल दैवयोग से सुनन्दा की सखी, मायके की पडोसिन और सहपाठिन निकल आई। कभी विश्वभूषण के कविता-पाठ से मोहान्ध होकर उसने उनसे अपना विवाह करवा लिया था, लेकिन नाटक में तो वह हमें अपने निर्धन पति और उजडी गृहस्थी का रोना लेकर सुनन्दा के पास किशोरीलाल के दफ्तर में भूषण के लिए नौकरी की व्यवस्था कराने के हेतु एक याचक के रूप मे उपस्थित मिलती है। सुनन्दा जब अपने सासारिक ऐश्वर्य के उच्चासन से भूषण के प्रति अपनी भर्त्सना और कुन्तल के प्रति अपनी करुणा-दया का प्रदर्शन करने में व्यस्त होती है कि उसके पति किशोरीलाल एक दूसरे उच्चाधिकारी अफ़सर रघुवश के साथ दफ्तर से लौटते है। कुन्तल का परिचय मिलते ही दोनो मित्रो मे कवि की सामाजिक उपयोगिता-अनुपयोगिता को लेकर बहस चल पड़ती है क्योकि रघुवश का विचार किशोरीलाल से नही मिलता। इतने में कुन्तल अपने स्वाभिमानी पति विश्वभूषण को किसी बहाने बुला लाती है। उसके आते ही बहस का धरातल ऊँचा उठ जाता है। यह ठीक है कि भूषण के तर्क अधिक अर्थगर्भित और सगत है, उसकी आत्मसम्मान की धारणा भी अफ़सरी दम्भ से ऊँची है और उसकी उपेक्षा-दृष्टि के सामने पड़कर इन अधिकारियो का व्यक्तित्व केंचुए की तरह तिलमिलाकर सिकुड़ जाता है, किन्तु फिर भी इस जगह एक अस्वाभाविक घटना घटित होती है। तर्क से हृदय-परिवर्तन का कुछ ऐसा अकल्पनीय चमत्कार हो जाता है कि पाठक (दर्शक) जब तक कोई आन्तरिक संगति मन में बैठा भी नहीं पाता कि किशोरीलाल और सुनन्दा दोनो ही समाज मे कवि की सर्वोच्च महत्ता स्वीकार कर लेते है। बस चतुर्दिक से कवि का स्तुतिगान ऐसे समताल पर शुरू हो जाता है कि एक दिग्भ्रान्त, व्यक्तित्वहीन मिसेज चोपड़ा को छोड़कर सभी के व्यक्तित्व उसमे घुल-मिल कर एकाकार हो जाते है! अपने नये उच्छ्वास के वशीभूत सुनन्दा ऐसे महान् समाजोपयोगी प्राणी को आर्थिक चिन्ताओ से मुक्ति दिलाने के लिए नोटो की एक विपुल गड्डी लाकर भूषण को भेट कर देती है। भूषण उसे लेकर बाहर नौकर-चाकरो मे नोट बाँटता हुआ चला जाता है! थोड़ी-सी बहस के उपरान्त किशोरीलाल, सुनन्दा, रघुवंश, कुन्तल आदि इन रुपयो के ऐसे सदुपयोग की कल्पना कर-करके गद्गद् और आत्म-विभोर हो उठते है और बाहर से आनेवाले कवि के जयकारों के साथ पटाक्षेप हो जाता है! है न आश्चर्यजनक!

हृदय-परिवर्तन कोई असम्भव क्रिया नहीं है, आकस्मिक न होता हो, सो बात भी नहीं ! लेकिन न जीवन में और न कला में, यह क्रिया केवल तर्क से ही निष्पन्न नहीं हो पाती। बिना किसी मार्मिक घटना का आघात पाये बद्धमूल सस्कार अपनी जड़ता त्यागकर हृदय में न किसी नये सत्य की रोशनी ही घुसने देते है और न व्यवहार-आचार की गति-दिशा को ही बदलने देते। इसीलिए कला में जीवन-सत्य अपनी चरम सभावनाओ के साथ ही प्रकट हो पाता है, अर्थात् निर्दिष्ट परिस्थिति में पडकर कोई व्यक्ति 'क्या है', 'क्या कुछ करता है', ही नही बल्कि 'क्या हो सकता है' और 'क्या कुछ कर सकता है' को रूपायित करना तो कला का विषय, साधन और साध्य है, परन्तु उसे 'क्या होना चाहिए' या 'क्या करना चाहिए' यह दिखलाना कला का उद्देश्य नही। यह कार्य कोरे उपदेशक, व्यवस्थापक और नीतिज्ञ का है। कला में ऐसा करते ही 'सम्भावना' के तत्त्व की आन्तरिक अनिवार्यता का व्यतिक्रम करके बहुधा पिष्ट-पेषण का आश्रय लेने की जरूरत पड़ जाती है, और कला की मूर्त्तता का विलय हो जाता है। सत्य पर 'वाछा' का आच्छादन किसी को भला लगे, लेकिन उससे सत्य का सूर्य ही यदि राहु-ग्रसित हो जाय, तो फिर प्रकट क्या दीखेगा, यह चिन्ता का विषय है !

इस प्रसग को अधिक तूल न देकर आगे बढे। देखता हूँ कि आलोचना करते समय भी 'नई बात' की सीमा पार करके आगे बढ़ना सहज नही हुआ। लेकिन अगले एकाकियो को पढते समय रवि-शरत् की कृतियाँ यदि मन की पृष्ठभूमि में रहे तो यह भेद स्पष्ट होने में आसानी होगी कि वर्तमान लेखक की विशेषताएँ कितनी दारुण है। तब स्वतन्त्रता नही थी, स्वतन्त्रता का सघर्ष था। उसके मार्मिक चित्र खीचे रवि, शरत् और एक सीमा तक प्रेमचन्द ने। जर्जर सामन्ती समाज की ह्रास-लीला के साथ जो चित्र उभरे वे उतने नये पूंजीवादी समाज-सम्बन्धो और नैतिकता के नहीं, बल्कि राष्ट्रीय आजादी के सग्राम की एकता का शिलान्यास करनेवाली साधना, त्याग और पर-दुख-कातर ममता के थे। उदाहरण के लिए शरत् की कृतियो मे रूढ़िबद्ध संस्कारो पर जितनी गहरी चोट है, उतनी ही पारस्परिक सम्बन्धों के मानवीय रूप की गरिमा भी है। उनके निकट, इसीलिए, 'प्रेम' ही मनुष्य के समस्त कार्यों और सम्बन्धो की कसौटी बन गया। इस कसौटी पर खरी न उतरनेवाली कोई भी पुनीत-से-पुनीत समझी जानेवाली धर्म-नीति, प्रभुता की व्यवस्था या रूढ़ि-संस्कारगत भावना न्याय्य और मान्य न रही। प्रेम में ही भारत के जागरण, पुनरुज्जीवन, मुक्ति और प्रगति की समस्त आकांक्षाएँ-साधनाएँ समाहित हो गई ! वह उनका मूल मंत्र और 'वार-क्राई' (युद्ध का नारा) बना और इसके अगणित और अविस्मरणीय कलात्मक चित्र अंकित किये उन्होने भारतीय जीवन के प्रत्येक वर्ग और कार्य-क्षेत्र से। पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु,

पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, ननद-भावज, देवर-भौजाई, दासी-गृहस्वामिनी, विधवा-सुहागिनी—मनुष्य-मनुष्य के साथ समाज के भीतर जितने भी प्रकार से परस्पर सम्बन्धित होते है, उनके भीतर मुक्ति, सहयोग और जीवन के प्रतीक 'प्रेम' के सत्य की प्रतिष्ठा करके वे मनुष्य-जीवन की आन्तरिक गरिमा का उद्घाटन कर सके, ऐसे सजीव और सम्पूर्ण मानव-चरित्रो की सृष्टि कर सके जिनके कार्य-कलापो के परोक्ष में युग का सम्पूर्ण योतिहासिक आलोड़न—नये पुराने, ज्ञान अज्ञान, सत्य असत्य और ह्रास और विकास की शक्तियों का विराट् सघर्ष उद्भासित हो उठा। किन्तु आज प्रेम का वह सम्बल जैसे लेखक के हाथ से छूट गया है, वह मत्र विस्मृत हो गया है जो सत्य की उपलब्धि तक ले जाने का सहारा था। इतना ही क्यो, सब कुछ उलट-पलट गया—प्रेम की साधना नही, प्रेम को मुँह बिचकाना ही लक्ष्य बनता जाता है। मनुष्य के नैतिक (सामाजिक) बोध को जगाना नही बल्कि उसकी निगूढ़ 'पाशविक' (अनैतिक, असामाजिक, आत्मकेन्द्रित) वृत्तियो को जगाना फैशन बन गया है। स्वतन्त्रता का संघर्ष नहीं रहा, अब पाई हुई स्वतन्त्रता का दूसरो की अपेक्षा अधिकाधिक भोग करने के लिए उच्च वर्गों में खींचातानी मची हुई है। गन्तव्य स्थान अभी दूर है, रुककर इस पर विचार करने का धैर्य किसे है ? जिन्हे इसकी चेतना है, वे अशक्त है और स्वयं अपनी ही बुर्जुआ दुर्बलताओ से आक्रान्त हैं। राजनीतिक दृष्टि से हम आगे बढे है, किन्तु नैतिक दृष्टि से क्वचित अधोमुखी होकर रसातल की ओर बढ रहे है। विदेशियो की नोचखसोट के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए जनता को उद्बुद्ध करने मे और स्वय नोचखसोट में हिस्सा लेकर दमन-चक्र से उद्बुद्ध जनता का मुँह बन्द करने में भारी नैतिक अन्तर है, इसे दलील देकर समझाने की जरूरत नहीं है। सो अब प्रचलित नैतिकता का रूप राष्ट्रीय या भारतीय न रहकर शुद्ध पूँजीवादी (बुर्जुआ) हो गया है। अर्थ ही इसकी निर्मम कसौटी है। मनुष्य या मनुष्यता नाम की वस्तु का इसमें अस्तित्व नही है। इस बात को लोग अभी खुलकर कबूल नहीं करना चाहते। इस युग के सवेदनशील लेखक अपने समग्र राष्ट्रीय जीवन मे व्याप्त इस अधोगति के ही निरुपाय द्रष्टा है। इसके विपरीत ऐसे भी लेखक है जिनके हृदय का सुर इसकी विषम ताल पर ही सम बैठता है। वे इस अर्थवृत्ति की व्यक्तिकेन्द्रित बर्बरता को ही मनुष्य का एकान्त सत्य मान चुके है। वे 'जो है सो ऐसा ही है' के नीरस, कलाहीन चित्रण में व्यस्त है, भले ही वह चित्र उनके बहिर्जीवन का हो या अन्तर्जीवन का। किन्तु जिनका अन्तःकरण अभी जन-समाज के दु.ख-दर्द के प्रति संवेदनशील है, वे चाहे रवि-शरत् की तरह प्रचलित नैतिक मूल्यो की जर्जरता सिद्ध करके साहित्य और उसके द्वारा समाज-जीवन में अधिक मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा न कर पायें, लेकिन 'जो अब होने लगा है' की प्रणाली से प्रचलित नैतिक

मूल्यों की भयंकर गिरावट को उघाड़ने का साहस तो कर ही लेते है ! 'जो है सो ऐसा ही है' और 'जो अब होने लगा वह यह है' में तात्त्विक भेद है। एक में 'जो है' की खुली अनैतिक स्वीकृति है। दूसरे मे 'जो होने लगा है' की प्रच्छन्न किन्तु नैतिक अस्वीकृति और भर्त्सना है। एक मे अपने से बाहर के प्रति घोर असवेदना है और अवहेलना का भाव है, जो पाठक के मानवीय विवेक को कुंठित करता है तो दूसरे में समाज जीवन की समस्याओ के प्रति सचेतनता है, जो पाठक के विवेक को जगाती है और उसके अन्तःकरण मे इस अधोगति के प्रति ग्लानि और वेदना भर देती है। भट्ट जी के एकांकी इस दूसरी कोटि के है।

इस विवेचन के उपरान्त प्रस्तुत संग्रह के एकांकियो के मर्म तक सरलता से पहुँचा जा सकता है। भारतीय समाज मे माता-पिता के प्रति सन्तान का आदर-सम्मान, कर्तव्य-निष्ठा और श्रद्धा-भक्ति का भाव केवल सासारिक लाभ-हानि के हिसाब-किताब के आश्रित नही है। इसकी पुनीतता मनुष्य-मनुष्य के बीच के सबसे निकटतम सम्बन्ध के कारण है। परिवार के जीवन मे अधिकारो और दायित्वो की शृखला इस मार्ग ही पीढ़ी-दर पाढी आगे चलती जाती है। लेकिन बुर्ज़ुआ समाज की व्यक्तिवादिता अधिकारो का उपभोग तो करना चाहती है, पर दायित्वो को स्वीकार नही करना चाहती। भट्ट जी ने इस मनोवृत्ति का नाटकीय चित्र खीचा है 'बाबू जी' मे। बीमार और वयोवृद्ध 'बाबूजी' को, जिन्होने अपने परिश्रम की कमाई से अपने पुत्रो को पढ़ा-लिखाकर काम से लगाया और परिवार के लिए एक बड़ा-सा मकान बनवाया, पहले तो उनका बडा लड़का भोलानाथ अपने प्रिय कमरे से निकाल देता है जिसमें उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिन काटने चाहे थे, और फिर दूसरा, तीसरा और चौथा लड़का अपनी-अपनी नई गृहस्थियो को जमाने के लिए अधिक स्थान पाने की स्पर्धा में एक कमरे से दूसरे कमरे में, ऊपर से नीचे की मंजिल मे और अन्त में घर से बाहर ही खदेड़कर बाहर के आँगन मे नीम के नीचे उनकी खाट पहुँचा देते है ! अपनी इस अनुश्रुत पितृ-भक्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए भोलानाथ विज्ञान का आश्रय लेता है कि "नीम के पेड के नीचे रहना स्वास्थ्य के लिए बड़ा अच्छा है," लेकिन केदार को इतनी पर्दापोशी करने का भी व्यवहार-ज्ञान नहीं है, वह बाबूजी को श्मशान-घाट पहुँचाने की आसन्न समस्या का समाधान सोचता हुआ कहता है, "सब से बड़ा फायदा तो यह है कि उन्हे आगे ले जाने में अब ज्यादा सहूलियत होगी !" भारतीय अन्त.-करण के प्रतीक रामू और चुनिया, घर के नौकर, पिता-पुत्र सम्बन्ध की ऐसी अकृतज्ञ परिणति पर चुपचाप आँसू बहाते है।

सर्व-भक्षिणी अनैतिकता के जाल में फँसकर प्रेम-विवाह पर आधारित दाम्पत्य जीवन भी कैसा भयंकर दुःस्वप्न बन जा सकता है, इसकी क्रूर विकृति का नाटकीय

चित्रण हुआ है 'यह स्वतन्त्रता का युग !' में। बुर्जुआ समाज मे एक समुदाय की 'स्वतन्त्रता' अनियन्त्रित और निर्बन्ध होकर दूसरे की 'अ-स्वतन्त्रता' बन जाती है। 'नारी-स्वातन्त्र्य' का वांछित नारा उच्च वर्ग की नारी को एक अवाछित प्रकार का यौन-स्वातन्त्र्य प्रदान करके अपना ही उद्देश्य नष्ट कर लेता है। मुक्त नारी सामाजिक प्राणी नहीं, 'सोसायटी वोमन' (पूंजीवादी भद्र-समाज की महिला) बनने की कामना से उद्दीप्त हो उठती है ! अब रूप का व्यापार परिवार और समाज से बहिष्कृत होकर बाजारू ढंग से नहीं चलता, परिवार और समाज की छाती पर बैठकर और नारी-स्वातन्त्र्य के नाम पर अधिक मनोवैज्ञानिक छद्मरूपो में चलाया जाने लगा है। पर व्यापार तो व्यापार है, वहाँ प्रतियोगिता, विज्ञापन, मिलावट, धोखाधडी, भ्रष्टाचार सभी को खुल-खेलने को मौका है। इसलिए, इस कारोबार को चलाने के लिए नित्य नये-नये आकर्षक ढंगों और प्रणालियो का आविष्कार होता रहता है। ब्यूटी-कन्टेस्ट (सौन्दर्य-प्रतियोगिता) इसका सबसे नूतन आविष्कार है, जिसका प्रलोभन एक सुन्दर नारी के लिए तो अनन्त है—यह उच्च वर्गों द्वारा उसके सौन्दर्य की अनिद्यता की स्वीकृति का साधन है। इस प्रतियोगिता में जीतने पर किसी स्त्री को 'सोसायटी' की सीढ़ी पर ऊर्ध्वगमन करने से रोक सकने की शक्ति स्वयं विधाता में भी नही है। इस सफलता के लिए और किसी प्रकार की बौद्धिक-सांस्कृतिक उपलब्धि की भी जरूरत नही, केवल प्रकृति के दिये हुए रूप का विक्रय करके ही यश, धन और भोग की लिप्साएँ शान्त की जा सकती हैं। किसी सामाजिक बन्धन और दायित्व, पति-पुत्र के प्रति प्रेम-ममता आदि मानवी भावनाओ को हृदय में प्रश्रय देने की भी जरूरत नहीं है, क्योकि ये कोमल और पुनीत भावनाएँ बन्धन ही सिद्ध हो सकती है। बुर्जुआ समाज में 'नारी-स्वातन्त्र्य' का अभियान अब नारीत्व के इन बन्धनो को भी तोड़कर आगे बढ़ रहा है। प्रोफेसर जयन्त की पत्नी मीना का, भट्ट जी ने, ऐसी ही एक 'मुक्त' नारी के रूप मे चरित्र-चित्रण किया है, जो प्रेम की पवित्रता और अपने शिशु की मातृ-वत्सलता को ठुकराकर 'सोसायटी' की मरीचिका के पीछे अपना सर्वस्व लुटाकर दौड़ रही है। पहले तो वह अनेक प्रकार के छल-छद्मों का प्रयोग करती है, लेकिन जब असल बात जयन्त पर प्रकट हो जाती है कि उसके प्रेमियो में कई सेठ हैं, जो उसे रेस-कोर्स, सौन्दर्य-प्रतियोगिता आदि के अखाडों में उतारकर अपना मतलब गाँठ रहे है, तो वह (मीना) जयन्त के हृदय को अपने वाग्बाणो से छेदती हुई और अपने बीमार शिशु को उसके आसरे छोड़कर एक सेठ के साथ मंसूरी की सैर को चली जाती है। एक भरा-पूरा, सुखी परिवार विच्छिन्न हो जाता है, क्योकि परिवार की निबिड एकान्तता अर्थ की अनैतिकता के आक्रमण के आगे निमिष-मात्र को भी नहीं ठहर पाती। परिवार की इकाई चरमराकर टूट जाती है, और पाठक (दर्शक) के मन में

असीम वेदना और बुर्जुआ मनोवृत्ति के प्रति क्षोभ और ग्लानि की कटुता भर जाती है।

प्रेम का यहाँ अभिनय नहीं था, किन्तु जहाँ प्रेम का अभिनय है वहाँ भी स्वतन्त्रता के नाम पर दुरंगी नीति, मिथ्याचरण और धोखाधड़ी का ही चलन हो गया है। 'बार्गेन' (सौदा) मे भट्ट जी ने बुर्जुआ-प्रेम के अभिनय के पीछे छिपी यथार्थता को उद्घाटित किया है। उच्च वर्ग से एक स्तर नीचे, बुद्धिजीवियो में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की धर्म-ध्वजा फहराकर भारत की जनसंख्या की बढ़ती को रोकने के नाम पर अविवाहित रहने के सकल्प बनते है, किन्तु साथ ही गर्भ-निरोध की विधियों का प्रयोग करते हुए एक साथ ही अनेक स्त्रियों या पुरुषों से अनियन्त्रित प्रेमाभिनय तथा यौन-सम्बन्ध आदि भी चलते है। मूल-भावना यह है कि उच्छृखल प्रेम का आनन्द तो भरपूर मिले, लेकिन कोई दायित्व न उठाना पड़े, न जीवन की धारा में कहीं कोई ठहराव या पड़ाव हो। कहीं कोई बाधा-बन्धन न हो। 'बार्गेन' का नायक कैलाश ऐसा ही बुद्धिजीवी है—एक अंग्रेजी अखबार का सम्पादक। कुन्ती और सरोज से उसका प्रेम एक साथ ही चल रहा है। कुन्ती गर्भवती हो गई है, किन्तु सरोज ने अभी तक प्रेम की गली में पाँव ही रखा है। कैलाश यूँ तो विवाह का विरोधी है, लेकिन सरोज को जीतने के लिए वह उससें विवाह का प्रस्ताव करता है। कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती है कि कुन्ती को अपने गर्भ का पता चल जाता है, और वह भी कैलाश को विवाह करने के लिए विवश करती है। कैलाश डाक्टर की सहायता से गर्भपात कराने का प्रबन्ध करने की सलाह देता है, लेकिन इसी बीच कुन्ती की बात सरोज पर और सरोज की बात कुन्ती पर प्रकट हो जाती है और दोनो इस धोखेबाज़ और मक्कार कैलाश को अपने हृदय से धिक्कारती हुई चली जाती है, और कैलाश के बाप अपने 'साधु' पुत्र के विवाह की अन्यत्र व्यवस्था करने मे लग जाते है।

मूर्ख दुनिया की आँखो मे धूल झोकने का जो नया मजहब चल निकला है, उसका मूल-स्रोत कहाँ है, जहाँ से अनैतिकता का गन्दा नाला बहकर जीवन के हर क्षेत्र को कलुषित बना रहा है—इसका उद्घाटन भट्ट जी ने 'पर्दे के पीछे' मे किया है। यहाँ, जैसा हम पहले कह चुके है कि वस्तुतः पर्दे के पीछे कुछ नहीं हो रहा, स्वार्थ की दानव-लीला कानून की आँख मे धूल झोककर दिन-दहाडे अविराम जारी है। सेठ छीतरमल सजातीय सेठों की तरह 'इनकम टैक्स' वालो को धोखा देने के लिए अपनी 'बहियाँ' बदलवाता है, अखबारों में अपने दान-पुण्य की प्रशस्तियाँ छपवाने के लिए परिन्दों का अस्पताल खुलवाता है और काँग्रेसी नेताओं को चन्दे की भारी रकम देकर पुलिस और कानून की पकड़ से मुक्ति पा ग़रीबों का निर्ममता से शोषण करता है, चोर-बाज़ार चलाता है और न जाने क्या-क्या करता है, जिससे उसकी तिजोरी में दिन-दूनी-रात-चौगुनी धन-वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार भट्ट जी ने स्वतन्त्रता के

युग की बुर्जुआ नैतिकता के अनेक क्रूर पहलुओं को सफल नाटकीय अभिव्यक्ति देकर हिन्दी एकाकी-साहित्य में सामयिक जीवन के सत्य को मार्मिक रूप से उघाड़ कर रख दिया है।

इन एकाकियो के अतिरिक्त, किन्तु वर्तमान जीवन की एक और समस्या का चित्रण करता हुआ एकाकी 'मायोपिया' भी है, जिसमें उस रोग की झाँकी देखने को मिलती है जो मध्यवर्ग की बुद्धिजीवी स्त्रियो में तेजी से सक्रमण कर रहा है। यह रोग है 'स्पिन्स्टरहुड' का, अर्थात् व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए, समाज में नारी की पराधीनता से विद्रोह जताने के लिए आजीवन अविवाहित रहने का सकल्प करके जीवन बिताने का। यहाँ भी मूल मे दायित्वों से बचने की प्रवृत्ति है। और इससे भी अधिक इस विद्रोह के आडम्बर और उपक्रम के पीछे धनी पति पाने की लालसा भी है। जब इस कामना की पूर्ति नही होती तो विद्रोह की ध्वजा उठाकर अविवाहित जीवन व्यतीत करने का सकल्प ऊँचे स्वर से प्रचारित करना एक फैशन-सा बन गया है। 'मायोपिया' की नायिका प्रो० सुधी ऐसी ही स्त्री है। उसने तारक का प्रेम ठुकरा दिया, क्योकि उस समय वह साधारण व्यक्ति था, लेकिन जब पन्द्रह सौ रुपये मासिक की नौकरी पाकर उसने अनामा से विवाह कर लिया तो अपनी ही भूल पर सुधी का हृदय कचोट उठा और तब इस पीड़ा को दबाना पड़ा अपने अन्तर मे पुरुष-द्रोह की अग्नि को और भी भीषण रूप में प्रज्वलित करके। उधर जब सुधी की विद्यार्थिनी चन्द्रिका ने अपनी सेवा से केशव का हृदय जीत लिया तो उसकी ईर्षाग्नि भी भड़क उठी और यह अनुताप भी सुधी के हृदय को जलाने लगा कि उसका दूसरा प्रेमी भी हाथ से छूटा। किन्तु सब वृथा गया—सुधी का प्रेम-निवेदन, आत्मसमर्पण—केवल रह गया उसका बौद्धिक चक्र-जाल और पुरुष-द्रोह का हृदयानल। इस प्रकार के एकांगी, स्वार्थी और व्यक्तिवादी द्रोह की परिणति जीवन की ऐसी विशृंखलता में ही हो सकती है, इसका भाव काफी तीव्रता से पाठक (दर्शक) पर प्रकट हो जाता है।

अन्त में 'ग्रह-दशा' और 'अपनी-अपनी खाट पर'—इन दोनों प्रहसनो का उल्लेख करके इस विवेचन को समाप्त करना चाहिए। दोनो प्रहसन अपने-अपने ढग के निराले है, और हिन्दी एकांकी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'ग्रह-दशा' अत्यन्त मार्मिक प्रहसन है। गिरधारी और रमा को जैसे विधाता ने एक-दूसरे के लिए खूब उपयुक्त सोच-समझकर ही गढ़ा है। दोनो भुलक्कड स्वभाव के है, तनिक-सी बात पर क्रोध का पारा सातवें आसमान पर चढ जाता है। फिर कुछ आगा-पीछा नहीं सूझता। सारा व्यवहार-ज्ञान न जाने कहाँ छू-मन्तर हो जाता है। आवेश मे आकर वे अपना ही अहित कर डालते है। लेकिन तभी होश आता है और अनुताप से इतने विह्वल हो जाते है कि क्रोध में जितना भयंकर अपमान कर सकते है;

सुस्थिर होने पर उतनी ही दयनीय अनुनय-विनय भी। ऐसे दम्पति को व्याहनी है अपनी लडकी जो अब सयानी हो गई है। घर में भूँजी भाँग नही है, उस पर माता-पिता के व्यवहार-कौशल की यह अवस्था! जहाँ बात चलाते है, पक्की होते न होते अपनी ही किसी अकथ्य बात से टूट जाती है। बस ऐसे हीं दो पात्रों का बड़ा सजीव और स्वाभाविक चित्रण इस नाटक में हुआ है।

'अपनी-अपनी खाट पर' मे वस्तुतः दो ही पात्र है—उमाकान्त और रमाकान्त। उमाकान्त की पत्नी भी आती है, लेकिन उसकी भूमिका गौण है, केवल जो बात कह जाती है, उससे इन दोनो मित्रों के विचार-प्रवाह को एक नई गति और दिशा मिल जाती है, जिससे नाटकीय चरम-सीमा तक सहज पहुँचने मे योग मिलता है। दोनो मित्र भाँग छानकर अपनी-अपनी खाट पर नशे में चूर पड़े है, और दोनो का विचार-प्रवाह विवेक और चेतना का बन्धन तोड़कर उच्छृंखल गति से जगत और जीवन की हर वस्तु पर टीका-टिप्पणी के छीटे उडाता आगे बह चला है। इसमे कही पूर्व-विचारित हास-परिहास या व्यंग-विनोद नही है, लेकिन चेतना के बन्धन ढीले होने पर विचार-पट पर आई हुई हर वस्तु के विकृत चित्रों के टुकड़ो को जोड़-सँजोकर जो सहज हास का उद्रेक करनेवाला एक सम्पूर्ण चित्र बनाया जा सकता है, वही भट्ट जी ने किया है, और खूब किया है। यूँ तो लगता है कि दोनो मित्र भाँग की झोंक में अनर्गल बक रहे है, लेकिन उनकी बातें बे-सिर-पैर की ही नही है, उनके भीतर आजकल के अनेक साहित्यिक प्रवादो और फैशनों की व्यंगपूर्ण आलोचना है। कुल मिलाकर पढ़ने में जो आनन्द आता है, वह पढ़कर या स्टेज पर देखकर ही जाना जा सकता है।

वर्तमान युग के जीवन-सत्य को मूर्त्त कलात्मक अभिव्यक्ति देने की समस्या आज कठिनतर होती जा रही है। भट्ट जी इन एकाकियो में इस समस्या का पूर्ण कलात्मक समाधान पा ही चुके हो, ऐसा नही कह सकता, लेकिन ठीक दिशा मे उन्होने सफल प्रयोग किये है, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

—अक्तूबर १९५३

३२
निशानियाँ

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के संग्रह की अन्तिम कहानी का नाम 'निशानियाँ' है, परन्तु वह इस सग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी नहीं है। कदाचित् लेखक को यह अभीष्ट भी नहीं था, अन्यथा 'चट्टान', 'नज्जिया', 'नासूर', 'चित्रकार की मौत' या 'पहेली' इन पाँच नामों में से उसे निर्वाचन करना पड़ता और तब सभवतः लेखक संग्रह के नाममात्र से यह प्रकट न कर पाता कि उसके जीवन के दुर्गम मार्गो से प्रवाहित होकर प्रेम का निर्झर अपने पथ में जिन चित्रमय, कोमल-कटु, सुखद-दुखद स्मृतियो के चिन्ह छोड़ गया है, वे इन कहानियो में अकित है। इस दृष्टि से सग्रह का 'निशानियाँ' नाम ही सार्थक है।

विश्व की किसी भी भाषा के कथा-साहित्य मे प्रेमाख्यानो की कमी नही है। यहाँ तक कि सभ्य-असभ्य जातियो की अलिखित लोक-कथाएँ भी राजकुमार-राजकुमारियो, परीदेश की शाहज़ादियो या यथार्थ-जीवन के आदर्श-प्रेमियो के सफल-असफल, सुखान्त-दुखान्त आख्यानो का अक्षय भडार है। आदिकाल से स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण-विकर्षण की समस्या को अगणित ज्ञात-अज्ञात लेखको और कलाकारो ने काव्य, कथा या कला के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न किया है। उन्होने प्रत्येक युग और काल में सभ्यता और सस्कृति के नये नये नैतिक मानो के अनुकूल या प्रतिकूल, कठोर सामाजिक प्रतिबन्धो में जकड़े या भावना की जटिल, दुरूह गुत्थियों में उलझे प्रेमियो को प्रेम के उद्वेलित, चिर-विदग्ध, अथ-सागर मे निरुपाय और निस्सहाय छोड़कर उनके अदम्य साहस, अगाध अनुराग और अमर आकाक्षा के ज्वलन्त आदर्श स्थापित करने चाहे है। प्रेम के ऐसे आदर्श जो प्रत्येक प्रेमी-प्रेमिका के हृदय मे साहस, अनुराग और जीवनाकाक्षा की अकलुष, अमद ज्योति जगाते है, उनके व्यवहार, उनकी मनुहार और उनके साधारण कार्य-कलाप, वाणी और भगिमा को एक निसर्ग स्निग्धता, मधुरता और हार्दिकता से प्लावित कर देते है। और इस सम्बन्ध को और अधिकाधिक संस्कृत, मानवीय और सुमधुर बनाने के लिए प्रेमियो को प्रेरणा देते है।

'अश्क' की प्रेम-कहानियाँ भी इतनी गहरी सवेदनीयता, मर्मस्पर्शी हार्दिकता और सघन मानवीयता से ओतप्रोत है। इसी कारण 'माया' और 'रसीली कहानियाँ' जैसी कहानी-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने वाली कहानियो की तरह, उनकी कहानियाँ

लोक-प्रिय ढंग की प्रेम-कहानियाँ नहीं हैं। उतनी सस्ती भावुकता, परिस्थितियों और घटनाओं की वैसी चुस्त कलाबाज़ी कि पाठक हैरान रह जाय या उछल पड़े, ऐसा कुछ उनमें नही है। जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल की तरह 'अश्क' की कहानियाँ भी 'लोक-प्रिय' ढंग की न होकर 'साहित्यिक' ही होती हैं। परन्तु अश्क की कला और शैली की एक विशेषता है जो अन्यत्र कम मिलती है—वह है भाव और भाषा का असीम सयम। जीवन की विषम-से-विषम परिस्थितियो का, जिनमे पड़कर लगता है सारे सुखद स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गये हैं और निस्सीम अंधकार निगलने को बढ़ा चला आ रहा है, 'अश्क' जिस धैर्य और सयम और गहरी मानवीय सहानुभूति के साथ चित्रण करते है, वह साधारण लेखक की क्षमता के बाहर की बात है। बहुधा कथा में ऐसी परिस्थितियो की सृष्टि करते ही अन्य लेखकों के पाँव उखड़ जाते है, भावनाओ के उद्रेक मे वे इतना अधिक बहने लगते है कि पाठक पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। पाठक उनकी अधीरता और कातरता से क्षुब्ध हो उठता है। परन्तु कलाकार 'अश्क' का प्रौढ़ मानस परिस्थितियों की थपेड खाकर कातर और भावुक नहीं बनता और न अपने व्यक्तित्व को ही खो बैठता है। किसी भी लेखक के बारे मे इतना कह देना, सभवत: बहुत बड़ी बात कह देना है। परन्तु 'अश्क' की कहानियो के बारे में इतना भी न कहना, मेरे विचार से, उनके सही मूल्य को न समझना है।

'अश्क' की कला की एक और विशेषता है जो इन कहानियो मे विशेष रूप से उभरकर सामने आई है। उनमें कथोपकथन विशेष नहीं है, घटनाएँ भी बहुत तेज़ी से नही बदलती, परन्तु भरे-पूरे दर्शनीय वातावरण में वेष्टित करके वे जिस भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक अनुभव का चित्रण करते है, वह अत्यन्त सजीव हो उठता है। जिन सूक्ष्म और कोमल प्रभावो को संयोजित करते हुए वे पात्रो के चरित्र की आन्तरिक गठन को प्रकाश में लाते जाते है तथा साथ ही परिस्थितियों की क्रूरता और विषमता का सघन और मर्मस्पर्शी अनुभव पाठक को कराते जाते है और जब ये सारे प्रभाव कथा के अन्त में एक केन्द्र-बिन्दु पर एकाग्र हो जाते है तब किसी साधारण-सी घटना, वाक्य या भंगिमा से टकराकर सारी कथा को, पात्रो के सम्पूर्ण चरित्र को, परिस्थिति की समस्त क्रूरता को विद्युत-प्रकाश से आलोकित करके पाठक को निर्भयता से झकझोर देते है। निश्चय ही 'अश्क' की कहानियो में कठोर जीवन-सत्य और कला का गुफन इतना संतुलित और सामञ्जस्यपूर्ण हुआ है कि पाठक को कहीं विरसता का अनुभव नहीं होता।

उदाहरण के लिए 'चट्टान', 'नज्जिया', 'चित्रकार की मौत' और 'पहेली'—इन कहानियो को लीजिए। इस संग्रह की ये श्रेष्ठ कहानियाँ है।

भारत में समाज-सेवा और प्रेम में मौलिक विरोध समझा जाता है, मानो

दोनों परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ हों। इसलिए समाज-सेवक को अपने जीवनादर्श के अनुकूल व्यवहार करने के लिए अपनी स्वाभाविक काम-वृत्तियो का दमन करके ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का जीवन स्वीकार करना पड़ता है। 'चट्टान' की यही समस्या है। इस कहानी का नायक शंकर जो समाज की असमताओ के कटु अनुभव से कामिनी-कंचन की आकांक्षा त्याग करके मन से विरागी बन गया, एक अत्यन्त उदार और त्यागी समाज सेवक मास्टर जी को देश से अविद्या दूर करने के महत्कार्य में सहयोग देने लगता है और उनके उपदेशो पर अक्षरशः चलकर वासनाओ पर काबू पाने के लिए अपने मन और हृदय को चट्टान बना लेना चाहता है। परन्तु मास्टर जी की पत्नी, जो अपने पति की त्याग-भावना के कारण उनके प्रेम और अनुराग से वंचित हो गई है, निरीह शंकर को पाकर अपने निश्छल, स्नेहपूर्ण और उन्मुक्त व्यवहार से उसके मन मे उथल-पुथल मचा देती है और शंकर को लगता है कि उसका समस्त संयम, उसकी समस्त साधना का बाँध टूटने ही वाला है। दौड़कर वह मास्टर जी के उपदेशो की शरण मे जाता है, पुनः अपनी कामनाओ पर अधिकार पाने के संकल्प को दृढ करता है। परन्तु पाठक के मन मे एक सन्देह, एक प्रश्न जगा जाता है—जीवन की स्वाभाविक माँग के सामने यह संकल्प कब तक अडिग बना रहेगा ? समाज-सेवी बनने के लिए निर्मम होकर अपने हृदय को चट्टान बना लेना क्या अनिवार्य है ?

'नज्जिया' एक दूसरे ही जीवन-सत्य का उद्घाटन करती है। ईराक में जाकर हसरत नज्जिया नाम की एक नर्तकी से प्रेम करने लगता है। और वह भी अपने को हसरत के हाथो में सौंप देती है। परन्तु चलने के पहले जब हसरत नज्जिया से विवाह का प्रस्ताव करता है और अपने यहाँ की सामाजिक नैतिकता का विचार करके कहता है कि भारत जाकर वह कहेगा कि नज्जिया एक उच्च घराने की कुमारी है तो नज्जिया के स्वाभिमान को गहरी ठेस लगती है। दूसरे दिन उसे नज्जिया का पत्र मिलता है, "तुम्हारे हृदय मे भी एक ऊँचे घराने की युवती से विवाह करने की आकांक्षा है। एक नर्तकी के लिए वहाँ कोई स्थान नही; तुम भी मेरे रूप से प्रेम करते हो, कला से नहीं; इसलिए विदा !" और वह समाज के आगे हसरत की आत्म-भीरुता के सत्य को उघाड़ देती है कि मर्माहत हसरत को हृदय पर शिला रखकर वापस लौटना पड़ता है।

'नासूर' कहानी समाज के उस वैषम्य का चित्रण करती है जिसके कारण अदूरदर्शी माता-पिता अपने को नई रोशनी का सिद्ध करने के लिए लड़कियो को साहित्य, संगीत और चित्रकला की उच्च शिक्षा तो देते है, पर जब उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित होकर अपने चरम विकास के लिए अनुकूल जीवन-संगी की माँग करती है, तो वे उन्हे कल्पना-शून्य रागहीन धनकुबेरो और व्यापारियो के दामन से बाँध देते है, जिससे उनकी प्रतिभा का अंकुर सदैव के लिए मुरझा जाता है। नासूर की

सुरजीत एक ऐसी ही अभागी लड़की है जो कलाकार ईश्वर जी से पाँच वर्ष तक चित्रकला सीखकर एक लोहे के व्यापारी के हाथो मे सौप दी जाती है। ईश्वर जी अपना दिल मसोसकर रह जाता है और इस आघात से दोनों के दिलों में जो नासूर पैदा होता है वह अन्दर-बाहर दोनो ओर बढ़ता जाता है और दोनो की प्रतिभा को निर्जीव कर देता है।

'चित्रकार की मौत' कहानी प्रेम की सर्जन-शक्ति की चेतना जगाती है। जगत और लालचन्द दोनो राधारानी से प्रेम करते हैं। तीनो कालेज में सहपाठी है। जगत दरजे मे प्रथम रहता है, इसलिए राधारानी उस पर मुग्ध है। उससे प्रेम करती है। लालचन्द पढ़ाई मे चाहे जितना पिछड़ा हो पर उसकी अँगुलियो में गुण है। वह प्रतिभासम्पन्न कलाकार है। इसलिए वह निराश नहीं होता। कला की साधना से राधारानी को चमत्कृत कर देने के लिए वह कालेज छोड़ देता है और अपने स्टूडियो में रम जाता है। प्रेम का प्रतिदान पाने की एक क्षीण आशा ही उससे ऐसे महान् चित्र बनवा लेती है कि उसकी कला की धूम मच जाती है। राधारानी भी उससे कम प्रभावित नही होती, और इसी भय से कि लालचन्द के मुकाबले में विश्व-विद्यालय की प्रदर्शिनी में उसके चित्र ठहर न सकेगे, वह प्रदर्शिनी मे भाग नही लेती। उसमें भाग लालचन्द भी नही लेता, केवल राधारानी के नाम से अपना बनाया एक चित्र भेज देता है, और राधारानी को प्रथम पुरस्कार मिल जाता है। फिर भी राधारानी की शादी जगत से ही होती है और शादी के अवसर पर जब लालचन्द का बनाया उसका चित्र राधा को मिलता है और वह शादी के वेश मे ही जगत को लेकर स्टूडियो मे पहुँचती है तो उसे पता लगता है कि अपनी अमर कृतियो को आग में झोक कर लालचन्द कम्पार्टमेण्टल की तैयारी करने के लिए गाँव जा चुका है। प्रेम की जिस क्षीण आशा ने लालचन्द मे कला की सवेदना जगायी थी, राधारानी की शादी से वह आशा मर गयी और उसके साथ ही लालचन्द का कलाकार भी मर गया।

'पहेली' में, जो सभवतः प्रस्तुत संग्रह की सबसे अच्छी कहानी है, लेखक ने बड़ी क्रूर परिस्थिति का निर्माण करके एक नारी की मन.स्थिति का चित्रण किया है। फिल्म-अभिनेता रामदयाल और उसकी संगीतज्ञ पत्नी उर्मिला में परस्पर अगाध प्रेम था। रामदयाल ने 'नवयुग' के महिला-अंक में कहीं पढा कि "पति यदि नारी के शुद्ध प्रेम की अवहेलना करे, उसकी मुहब्बत को ठुकरा दे तो वह अपने प्रेम की तृषा बुझाने के लिए किसी दूसरी चीज़ को ढूँढ लेती है।" बस फिर क्या था, अभिनेता का विनोदी मन आगा-पीछा सोचे बिना ही इस कथन की सत्यता का प्रमाण पाने के लिए चचल हो गया और उसने अपनी पत्नी को ही इस क्रूर प्रयोग का साधन बनाया। वह उर्मिला के प्रति उदासीन रहने लगा। उसके प्रेम की उपेक्षा कर राते बाहर फिल्म-स्टूडियो में

ही गुजारने लगा। उन्ही दिनो सामने की कोठी मे कोई एकाकी कुमार अपने जीवन के एकान्त-क्षण बिताने के लिए आकर रहने लगा था। वह अपने अवसादपूर्ण, अरमान-भरे, करुण गानो से उर्मिला के स्नेह-वचित हृदय में नयी आकांक्षाएँ जगाने लगा। पति से ठुकराई गई उर्मिला कुमार से सहृदयता पाकर उसके लिए अधीर हो उठी और जब कुमार ने आकर एक दिन उर्मिला को अपने बाहुपाश में जकडकर उसे चूम लिया और उर्मिला उठकर भागने को हुई तभी कुमार ने अपनी नकली मूँछें उतारकर विजय के गर्व से कहा 'देखा, हमारा बहुरूप उर्म्मी !' तब कुमार के वेष मे रामदयाल को देखकर उर्मिला वहाँ एक क्षण को भी न टिक सकी। सीधी भागती हुई ऊपर पहुँची और कुछ देर के बाद चीख सुनकर जब रामदयाल ऊपर गया तो उसने उर्मिला को आग की लपटो में धू-धू जलते पाया। इस क्रूर प्रयोग की वीभत्सता और पुरुष-समाज की हृदयहीनता पर ऐसा तीखा व्यग कम देखने को मिलता है।

प्रस्तुत संग्रह मे 'अश्क' की वे प्रेम-कहानियाँ भी सग्रहीत है जो उन्होने अपने उठते यौवन के दिनो में लिखी थीं, जैसे 'अमर खोज', 'गारा', जादूगरनी', 'वह मेरी मगेतर थी', 'नरक का चुनाव', 'पुण्य का परिणाम', 'मरीचिका', 'बदरी' और 'निशानियां' आदि। इन कहानियो में कला और दृष्टिकोण की वह प्रौढता नही है जो उन कहानियो में है जिनका उल्लेख मैने विस्तार से किया है। फिर भी इनकी कला मे भी मार्जन और सुथरापन तो मिलता ही है और यथार्थ का, वस्तु-सत्य का सम्मिश्रण भी पर्याप्त है। एक कवि-की-सी भावुकता तो केवल दो-तीन छोटी गद्य-काव्य की शैली मे लिखी कहानियो में ही है, अन्यथा शैली गम्भीर और सयत है। पूरे सग्रह को दृष्टि में रखकर इतना कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हिन्दी के अन्य समकालीन सग्रहो में 'निशानियां' का विशिष्ट स्थान होगा।

—अगस्त १९४७

३३
दोआब

'दोआब' श्री शमशेरबहादुर सिह के आलोचनात्मक निबन्धो का सग्रह है।

साहित्य या कला के सिद्धान्तो पर हम-आप सभी एकमत हो सकते है, लेकिन किसी भी कलाकृति का जो प्रभाव मेरे मन पर पडता है, वही आपके मन पर भी पड़े, ऐसा नही होता, क्योकि प्रत्येक मनुष्य की रुचि को बनाने वाले सस्कार बिलकुल एक ही नहीं होते। देश-काल का भेद चाहे न हो, लेकिन असंख्य दूसरे सामाजिक-पारिवारिक प्रभाव भिन्न हो सकते है और प्रत्येक व्यक्ति की संवेदनशीलता मे कुछ-न-कुछ तो मात्रा-भेद होता ही है, जिससे एक ही लेखक या कलाकृति के बारे मे लोगो के अपने-अपने निर्णय होते है। परन्तु हाली के 'मुसद्दस', मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', सुमित्रानन्दन पन्त की 'पल्लविनी' और 'ग्राम्या'; नरेन्द्र शर्मा के गीत-सग्रह 'पलाश-वन'; बच्चन की 'तरगिनी'; पहाड़ी के कहानी-संग्रह 'सफर' और कृष्णचन्द्र के कहानी-सग्रह 'तिलिस्मे ख्याल' आदि पुस्तको और सुभद्राकुमारी चौहान और इक़बाल की कविता और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कहानियो के बारे में शमशेर बहादुर सिह ने अपने सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् इन निबन्धों मे जो मत प्रकट किये है, और उनका जो मूल्य आँका है, मुझे ऐसा लगता है कि जैसे लेखक ने मेरे दिल की ही बात निकालकर रख दी हो। सग्रह में ऐसे भी लेख है, जिनसे मै पूर्णतः सहमत नही हूँ, और उनका जिक्र मै आगे करूँगा।

लेकिन सबसे पहले शमशेरबहादुर सिह की शैली के बारे में कुछ कहना जरूरी है, क्योकि 'दोआब' पढकर यही नहीं लगता कि उसका लेखक एक पैनी दृष्टि रखने वाला रसज्ञ और मर्मज्ञ आलोचक है बल्कि यह भी पता चलता है कि वह एक सुन्दर शैलीकार भी है, क्योकि अक्सर विवेचन से अधिक उसकी शैली, पाठक पर गहरा प्रभाव डालती है। इस कारण नहीं कि लेखक उक्ति-चमत्कार, व्यंग्य या वक्रोक्ति का कृत्रिम-प्रयोग करके पाठक को लगातार चौकाता जाता है और उस पर कुछ नये ढंग से नयी बात कहने का रोब जमाता जाता है, चाहे बात में विचार-सामग्री रत्ती-भर न हो, जैसा कि अधिकांश प्रतीकवादी और प्रयोगवादी करते है। ऐसा आडम्बर 'दोआब' के लेखक की शैली में नही है, यद्यपि वह भी मूलतः एक प्रयोगवादी कवि ही है। 'दोआब' के लेखक की शैली की विशेषता यह है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मि ढग से कोमल प्रभावो द्वारा अपनी बात कहता है या विवेचन करता हैं। उसकी व्यंजना में

ओज, अतिशयोक्ति या भावुकता नही है, बल्कि रसज्ञता और भाव-प्रवणता है जिसके कारण प्रत्येक शब्द भाव-सिक्त और अनुभूति की गहराई से निकला हुआ लगता है, और उसके वक्तव्यों मे से व्यक्तिगत ईमानदारी झलकती है। किसी लेखक या उसकी कृति का अध्ययन पेश करते समय वह उसके जीवन या उसकी कृति के रचना-काल की उन समसामयिक परिस्थितियों का भी खाका पेश करता जाता है, जिन्होने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस लेखक के मन पर प्रभाव डाला है। इन परिस्थितियों का अंकन भी 'दोआब' का लेखक एक ऐसी सूक्ष्म अन्तर्भेदी समाज-चेतना और हार्दिकता से करता है कि पाठक को उसकी शैली मे एक अनूठापन ही नहीं बल्कि परिपूर्णता का अनुभव होता है। एक उदाहरण देना उचित होगा। राष्ट्रीय वसन्त की प्रथम कोकिला 'सुभद्राकुमारी चौहान' के विषय में 'दोआब' के लेखक का कहना है।

"(उनकी) कविताओ की वह भरी-पूरी जिन्दगी सन् उन्नीस-बीस और सन् तीस-इकतीस के उन्नत राष्ट्रीय उठान की जिन्दगी है। उसके बाद की, या आज की नही। उसके बाद तो जिन्दगी के मिले-जुले सपने टूटते ही गये। वह जातियों का सामान्य हेल-मेल और आदर्शों की एकता खत्म ही होती गयी "

"सन् बीस के हिन्दुस्तान को अपनी आंखो के सामने जरा लाइये। फिर भी जीवन मे सादगी थी, और अमल में सच्चाई, एक-दूसरे में विश्वास। हां, मुट्ठी भर अमन-सभा वाले भी थे तब, और समाज में सरकारी सफेदपोशों की भी कुछ अहमियत थी। महन्तो को तब भी चढ़ावा चढता था, और रिश्वतखोरी भी लोग लेना-देना जानते ही थे। अकाल भी पडते थे; और सामन्तो के लिए पतुरियो का बाज़ार भी था ही। मगर तब होली या मोहर्रम के आते ही, या कही ज़ोर का हल्ला होते ही, मध्यवर्ग का दिल धुक-धुक नही करने लगता था, कि देखो क्या हो। हफ्तों, बल्कि महीनो से किस शौक के साथ त्यौहारों का इन्तज़ार रहता था, हिन्दू-मुसलमान सबको। आखिर मेला तो मेला, जिसमें सब शरीक, और बरस-बरस के त्यौहार, सभी की मुरादो के दिन। फिर क्यो न हिल-मिलकर अच्छी तरह सारे पर्व मनाये जायें ·· और फिर उन दिनो के कॉंग्रेस के जलसे, जिनमें पहली बार, सचमुच 'जागा देश हमारा'—समूचा भारत। देश का पहला, सच्चा, भरा-पूरा राष्ट्रीय उठान, जैसे अल्हड़ जवानी मे पहला कदम कोई रखे!"

लेखक ने इससे यह नतीजा निकाला है कि सुभद्राकुमारी चौहान की कविता के स्वर में राष्ट्रीय जीवन की प्रारम्भिक एकता और विश्वास की प्रतिध्वनि है लेखक की शैली में उर्दू-फारसी शब्दो का बहुत प्रयोग है, यह इस उदाहरण से आपको स्पष्ट हो गया होगा। लेकिन 'दोआब' के लेखक की भाषा में उर्दू शब्द हिन्दी-संस्कृत शब्दो के साथ ऐसे घुल-मिलकर बैठ जाते है कि उनके अपने लगते है और

शैली में एक विशेष मिठास भी भर देते है। लेखक का हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है, इतना तो स्पष्ट है ही।

इस कारण 'दोआब' की विशेषता यह है कि इसके कई निबन्धो मे लेखक ने उर्दू काव्य और उर्दू के कुछ चोटी के लेखको की रचनाओ का परिचय हिन्दी-पाठकों को दिया है। मीर, सौदा, गालिब, इकबाल और जोश की नज्मे सुनकर यो तो कट्टर हिन्दीवादी भी झूम झूम जाते है, लेकिन देश मे फैली साम्प्रदायिक भावना ने अधिकतर हिन्दी-पाठकों के मन मे यह धारणा बैठा दी है कि उर्दू की शायरी में विशेषकर, और उर्दू-साहित्य मे आमतौर पर 'गुलो-बुलबुल' और 'इश्को-मुहब्बत' का ही अतिरंजित चित्रण रहता है, जीवन की दूसरी गम्भीर और ठोस समस्याओ की ओर नवाबो और बादशाहो के विलासपूर्ण दरबारो में पली उर्दू कविता का कोई रुझान नही होता। शमशेरबहादुर सिह ने अपने निबन्ध इस गलत धारणा का खडन करने के उद्देश्य से नही लिखे, फिर भी बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' से हाली की 'मुसद्दस' की तुलना, इकबाल की कविता मे से निकालकर उनके दार्शनिक विचारो, देशभक्ति की भावना और उनके प्रकृति-चित्रण का विवेचन और अन्य उर्दू कवियो और कवयित्रियो की प्रवृत्तियो का अध्ययन तथा कृष्णचन्द्र की प्रारम्भिक कहानियो में से प्राप्त रोगी समाज की झाँकियाँ इस धारणा का खडन करने के लिए पर्याप्त है। लेखक ने उर्दू-काव्य के अध्ययन इस उद्देश्य से पेश किये है कि हिन्दी-लेखक और कवि अपने सार्वदेशिक दायित्व को पहचाने, उनकी वाणी में वही ओज और सार्वजनीनता आये, जो एक सीमा तक उर्दू-काव्य में मिलती है। इस तथ्य को पाठकों के मन तक पहुँचाने में लेखक सफल हुआ है, इसमे सन्देह नही।

यहाँ तक तो लेखक से सम्भवतः सभी पाठक कुछ-न-कुछ सहमत होंगे। लेकिन मुक्त-छन्द और 'तार-सप्तक' नाम की पुस्तक मे संग्रहीत सात नये कवियो की उन्होने जो आलोचना की है उससे सम्भवतः सभी पाठक सहमत न हो सकेंगे, मै भी सहमत नहीं हूँ। क्योकि हिन्दी में प्रयोगवाद के नाम पर जो कविता इस बीच हुई है उसने सर्वत्र ही हिन्दी-काव्य के लिए नये विकास-पथ प्रशस्त किये है—ऐसा नही कहा जा सकता। वस्तुतः नयी प्रयोगवादी कविता 'प्रयोग के लिए प्रयोग' का रूप धारण करती जा रही है, और उसमें न केवल विशृंखलित मानस की झाँकी हमे मिलती है, बल्कि अक्सर विचार-वस्तु इतनी नगण्य होती है कि ऐसी कविताएँ चमत्कारपूर्ण वाग्जाल या दुरूह अभिव्यंजना मात्र होकर रह जाती है। छायावादी कविता में जो भाव-तन्मयता और विचार-वस्तु थी, वह भी इन कविताओ मे साधारणतया नहीं पायी जाती—जिससे उनमें प्रेषणीयता का गुण विरल ही होता है। ऐसी दशा में प्रयोग-वादी कविता को ह्रास का सूचक माने या प्रगति का, इसमें साधारण पाठक के मन में

तो अधिक सन्देह नहीं है, वैसे शमशेरबहादुर सिंह ने उसे काव्य का एक सीमा तक स्वस्थ अंग ही माना है। फिर भी लेखक का दृष्टिकोण अत्यन्त संयत है और साहित्य में प्रयोगवाद का इस्तेमाल साहित्यिक प्रतिक्रिया के लिए भी किया जा सकता है—इसके प्रति भी वह सचेत है।

—अक्तूबर १९५१

३४

प्राचीन भारतीय वेश-भूषा

'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' के लेखक है, बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम के डायरेक्टर और प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० मोतीचन्द्र। इस पुस्तक में प्रागैतिहास-काल से लेकर सातवीं शताब्दी (लगभग साढे चार हजार वर्ष) तक के प्राचीन भारतवासियों के वेश-भूषा के विकास-क्रम का 'सूक्ष्मावलोकन' है।

प्राचीन भारत का इतिहास आज भी एक रहस्य के आवरण में ढँका हुआ है। न केवल यह कि हमारे विशाल और प्राचीन देश के अनेक अतीत युगों मे नाना प्रकार के धर्म, सम्प्रदाय, दर्शन, साहित्य, भाषाएँ, जातियाँ, सभ्यताएँ और सस्कृतियाँ देशी-विदेशी प्रभावो के अन्दर फलती-फूलती और मुरझाती रही है कि उसके दीर्घ इतिहास के खंड रूपो को एकत्र करके उसका एक समन्वित और समग्र रूप उपस्थित करना किसी भी इतिहासकार के लिए दु:साध्य है, बल्कि यह भी एक कठिनाई है कि अभी तक हमारे इतिहास के सहस्रो वर्ष अन्धकार में डूबे हुए है। खोजो से प्रमाणरूप में जितनी सामग्री प्राप्य हो सकी है, वह नगण्य है। इसलिए प्राचीन इतिहास के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करने वाले विद्वानो का कार्य किसी भी रूप मे कम कठिन या कम महत्त्व का नही है। इस दृष्टि से देखने पर डा० मोतीचन्द्र का यह प्रयास स्तुत्य है जिसके द्वारा उन्होंने केवल प्राचीन महाकाव्यो और उपन्यास ग्रन्थों में आये वर्णनो के आधार पर ही नही बल्कि पुरातत्व की खोज से प्राप्त मूर्तियो, स्थापत्य, चित्रो और सिक्कों का आश्रय लेकर प्राचीन भारतीय वेश-भूषा का विकास-क्रम प्रस्तुत किया है। इससे पुस्तक की प्रामाणिकता बढ़ गई है।

प्राचीन भारत के लोग अध्यात्म और दर्शन की गूढ़ तात्विक उधेड़-बुन में पड़े रह कर धर्म और मोक्ष की अमूर्त्त कल्पनाओ के सहारे ही नहीं जीते थे बल्कि अपने जीवन को पूर्ण बनाने के लिए अर्थ और काम की व्यवस्था मे भी पूरे उत्साह से लगते थे, अर्थात् वे 'जीवन और उसके आधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे।' विद्वान् लेखक ने भूमिका मे इस तथ्य का उल्लेख किया है और पुस्तक से तो यह प्रमाणित है ही।

यही कारण है कि लोगो की रुचियाँ निरन्तर बदलती रही और उनकी वेश-भूषा में उनके अनुरूप ही परिवर्तन होते रहे। विदेशियो के संसर्ग से भी वेश-भूषा में अक्सर परिवर्तन हुए, कभी-कभी विदेशियों का अनुकरण भी किया गया, लेकिन अन्ततः उनसे उधार ली गई वेश-भूषा भी अपने देश के जलवायु के अनुरूप बदलकर

भारतीय बनती गई। प्राचीन भारतीय वेश-भूषा के विकास-क्रम का यह इतिहास रोचक और सजीव है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह विकास परिवर्तन का सूचक है, उन्नति का सूचक नहीं, क्योकि किसी युग में यदि कला-कौशल और धन-धान्य अधिक रहा तो उस युग में शृंगार या प्रसाधन की विधियाँ भी अधिक परिमार्जित, सुरुचिपूर्ण और कलात्मक रहीं। परन्तु यदि उसीके परवर्तीकाल में सामाजिक जीवन विशृंखलित या अ-केन्द्रित हो गया तो उसके साथ ही कला-कौशल और उच्च वर्गों से लेकर सर्वसाधारण तक की रुचियाँ भी हीन और रुक्ष बन गई। शान्तिपूर्ण युगो और अशान्ति और युद्ध-ग्रस्त युगो की वेश-भूषा में भी ऐसे ही परिवर्तन आते रहे और कभी धर्म का प्रभाव लोगो की वेश-भूषा पर पड़ा तो कभी लोगो की वेश-भूषा से धार्मिक सम्प्रदाय प्रभावित हुए और उनके अनुयायियो ने अधिक साज-शृंगार युक्त वेश-भूषा अपना ली। कहने का तात्पर्य यह कि प्राचीन भारत में भी आज की ही तरह सामाजिक जीवन से लोगों की रुचियाँ प्रभावित और परिवर्तित होती रहती थी और सामाजिक जीवन कालान्तर मे लोक-रुचियों से प्रभावित होता रहता था। वेश-भूषा के विकास-माध्यम से लेखक ने प्राचीन सामाजिक जीवन और प्राचीन लोक-रुचि की परस्परिता के सूत्र भी खोज निकाले है, और यह लेखक की वैज्ञानिक सूझ-बूझ का प्रमाण है।

लेखक ने इस विकास-क्रम का दस अध्यायो में अंकन किया है। प्रागैतिहासिक युग, अर्थात् मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की पाँच-छै हज़ार वर्ष पुरानी सभ्यता से शुरू करके लेखक ने वैदिक युग, महाजानपद और शैशुनाग युग, मौर्य, शुंग और शक सात-वाहन काल को लिया है। इसके पश्चात् उन्होने ईसवी पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी के आरम्भ तक के साहित्य मे वर्णित वेश-भूषा, गधार, मथुरा और दक्षिण की कला में व्यक्त वेश-भूषा, तीसरी सदी से सातवीं सदी तक के साहित्य में वर्णित भारतीय वेश-भूषा और अन्त में मूर्त्तियो और चित्रो में व्यक्त गुप्त युग की वेश-भूषा का वर्णन किया है। पुस्तक यहीं समाप्त हो जाती है। परन्तु इससे तो पुस्तक के विषय की व्यापकता का ही कुछ अनुमान किया जा सकता है, उसके अन्दर का विवरण कितना सर्वांगीण और वैविध्यपूर्ण है, और उसमें दिये गये विभिन्न युगों की वेश-भूषा आदि के ४२८ रेखाचित्रो ने इस विवरण को कितना मूर्त्त और बोध-गम्य बना दिया है, इसका अनुभव तो पुस्तक को पढकर ही किया जा सकता है। फिर भी इस सम्बन्ध में दो-तीन बातें कहना उचित होगा।

मोहेनजोदड़ो की सभ्यता के सम्बन्ध में कोई साहित्य उपलब्ध नही है, अतः उसकी समाज-व्यवस्था कैसी थी, उसमें वर्ग-विभाजन का रूप क्या था, और उसके अनुसार विभिन्न वर्गों के पहरावे में क्या भेद था, यह सब अनिश्चित है। उनके वस्त्र

भी नाम-मात्र के होते थे। वैदिक सभ्यता से अधिक उन्नत सभ्यता होने पर भी ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग नंगे ही रहते थे। लेकिन आर्यों के समय से अर्थात् वैदिक युग से वर्ग-विभाजन का प्रभाव उनकी वेश-भूषा और प्रसाधन में भी परिलक्षित होने लगता है। लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रत्येक युग की वेश भूषा में आये इस वर्ग-भेद का उल्लेख किया है कि राजा, उच्च वर्ण के लोग, उच्च पदाधिकारी, राज-कर्मचारी, दूत, लेखक, साधू, साध्वियाँ, बच्चे, स्त्रियाँ, नर्तक-नर्तकियाँ, वादक, घुड़सवार, सिपाही, शिकारी, द्वारपाल, राज-भृत्य, दासियाँ, विदूषक, साधारण जन, ग्रामीण और दस्तकार आदि कैसे-कैसे वस्त्र पहनते थे। तात्पर्य यह कि किसी एक युग की वेश-भूषा का यह अर्थ कदापि नहीं कि राजा से लेकर रंक तक एक ही प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। इस प्रकार इस पुस्तक को पढने से एक व्यापक 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' शीर्षक के अन्तर्गत असंख्य प्रकार के वस्त्रो का चल-चित्र-सा हमारी आँखों के आगे मूर्तिमान् हो जाता है, और यह विचार कि यह सब स्वयं हमारे अपने इतिहास की कहानी है, इस महान् अतीत से हमारा सम्बन्ध जोडकर हमारे मन में एक नया ही आत्मगौरव का भाव जगाता है। हमारा देश कभी भौतिक सस्कृति और कला की उन्नति में इतने ऊँचे शिखरो पर चढ़ा और हमारे पूर्वज कभी जीवन को सुन्दर, अलकृत और कला-पूर्ण बनाने के लिए इतना प्रयत्न करते थे—यह चेतना हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा जगाता है। यह बात कि राजाओ के वस्त्र रेशमी किम्खाब के होते थे और साधारण जनों के सूती या पेड़ो की छाल के—यह इस चेतना को कुठित नही करती; क्योकि हम जानते है कि उस समय समाज वर्ग-व्यवस्था के माध्यम से ही उन्नति कर सकता था और फिर यह सारा कृतित्व साधारण श्रमजीवी दस्तकारो का ही था। वह सभ्यताएँ और राज-व्यवस्थाएँ मिट गईं जिन्होंने इन सुन्दर वेश-भूषाओ को पैदा किया था, लेकिन उनमें जो कुछ जीवत और सुन्दर था, वह उन युगों की देन के रूप में आज भी सुरक्षित है। प्राचीन भारत से हमारी यही प्राप्ति है, और डा० मोतीचन्द्र ने इस देन का विवरण एक ही पुस्तक मे एकत्र करके वास्तव मे देश की अपूर्व सेवा की है।

कहा जा सकता है कि लेखक ने विस्तारपूर्वक प्रत्येक युग की रुचियों का विश्लेषण करके उनके सामाजिक कारण क्यो नही खोजे, अर्थात् क्यो किसी युग में शिरोवस्त्र अत्यन्त भारी-भरकम और अलंकृत होता था और किसी में सूक्ष्म और सादा? देश के विभिन्न भागों में बसने वाले जनपदो की अपनी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों का उनकी वेशभूषा पर क्या प्रभाव पडा, इसका विवेचन भी पुस्तक में नहीं है। परन्तु मै इन खामियो को लेखक का दोष नही मानता, क्योकि सभवतः इस प्रकार के विशिष्ट अध्ययन के लिए अभी तक पर्याप्त सामग्री प्राप्त नहीं है।

—अक्तूबर १९५१